सत्य-समाज-ग्रन्थमालाका दूसरा पुष्प

जैनधर्म-मीमांसा

प्रथम भाग

लेखक—

दरबारीलाल सत्यभक्त

साहित्यरत्न, न्यायतीर्थ

प्रकाशक—

सत्यसमाज-ग्रन्थमाला कार्यालय, बम्बई

फाल्गुन, १९९२ वि०

मार्च, १९३६

मूल्य एक रुपया

प्रकाशक—

दरबारीलाल सत्यभक्त

सत्य-समाज-ग्रन्थमाला, जुबिली बाग,

तारदेव, बम्बई

मुद्रक—

र० दि० देसाई

न्यू भारत प्रिन्टिंग प्रेस,

गिरगांव बम्बई नं० ४.

प्रस्तावना

चार वर्षसे ऊपरकी बात है एक श्रीमान सज्जनने जैनधर्मके विषयमें मुझसे कुछ प्रश्न पूछे। मैंने उनका उत्तर साम्प्रदायिक दृष्टिसे न देकर एक स्वतंत्र विचारककी दृष्टिसे दिया। इससे वे बहुत प्रभावित हुए। उनको इसमें कुछ नूतनता, हृदयङ्गमता, सन्तोषप्रदताके दर्शन हुए, इसलिये उन्होंने पूछा कि आप अपने ऐसे सब विचार लिपिबद्ध क्यों नहीं करते ? मैंने कहा—मैं अपने विचारोंपर और मनन करना चाहता हूँ। पाँच वर्ष बाद प्रकाशित करनेका विचार है।

'पाँच वर्ष!' उन्होंने खेद-मिश्रित आश्चर्यके स्वरमें कहा—यह तो बहुत लम्बा समय है। इतना समय आप व्यर्थ न खोइये। अपने विचारोंको आप, निश्चित रूप देकर नहीं, विचार्यमाण-रूप देकर प्रकाशित कीजिये। इसपर जो विद्वानोंकी सलाह आवे अथवा विरोध किया जाय उसपर पीछेसे विचार करके आप फिर इसे निश्चित रूप देना।

उनकी यह सलाह मुझे पसन्द आई। कुछ महीने बाद 'जैन धर्मका मर्म' शीर्षक लेख-माला सत्य-सन्देशमें—जो कि उस समय जैनजगत्के नामसे निकलता था—लिखना शुरू किया। तीसरा लेखांक निकलते ही विरोधका डिंडिम बजना शुरू हो गया। बड़े बड़े आसन प्रकम्पित हुए। पुराणपंथियोंकी तो बात ही क्या किन्तु जो लोग, सुधारक कहलाते थे, उदारताका दम भरते थे उनको भी वह लेखमाला सहन न हुई। बहिष्कारकी नीतिका विरोध करनेवाले भी बहिष्कारपर उतारू हो गये। परन्तु ऐसे विरोधोंकी मैंने कभी पर्वाह की नहीं, करता नहीं, भविष्यमें करूँगा नहीं। हाँ, जिनने युक्तियोंके नामपर कुछ लिखा उनका उत्तर मैंने अवश्य दिया। इसके लिये 'विरोधी मित्रोंसे' शीर्षक लेखमाला भी चालू की। जो अब भी लिखी जा रही है और जिसमें विरोधी आक्षेपोंका समाधान किया जाता है।

'जैनधर्मका मर्म' जितना मैं समझता था उससे कहीं लम्बा हुआ। वह साढ़े तीन वर्ष तक लिखा गया। उस समय भी वह पूर्ण हुआ नहीं, पूर्ण कर दिया गया। जिस समय लेखमाला लिखना शुरू किया था उस समय भी मेरा हृदय निःपक्ष था, परन्तु लेखमालाके लिये विचार-सागरमें जो डुबकियाँ लगाईं उनसे रहा-सहा मैल भी धुल गया। अब नामका भी पक्ष उड़ गया। हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई सभी 'अपने' मालूम होने लगे। इसका फल

हुआ ' सत्य-समाज ' की स्थापना जो कि सर्व-धर्म-समभाव, सर्व-जाति-समभाव, पूर्ण समाज-सुधारकता और विवेककी नींवपर प्रतिष्ठित है ।

प्रस्तुत लेखमाला भी सत्य-समाजके साहित्यका एक अंग बन रही है । यद्यपि अभी तक इसका नाम ' जैनधर्मका मर्म ' था परन्तु इतनी विशाल-काय और आलोचनात्मक लेखमालाके लिये ' मर्म ' शब्द ठीक नहीं मालूम हुआ इसलिये इसका नाम ' जैन-धर्म-मीमांसा ' रख दिया गया । इसके तीन खंड होंगे । उनमेंसे यह पहिला खंड है; ऐसे ऐसे दो खंड और हैं । इस प्रकार इसका कलेवर हजार पृष्ठोंसे अधिकका होगा ।

इस खंडमें तीन अध्याय हैं । पहिला अध्याय तो प्रायः धर्म-मीमांसाके समान ही है । तीसरा अध्याय सम्यग्दर्शनका है जिसमें सम्यग्दर्शनके सभी अगोंको लेकर उसकी सम्प्रदायातीत वास्तविक और मौलिक व्याख्या विस्तारसे की गई है । दूसरा अध्याय ऐतिहासिक है । सबसे पहिले इसी अध्यायकी बातोंपर जैन-समाजमें क्षोभ फैला था । अब पुस्तकाकारमें जो परिवर्तन किया गया है उससे क्षोभ बढ़नेकी ही सम्भावना है । पहिले तो मैंने म० पार्श्वनाथको जैनधर्मका संस्थापक सिद्ध किया था परन्तु अब मैंने म० महावीरको ही जैन-धर्म-संस्थापक माना है । इस विषयमें मेरी जो युक्तियाँ हैं, वे सब इस पुस्तकमें मिलेंगी । इसके अतिरिक्त विरोधियोंके जो आक्षेप थे, जिनका उत्तर मैं जैनजगत्में दे चुका हूँ, उनमेंसे खास खास आक्षेपोंका उत्तर मैंने इस पुस्तकमें शामिल कर दिया है । साथ ही ऐतिहासिक प्रकरणसे सम्बन्ध रखनेवाले कुछ ऐसे आक्षेपोंका उत्तर भी यहाँ शामिल किया गया है जिनका उत्तर सत्य-संदेशमें अभी तक नहीं दिया गया है ।

आगेके भागोंमें ज्ञान और चारित्रकी चर्चा है । इस विषयमें इतना अधिक सुधार किया गया है कि उसे क्रान्ति कह सकते हैं । सर्वज्ञताकी जिस व्याख्याने सम्प्रदायोंमें अहंकार, द्वेष, अन्धश्रद्धा और संकुचितताका राज्य जमा दिया है, विकास और उन्नतिके मार्गमें जिसने सबसे बड़ा अडंगा डाला है, उसकी निस्सारता अनेक युक्तियोंके आधारपर विस्तारसे की गई है । इसके अतिरिक्त ज्ञानके अन्य भेदोंकी भी विस्तृत और सूक्ष्म मीमांसा की गई है । चारित्र कांडमें आचार-शास्त्रके नियमोंमें भी बहुत कुछ क्रान्ति की गई है । आचार-शास्त्रके जो नियम ढाई हजार वर्ष पहले म० महावीरने, उस समयकी परिस्थितिको देखते हुए, समाजके सामने रक्खे थे, वे एक तो आज विकृत हो गये हैं दूसरे अगर विकृत न हुए होते तो भी वे आजके लिये उपयोगी नहीं हो सकते थे । देश-काल

बदलनेपर आचार-शास्त्रके नियम भी बदलना पड़ते हैं। तदनुसार, यथासाध्य जैन पारिभाषिक शब्दोंके रखते हुए आचार-शास्त्रमें परिवर्तन किया गया है।

जैनधर्मकी मीमांसा करनेके बाद अब मैं निश्चित रूपमें कह सकता हूँ कि इस तरहकी मीमांसा अगर अन्य धर्मोंकी की जाय तो धर्मोंमें नाममात्रका अन्तर रह जायगा। उनमें विरोधका पता ही न रह जायगा। अन्धश्रद्धा, अहंकार आदि भी निर्मूल हो जाँयगे।

मैं अपने जीवनमें जो साहित्यसेवा करना चाहता हूँ उसका एक बड़ा भाग इस प्रकारकी मीमांसाओंका होगा। वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, क्रिश्चियानिटी, इसलाम आदिकी भी जब ऐसी मीमांसा हो जायगी तब समाजको प्रत्येक धर्मके समझनेमें सुभीता हो जायगा। सत्यसमाज-ग्रंथमालामें इस प्रकारके साहित्यको निकालनेकी अधिकसे अधिक कोशिश की जायगी।

इन सब कार्योंके लिये सत्यसमाज-ग्रंथमालाके पास जो आर्थिक शक्ति चाहिये वह बिलकुल नहीं है। प्रथम पुष्प (धर्ममीमांसा प्रथम भाग) की प्रस्तावनामें मैं सूचित कर चुका हूँ कि श्रीमान् सेठ सुगन्धचंद्रजी लुणावत धामनगाँवकी २५०) की और श्रीमान् सेठ राजमलजी ललवानी जामनेरकी २५०) की सहायतासे इस ग्रंथमालाका प्रारम्भ हुआ है। ये रकमें तो खर्च हो चुकीं, थोड़ा बहुत बिक्रीका जो मूल्य आया वह भी खर्च हो चुका। इससे अधिक भी खर्च हुआ है जिसे संस्थाके ऊपर ऋण समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रकाशित होनेके लिये जितना साहित्य पड़ा है उसके लिये २०००) रुपयोंकी जरूरत है। ज्यों ज्यों सहायता मिलती जायगी त्यों त्यों आगेके पुष्प तैयार होते जायँगे। इस प्रकारकी जब दस बारह पुस्तकें निकल जाँयगीं तब, सम्भव है कि, ग्रन्थमाला अपने पैरोंपर खड़ी हो जाय। यह ग्रंथमाला किसी व्यक्तिकी सम्पत्ति नहीं है, लेखन आदिके लिये भी इसे कुछ पारिश्रमिक नहीं देना पड़ता, इसलिये सस्तेमें ही इसके साहित्यका प्रचार किया जायगा। फिर भी अगर थोड़ी-बहुत इसमें आमदनी हो गई तो वह इसी ग्रंथमालामें लगती जायगी। इसलिये प्रत्येक पाठकका कर्तव्य है कि वह इस ग्रंथमालाको, जिस तरह बने उस तरह, सहायता पहुँचानेका प्रयत्न करे।

इस पुस्तकके प्रूफ-संशोधन आदि प्रकाशन-कार्यमें श्रीमान् पं० नाथूरामजी प्रेमी और भाई हेमचंद्रजी मोदीसे बहुत सहायता मिली है और यह कार्य उन्होंने घरके कार्यकी तरह किया है। इसके लिये उन्हें जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है।

दरबारीलाल सत्यभक्त

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

सत्यं शिवं सुन्दरम्

जैनधर्म-मीमांसा

प्रथम अध्याय

धर्मका स्वरूप

विविधताका रहस्य

धर्म क्या है ? धर्म-संस्था जगतमें क्यों आई ? धर्मोंमें परस्पर भिन्नता क्यों है ? इत्यादि अनेक प्रश्न प्रत्येक विचारशील हृदयमें उठा करते हैं। और जब वह यह देखता है कि धर्मसरीखी पवित्र वस्तुके नामपर खूनकी नदियाँ बही हैं, मनुष्यकी और मनुष्यताकी दिन-दहाड़े हत्या हुई है, तब उसका हृदय संतापसे जलने लगता है और कभी कभी उसे धर्मसे घृणा हो जाती है। परन्तु हम धर्मसे घृणा करें, इसीसे धर्म नष्ट न हो जायगा। अगर हम अपने समयकी धर्म-संस्थाओंको नाश करनेका प्रयत्न करें, तो हमारा यह प्रयत्न करीब करीब असफल ही होगा। धर्म किसी न किसी रूपमें जीवित ही रहेगा। मनुष्यके पास जब तक हृदय है और उसमें

अच्छी और बुरी वृत्तियाँ हैं तब तक उसे धर्मकी आवश्यकता रहेगी। इसलिये हमारा काम यही होना चाहिये कि धर्मका संशोधन करें। इसके लिये हमें धर्मका मूलस्वरूप ढूँढ़कर, जगत्में धर्म क्यों पैदा होते हैं इस बातको समझकर, सब धर्मोंका समन्वय करते हुए धर्मकी मीमांसा करनी चाहिये।

प्रत्येक धर्म इसी बातकी दुहाई देता है कि मैं सबको दुःखोंसे छुड़ाऊँगा। इससे मालूम होता है कि दुःखोंको दूर करनेका जो मार्ग है उसे ही धर्म कहते हैं। यह तत्त्व जिसमें जितना अधिक पाया जायगा वह धर्म उतना ही अच्छा होगा। परन्तु इस तत्त्वका कोई ऐसा एक रूप नहीं है जो सब समय और सब जगहके सब व्यक्तियोंके लिये कल्याणकारी कहा जा सके। इसलिये कोई भी धर्म सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे उपयुक्त नहीं हो सकता। अगर उसको उपयुक्त बनाये रखना है, तो समय समयपर उसकी मीमांसा करते हुए उसमें ऐसा परिवर्तन करते रहना चाहिये जिससे धर्म-संस्थाका मूल उद्देश्य सिद्ध हो।

अगर हम प्रत्येक धर्मकी, उदारता और विनयके साथ मीमांसा करें और उसमें समयानुसार परिवर्तन कर लें, तो हमें आश्चर्यपूर्वक स्वीकार करना पड़ेगा कि दुनियाके सभी धर्म एक दूसरेसे बिलकुल मिले हुए हैं। इतना ही नहीं बल्कि जिन्हें हम भिन्न भिन्न धर्म समझते हैं, वे एक ही धर्मके जुदे जुदे पहलू हैं। धर्मके भीतर जो अविश्वसनीय तत्त्व आ गये हैं वे भोले लोगोंको समझानेके लिये रक्खे गये हैं, धर्मके मर्मका उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। उन बातोंमें परिवर्तन करनेसे धर्मकी कुछ भी क्षति नहीं होगी।

जिस प्रकार वर्षाका शुद्ध जल दो तरहका नहीं होता, किन्तु पात्रोंके भेदसे उसमें भेद हो जाता है, उसीप्रकार धर्म दो तरहका नहीं होता; किन्तु पात्रोंके भेदसे या, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके भेदसे उसमें भेद होता है। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका भेद, विरोधका कारण नहीं होता; इतना ही नहीं बल्कि इस प्रकारकी द्विविधताको हम दो धर्म भी नहीं कह सकते। वे एक ही धर्मके अनेक रूप हैं। दुनियामें अनेक धर्म हैं वैदिक,—जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम आदि। परन्तु जिस प्रकार इन धर्मोंके सम्प्रदाय हैं, उस प्रकार अहिंसाधर्म, सत्यधर्म, अक्रोधधर्म, विनयधर्म आदिके सम्प्रदाय नहीं हैं। मैं जैन हूँ, तू बौद्ध है, इस प्रकारके धर्माभिमानसे लोग लड़े हैं; परन्तु मैं अहिंसाधर्मी हूँ, तू सत्यधर्मी है, इस प्रकारके धर्माभिमानसे कोई नहीं लड़ा। हर एक धर्म अपनेको न्यूनाधिक रूपमें अहिंसा, सत्य आदिका पोषक कहता है। इससे मालूम होता है कि अहिंसा, सत्य आदि असली धर्म हैं और इनमें विरोध नहीं है। विरोध है उसके विविध रूपोंमें अर्थात् सम्प्रदायोंमें। कहनेका तात्पर्य यह है कि धर्म सुखके लिए है और विविध सम्प्रदाय धर्मके लिए हैं। सम्प्रदाय स्वयं परिपूर्ण धर्म नहीं हैं—वे अहिंसा आदि धर्मोंके लिए हैं। हमने धर्मके लिए उत्पन्न होनेवाले या उसके एक रूपको बतलानेवाले सम्प्रदायोंको धर्म कहा, इसलिए धर्मोंकी विविधताकी समस्या हमारे सामने खड़ी होती है।

जुदे जुदे धर्मोंमें जो हमें परस्पर विरोध मालूम होता है वह अनेकान्त, स्याद्वाद या सम-भावके न प्राप्त करनेका फल है। मैं यह नहीं कहता कि प्रत्येक धर्मका प्रत्येक सिद्धान्त वैज्ञानिक

दृष्टिसे सत्य है। मनुष्य-प्रकृतिका विचार करके हरएक धर्ममें वैज्ञानिक असत्यको स्थान मिला है। परन्तु वह असत्य भी धर्मके लिए ही लाया गया है, अधर्मके लिए नहीं। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए एक उदाहरणमाला उपस्थित करनेकी आवश्यकता होगी।

पहिले ईश्वरकर्तृत्वके विषयको लीजिए।

एक सम्प्रदाय कहता है कि जगत्कर्ता ईश्वर है; दूसरा कहता है कि जगत्कर्ता ईश्वर नहीं है। निःसन्देह इन दोनोंमेंसे कोई एक असत्य है। परन्तु इन दोनों वादोंका लक्ष्य क्या है? ईश्वर-कर्तृत्व-वादी कहता है कि अगर तुम पाप करोगे तो ईश्वर तुम्हें दण्ड देगा, नरकमें भेजेगा; अगर तुम पुण्य करोगे तो वह खुश होगा, तुम्हें सुख देगा, स्वर्गमें भेजेगा। ईश्वर-कर्तृत्वविरोधी-जैन कहेगा कि अगर तुम पाप करोगे तो अशुभ कर्मोंका बन्ध होगा; खाये हुए अपथ्य भोजनके समान उसका तुम्हें दुःखमय फल मिलेगा, तुम्हें बुरी गतिमें जाना पड़ेगा। अगर तुम पुण्य करोगे तो तुम्हें शुभ कर्मोंका बन्ध होगा, खाये हुए पथ्य भोजनके समान उससे तुम्हारा हित होगा, आदि। एक धर्म लोगोंको ईश्वर-कर्तृत्ववादी बनाकर जो काम कराना चाहता है, दूसरा धर्म लोगोंको ईश्वर-कर्तृत्वका विरोधी बनाकर वही काम कराना चाहता है। यहाँ धर्ममें क्या भिन्नता है? भिन्नता उसके साधनोंमें हैं। परन्तु भिन्नता होनेसे विरोध होना चाहिये, यह नहीं कहा जा सकता। विरोध वहाँ होता है जहाँ दोनोंका उद्देश्य एक दूसरेका विघातक हो; परन्तु यहाँ दोनों-का उद्देश्य एक ही है। इसलिये हम इन्हें विरोधी धर्म नहीं कह सकते। उनमेंसे अगर हम ईश्वर-कर्तृत्ववादको वैज्ञानिक दृष्टिसे

असत्य मान लें, तो भी वह अधर्म नहीं कहा जा सकता। जो भावुक हैं उनके लिये ईश्वर-कर्तृत्ववाद अधिक उपयोगी है। वे यह सोचते हैं कि ईश्वरके भरोसे सब छोड़ देनेसे हम निश्चिन्त हो जाते हैं, हममें कर्तृत्वका अहंकार पैदा नहीं होता, पुण्य-पापका विचार रहता है। जो बुद्धिपर अधिक जोर देते हैं, वे तर्कासिद्ध न होनेसे ईश्वरको नहीं मानते। वे सोचते हैं कि ईश्वरको कर्ता न माननेसे हम स्वावलम्बी बनते हैं—हम ईश्वरको प्रसन्न करनेकी कोशिश करनेकी अपेक्षा कर्तव्यको पूर्ण करनेका प्रयत्न करते हैं, हमारे पापोंको कोई माफ़ करनेवाला नहीं है, इस विचारसे हमें पापसे भय पैदा होता है। जिस धर्मने ईश्वरको माना है, उसने भी इसीलिये माना है कि मनुष्य पाप न करे। जिसने ईश्वरको नहीं माना, उसने भी इसीलिए नहीं माना कि मनुष्य पाप न करे। दोनोंका लक्ष्य एक है और दोनों ही प्राणियोंको सुखी बनाना चाहते हैं, और एक अंशमें उन्हें सफलता भी मिली है। इतना ही नहीं, परलोकको न माननेवाले नास्तिकोंने भी परलोकको नहीं माना, उसका कारण सिर्फ़ यही था कि मनुष्य-समाज सुखी रहे। जब परलोकके नामपर एक वर्ग लूट मचाने लगा और भोले भाले लोग ठगे जाने लगे, विवेकशून्य होकर दुःख सहनेको जब लोग पुण्य समझने लगे, तब नास्तिक धर्म पैदा हुआ। इस प्रकार आस्तिकताकी सीमापर पहुँचे हुए ईश्वर-कर्तृत्ववादी और नास्तिकताकी सीमापर बैठे हुए परलोकाभाववादी, अपने अपने धर्मका प्रचार सिर्फ़ इसीलिये करते थे कि मनुष्य निष्पाप बने, एक प्राणी दूसरे प्राणीको न सतावे। यह हो सकता है कि इनमेंसे कोई धर्म कम सफल हो कोई अधिक, कोई अल्पकालिक हो

कोई चिरकालिक; परन्तु यह निश्चित है कि अपने अपने देश-काल-में सब धर्मोंने मनुष्य-समाजको सुखी बनानेकी और समाजके दुःख-मूलक विकारोंको दूर करनेकी चेष्टा की है।

अब हिंसा-अहिंसाके प्रश्नको लीजिये। जैनधर्म और बौद्धधर्ममें अहिंसापर बहुत जोर दिया गया है। परन्तु जिन धर्मोंने हिंसाका विधान किया है, वे अपने समयमें भी इतने ही अनुचित थे जितने आज हैं—यह नहीं कहा जा सकता। जिस समय यहाँ जङ्गलोंकी बहुलता थी, जङ्गली जनवरोंसे कृषिकी रक्षा असम्भव थी, उस समय-पर मनुष्य-समाजकी रक्षाके लिये हिंस्र तथा कृषिविघातक जानवरोंका यज्ञ तथा शिकार आदिसे नाश किया गया, यह अक्षन्तव्य नहीं है। यह बात दूसरी है, कि पीछेसे इस हिंसाकी आवश्यकता न होनेपर भी लोगोंने नामवरीके लिये या व्यसनके लिये ये कार्य किये। आज हज़ारों वर्षसे यहाँ कृषि-कार्य हो रहा है, इसलिये उस समयके कष्ट-की हम कल्पना भी नहीं कर सकते जब लोगोंको कृषि-रक्षाके लिये या आत्म-रक्षाके लिये इस प्रकार हिंसाके विधान करना पड़े। आज यह हिंसा-विधान कई हज़ार वर्षोंसे अनावश्यक है, इसलिये वर्तमानकालकी दृष्टिसे हमें हक है कि हम उसे अनुचित कहें; और अनुचित और पापमें तो सिर्फ़ शब्द-मात्रका अन्तर है।

इस तरह यह हिंसाविधायक धर्म भी एक समयके लिए आवश्यक था। किन्तु हमारा सबसे बड़ा पाप तो यह है कि एक समयके लिए जो आवश्यक था वह सब समयके लिए आवश्यक मान लेते हैं। जिस समय कृषि-कार्य अच्छी तरहसे चलने लगा, जंगली पशु भी पालतू पशु हो गये, यहाँ तक कि हम उनका दूध तक पीने लगे, इस तरह वे हमारे सहयोगी होकर नागरिक बन गये, उस समय-

पर उन मित्रोंकी हत्या करना क्या उचित था ? जब हम उनकी हिंसा किये विना जीवित रह सकते थे, तब क्या हमें उनकी रक्षा न करना चाहिये थी ? क्या यह तामसिकता हमारे अधःपतनका कारण न थी ? यही सोचकर महात्मा महावीर और महात्मा बुद्धने हिंसाके विरुद्ध क्रान्ति की। एक समय जो उचित था या क्षन्तव्य था, दूसरे समयमें वही अनुचित था, पाप था, इसलिये उसके दूर करनेके लिए जो क्रान्ति हुई वह धर्म कहलाई।

हिंसा-अहिंसाके प्रश्नके साथ गो-वधके प्रश्नको ले लीजिये। निःसन्देह किसी भी निरपराध प्राणीकी हत्या करना बड़ा भारी पाप है और हिन्दुस्थानमें गोवध करना तो बड़ेसे बड़ा पाप है। परन्तु मुसलमान धर्म जब और जहाँ पैदा हुआ वहाँकी दृष्टिसे हमें विचार करना चाहिए। महात्मा मुहम्मदके ज़मानेमें अरबकी बड़ी दुर्दशा थी। मूर्तियोंके नामपर वहाँ मनुष्य-वध तक होता था। इसको दूर करनेके लिए उनने मूर्तियोंको हटा दिया। "न रहेगा बाँस, न बजेगी बाँसुरी"—न मूर्त्तियाँ होंगी, न उनके नामपर बलि होगा। परन्तु इतनी विशाल क्रान्ति, लोग सह नहीं सकते थे। पात्रताके अनुसार ही सुधार होता है। इसलिए मनुष्य-बलि बन्द हुई और गो-वध आया। हिन्दुस्तानमें गो-वंश कृषिका एक मात्र सहायक होनेसे यहाँ उसका मूल्य अधिक है। इसीलिए गो-माता सरीखे शब्दकी उत्पत्ति यहाँ हुई है। परन्तु अरबमें कृषिके लिए गो-वंशकी आवश्यकता नहीं है—वहाँ ऊँटोंसे खेती होती है। यदि बलि आदिको रोकनेके लिए मुहम्मद साहबने मूर्त्तियाँ हटा दीं, मनुष्य-वध रोकनेके लिए गो-वधका विधान किया, तो 'सर्वनाश उपस्थित होनेपर आधेका

त्याग कर देना चाहिये* ' इस नीतिके अनुसार उस कालको देखते हुए यह अनुचित कहा नहीं जा सकता। जैनशास्त्रोंमें एक कथा प्रचलित है कि मुनिके उपदेश देनेपर भी जब एक भील किसी तरहका मांस छोड़नेको राज़ी न हुआ, तो उन्होंने उससे काक-मांसका ही त्याग कराया। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य मांसोंका विधान कराया गया; सिर्फ़ शक्यानुष्ठानकी दृष्टिसे यह बात भी उचित समझी गई। इस दृष्टिसे मुहम्मद साहबके समयमें अरबकी स्थितिपर विचार करके इस्लामकी आलोचना करना चाहिये। परन्तु, भूल है उनकी, जो मुहम्मद साहबके अनुयायी होकरके भी मुहम्मद साहबकी दृष्टिपर विचार नहीं करना चाहते। शोधा हुआ संखिया असाधारण बीमारीमें दवाईका काम करता है; परन्तु बीमारीकी परिस्थिति हट जानेपर उसे कोई अपना भोजन बना ले, तो बीमार हो जायगा। ऐसी हालतमें हम उस वैद्यको बुरा न कहेंगे जिसने बीमारीके अवसरपर संखिया खिलाया; बुरा कहेंगे हम उन्हें, जिनने बीमारीके हट जानेपर भी संखियाको सदाके लिए भोजन बना लिया। मुहम्मद साहबके अनुयायी, जो कि भारतवर्षमें रहते हैं, अगर मुहम्मद साहबकी दृष्टिसे काम लें तो वे कभी गो-वधका विधान न करें। मनुष्य-वधके युगमें पशु-वधका विधान क्षन्तव्य कहा जा सकता है; परन्तु जिस देशमें वनस्पतिके स्पर्शमें भी घोर हिंसा माननेवाले हों उस देशमें पशु-वधके विधानकी क्या आवश्यकता है? वहाँ तो यह पाप है। अगर हम इस बातको समझें,

---

* सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पंडितः।

तो इस्लामियोंके वर्तमान कार्योंको अनुचित समझते हुए भी इस्लामको सहन कर सकेंगे।

अब मैं वैदिक धर्मकी एक बात लेता हूँ। वैदिक धर्मकी वर्णाश्रम-व्यवस्था जैनधर्मको मान्य नहीं है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं कि वैदिकधर्मका पक्ष असत्य है या जैनधर्मका पक्ष असत्य है। वैदिक-धर्मकी वर्णाश्रम-व्यवस्थाको समझनेके लिये हमें अपनी दृष्टि कई हज़ार वर्ष पहले ले जाना चाहिये। हम देखते हैं कि उस समय आर्योंको कृषि और सेवाके लिये आदमी नहीं मिलते—सभी आदमी अयोग्य रहते हुए भी पंडिताई या सैनिक जीवन बिताना चाहते हैं। आवश्यक क्षेत्रमें आदमी नहीं मिलते; अनावश्यक क्षेत्रमें इतने आदमी भर गये हैं कि बेकारी फैल गई है। हरएक आदमी महीनेमें तीस बार अपनी आजीविका बदलता है। वह किसी भी काममें अनुभव प्राप्त नहीं कर पाता। ऐसी हालतमें वर्ण-व्यवस्थाकी योजना होती है। इससे अनुचित प्रतियोगिता बन्द होकर आजीविका-के क्षेत्रका यथायोग्य विभाग होता है। परन्तु इसके बाद महात्मा महावीरके ज़मानेमें हम देखते हैं कि वर्णोंने जातियोंका रूप पकड़ लिया है। पशुओंमें जैसे हाथी घोड़ा आदि जातियाँ होती हैं, उसी प्रकार आजीविकाकी सुविधाके लिये किया गया यह सुप्रबन्ध, मनुष्य-जातिके टुकड़े टुकड़े कर रहा है। पारस्परिक सहयोगके लिए की गई वर्णव्यवस्था परस्परमें असहयोग और घृणाका प्रचार कर रही है। सिर्फ़ आजीविकाके क्षेत्रके लिये किया गया यह विभाग रोटी-बेटी-व्यवहारमें भी आड़े आ रहा है। इसके कारण दुरा-चारी ब्राह्मण सदाचारी शूद्रकी पूजा नहीं करना चाहता, किन्तु

उसे पददलित करना चाहता है ! तब वर्ण-व्यवस्थाका विरोध करना परम धर्म हो जाता है, क्योंकि यह व्यवस्था अब दुःखदायी हो जाती है। यही बात आश्रम-व्यवस्था की है। जब जीवनकी जिम्मेदारियों-से मुँह छुपानेवाले अपने माता-पिताको रोते छोड़कर भागने लगे, समाज अनुत्तरदायी युवा-साधुओंसे भर गया, तब आश्रम-व्यवस्थाकी आवश्यकता हुई। यह नियम बनाया गया कि हरएक आदमीको पितृ-ऋण चुकाना चाहिये, अर्थात्, माता-पिताकी सेवा करना चाहिये और जिस प्रकार माता-पिताने उसे पालन किया है, उसी प्रकार उसे अपनी संतानका पालन करना चाहिये, पीछे वानःप्रस्थ रहकर सन्यासका अभ्यास करना चाहिये; फिर सन्यास लेना चाहिये। अब आप देखें कि यह व्यवस्था संसारकी भलाईके लिये कितनी अच्छी है ! परन्तु यदि राजकुमार सिद्धार्थ इसी व्यवस्थासे चिपटे रहते, तो वे महात्मा बुद्ध न बन पाते। उस समय जो महात्मा बुद्धके द्वारा समाज और धर्मका संशोधन हुआ वह न हो पाता। इसलिये महात्मा बुद्धने युवावस्थामें ही गृह-त्याग किया। यह भी संसारके कल्याणके लिये बहुत अच्छा हुआ। परन्तु यदि अपवादोंको राज-मार्ग बना दिया जाय, तो इसी कल्याणके कारण अकल्याण भी हो सकता है। जब महात्मा बुद्धने अपने पुत्र राहुलको भी छोटी उमरमें दीक्षित कर लिया, तब उनके पिता महाराज शुद्धोदनने आकर कहा—

"भगवानके प्रव्रजित होनेपर मुझे बहुत दुःख हुआ था, वैसे ही नन्दके प्रव्रजित होनेपर भी। राहुलके प्रव्रजित होनेपर अत्यधिक। भन्ते ! पुत्र-प्रेम मेरी छाल छेद रहा है, छाल छेदकर चमड़ेको छेद

रहा है, चमड़ेको छेदकर मांसको छेद रहा है, मांसको छेदकर नसको छेद रहा है, नसको छेदकर हड्डीको छेद रहा है, हड्डीको छेदकर घायल कर दिया है। अच्छा हो भन्ते! आर्य, मातापिताकी अनुज्ञाके बिना किसीको दीक्षित न करें।"

इसके बाद महात्मा बुद्धने भिक्षुओंको एकत्रित किया और नियम बनाते हुए कहा—

"भिक्षुओ, माता-पिताकी अनुज्ञाके बिना पुत्रको दीक्षित न करना चाहिए; जो करे उसे दुक्कट (दुष्कृत) का दोष है।"

आप देखें कि दीक्षाके मार्गमें यह रुकावट कितनी अच्छी थी! महात्मा महावीरने तो यह रुकावट शुरूसे ही रक्खी। इतना ही नहीं, अपने जीवनमें ही उनने इसका पालन किया। माता-पिताकी अनुज्ञाके बिना वे कई वर्ष रुके रहे। आश्रम-व्यवस्था, महात्मा बुद्धका अपवाद तथा इस विषयमें महात्मा महावीरका प्रारम्भसे और महात्मा बुद्धका राहुलको दीक्षित करनेके बादका मध्य-मार्ग, ये तीनों अपने अपने देश-कालके लिए उपयोगी रहे हैं। इसलिए इन तीनोंमें कुछ विरोध नहीं कहा जा सकता।

अब थोड़ासा विचार द्वैत और अद्वैतपर भी कीजिए। अद्वैतवादी कहता है कि सब जगत्का मूल तत्त्व एक है, द्वैत भावना करना संसारका कारण है। इस प्रकारका विचार करनेवाला मनुष्य, यह मेरा स्वार्थ, वह दूसरेका स्वार्थ, यह विचार ही नहीं ला सकता। वह तो जगत्के हितमें अपना हित समझेगा। जिस वैयक्तिक स्वार्थके पीछे लोग नाना पाप करते हैं, वह वैयक्तिक स्वार्थ उसकी दृष्टिमें न रहेगा। वह निष्पाप बनेगा। द्वैतवादी कहेगा—मूल तत्त्व दो

हैं, मैं आत्मा हूँ और मेरे साथ लगा रहनेवाला पर-तत्त्व पुद्गल जुदा है। मैं इस 'पर' के बन्धनमें पड़कर पराधीन हूँ, दुःखी हूँ, मुझे इस बन्धनको तोड़ना चाहिए। यह समझकर वह शरीरकी अपेक्षा आत्माको मुख्यता देता है, शरीरके लिए कोई पाप नहीं करता। इस तरह द्वैत-भावना उसे निर्विकार बननेको प्रोत्साहित करती है।

इस तरहके बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। उन परसे हमें मालूम होगा कि धर्मको प्राप्त करनेके लिए जो सम्प्रदाय बने हैं, वे जब बने थे तब उस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार किसी उपयोगी—कल्याणकारी—तत्त्वको लेकर बने थे। तभी वे खड़े हो सके। इसलिए मैं इस बातको कहनेका साहस करता हूँ कि सम्प्रदायोंके मौलिक (असली) रूपोंका धर्मके साथ—कल्याणके साथ—कोई विरोध नहीं है।

हाँ, हर एक सम्प्रदायके सिद्धान्तोंका पीछेसे दुरुपयोग होता है। परन्तु इससे हम उन सम्प्रदायोंको बुरा नहीं कह सकते। दुरुपयोग तो अच्छेसे अच्छे तत्त्वका होता है। अहिंसा सरिखे श्रेष्ठ तत्त्वका दुरुपयोग होकर कायरताका प्रचार हुआ है। दीक्षाके नामपर बालक-विक्रय या बालक-चोरी भी होती है, द्वैतके नामपर स्वार्थका ही पोषण हो सकता है, अद्वैतके नामपर सब स्त्रियोंमें अद्वैत भावना रखकर व्यभिचारका पोषण हो सकता है। इसलिए दुरुपयोगको हटाकर हमें हरएक सम्प्रदायके मौलिक रूपपर विचार करना चाहिए और उसी दृष्टिसे उसकी आलोचना करना चाहिए। तब हमें सब सम्प्रदाय अपने अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार अविरुद्ध और अभिन्न मालूम होंगे, और अपनी योग्यतानुसार हम उन सभीसे लाभ उठा सकेंगे।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि अगर इस प्रकार सब धर्मोंको अच्छा साबित करनेकी कोशिश की जायगी, तो अच्छे और बुरेका विवेक ही नष्ट हो जायगा, सब लोग वैनयिक मिथ्यादृष्टि हो जायँगे। परन्तु मेरे उपर्युक्त वक्तव्यमें इस प्रश्नका उत्तर है। मेरे उपर्युक्त वक्तव्यमें सर्व-धर्म-समभावका जो विवेचन किया गया है, उसमें सब धर्मोंको सर्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके लिये अच्छा नहीं बताया है, किन्तु यह कहा गया है कि सब धर्मोंका अपने अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें उपयोगी स्थान है। किस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावमें किस धर्मका कितना उपयोगी स्थान है, इसका निर्णय तो विवेकसे होता है; जब कि वैनयिक मिथ्यादृष्टिके पास विवेक नामकी कोई चीज़ ही नहीं होती।

यह हो सकता है कि एक धर्म अधिक समयके लिये और अधिक प्राणियोंके लिये उपयोगी हो और दूसरा कम हो, परन्तु इससे कोई भी निरुपयोगी नहीं कहा जा सकता। सबका अपना अपना स्थान है। सुईकी अपेक्षा तलवारकी क़ीमत ज्याद: हो सकती है, परन्तु सुईका काम तलवार नहीं कर सकती; अपने अपने स्थानपर दोनों ही ठीक हैं। दोनोंको अपने अपने समयपर उपयोगी समझना एक बात है और स्वरूपमें अविवेक रखना दूसरी बात है। वैनयिक मिथ्यादृष्टि किसी धर्मकी उपयोगिता नहीं समझता, वह तो अविवेकसे सबको एक समझता है। इसलिये वैनयिक मिथ्यादृष्टिमें और सर्व-धर्म-समभावीमें जमीन आसमानसे भी अधिक अन्तर है।

यहाँ दूसरा प्रश्न यह उठता है कि अहिंसा आदि धर्मोंका तत्त्व न्यूनाधिक रूपमें सब धर्मोंमें पाया जाता है, परन्तु विश्वकी समस्याको

सुलझानेके लिये सभी धर्म एक दूसरेसे इतना अधिक विरुद्ध कथन करते हैं कि उन सबका समन्वय करना मुश्किल है। कोई द्वैत मानता है, कोई अद्वैत मानता है; कोई ईश्वर मानता है, कोई नहीं मानता। भला इन सब बातोंका कोई मेल कैसे कर सकता है? और जब इनमेंसे किसी एक धर्मकी बात युक्ति आदिसे विरुद्ध सिद्ध होती हो, तब उस धर्मको असत्य समझते हुए भी सत्यके समान उसका आदर कैसे किया जा सकता है?

निःसन्देह यह एक आवश्यक प्रश्न है; परन्तु इसका कारण है धर्मकी मर्यादाका भूल जाना। हमें यह समझ लेना चाहिये कि धर्म, धर्म है, वह दर्शन नहीं है, भौतिक विज्ञान नहीं है, गणित नहीं है, ज्योतिष नहीं है, इतिहास नहीं है, भूगोल नहीं है। धर्मशास्त्र इन सबका उपयोग करता है, परन्तु ये सब धर्मशास्त्र नहीं हैं। अर्थशास्त्रमें गणितका उपयोग होता है, परन्तु गणित अर्थशास्त्र नहीं कहलाता। काव्यमें व्याकरणका उपयोग होता है, परन्तु व्याकरण काव्य नहीं कहलाता। व्याख्यानके लिये व्याख्यान-भवनका उपयोग होता है, परन्तु व्याख्यान-भवन व्याख्यान नहीं कहलाता। इसी प्रकार धर्मके लिये दर्शनका उपयोग होता है, परन्तु दर्शन, धर्म नहीं कहला सकता। धर्म और दर्शन ये जुदे जुदे शास्त्र[१] हैं। धर्मशास्त्रका काम है कि प्राणियोंको सुखी बननेका मार्ग बतलाये; जब कि दर्शनका काम है कि विश्वके रहस्यको प्रकट करे। ये सब शास्त्र धर्मशास्त्रके सहायक हैं। परन्तु आज तो हर एक विषय धर्मशास्त्रमें ठूँस दिया गया है, इसीलिये जैन-ज्योतिष, जैन-भूगोल, जैन-गणित, जैन-व्याकरण, आदि

१ Religion and Philosophy

शब्दोंकी रचना हुई है। कोई जैन-भूगोलका खंडन करके यह अभिमान करे कि मैंने जैनधर्मका खंडन कर दिया, तो वह भूलता है। किसी भी धर्मका खंडन तब कहा जा सकता है जब कि उस धर्मके द्वारा बतलाया हुआ आचरणीय मार्ग प्राणि-समाजको दुःखदायक साबित कर दिया जाय। दर्शन आदिका काम वस्तुके विषयमें विचार करना या निर्णय करना है, परन्तु धर्मशास्त्रका काम उस निर्णयको सुखोपयोगी बना देना है। धर्मका सुखसे साक्षात् सम्बन्ध है, जब कि दर्शन, ज्योतिष आदिका परम्परासम्बन्ध है। यही कारण है कि किसी अन्य शास्त्रके प्रवर्तककी अपेक्षा धर्मप्रवर्तकका स्थान ऊँचा है। इसलिये दर्शनोंमें परस्पर विरोध होनेसे हमें धर्ममें विरोध न समझना चाहिये।

यहाँ एक तीसरी शंका पैदा होती है कि दर्शनको अगर हम धर्मशास्त्रसे जुदा भी कर दें, तो भी धर्मोंमें परस्पर भिन्नता रह जाती है और अगर हम उनमें सम-भाव रखने लगें, तो हमारे लिये यह निर्णय करना कठिन हो जायगा कि हम किस धर्मका पालन करें।

इसके उत्तरमें संक्षेपमें मेरा कहना यही है कि आप किसी भी धर्मका पालन करें, परन्तु इन दो बातोंका खयाल रक्खें—

प्रथम तो यह कि जब कोई धर्म पैदा होता है या नये रूपमें दुनियाँके सामने आता है तब उसके सामने उस समयकी परिस्थिति रहती है, इसलिये उसका रूप उस परिस्थितिके अनुकूल होता है। कालान्तरमें वह परिस्थिति बदल सकती है। सम्भव है आज भी वह परिस्थिति बदली हुई हो। इसलिये परिस्थितिके प्रतिकूल तत्त्वोंको अलग करके हमें अपने धर्मको अर्थात् सम्प्रदायको सच्चा धर्म बना लेना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि अपने धर्मका चाहे पुराना रूप हो, चाहे नया अर्थात् सुधरा हुआ रूप हो, वह अमुक परिस्थितिमें अमुक श्रेणीके लिये ही है। अपने धर्मको हमें सम्पूर्ण धर्म नहीं, परन्तु धर्मकी एक अवस्था या धर्मका एक अंश कहना चाहिए। जैनशास्त्रोंकी परिभाषामें अगर मैं धर्मको 'प्रमाण' कहूँ तो जुदे जुदे नामोंसे प्रचलित धर्मोंको अर्थात् सम्प्रदायोंको नय कहूँगा। 'नय' प्रमाणका अंश है न कि पूरा प्रमाण; सम्प्रदाय धर्मका अंश है, न कि पूरा धर्म।

किसी धर्मको सचा कहना या मिथ्या कहना, यह उसके स्वरूपपर नहीं किन्तु अपेक्षापर निर्भर है। नय, सच्चा नय तभी कहलाता है जब कि वह दूसरे नयका विरोध नहीं करता। दूसरे नयका विरोध करनेवाला नय मिथ्या नय या दुर्णय कहा जाता है।

इसी प्रकार सम्प्रदाय भी वही धर्म कहा जा सकता है, जो दूसरे सम्प्रदायका विरोध नहीं करता। अगर कोई सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायका विरोध करता है, उसकी दृष्टिको गौण ही नहीं करता किन्तु नष्ट भी करता है, तो वह सम्प्रदाय मिथ्यात्व है, पाखण्ड है। ये सब जुदे जुदे, एक दूसरेके शत्रु बनकर खड़े होंगे, तो पाखण्ड कहलायँगे और मिल करके खड़े होंगे, तो सत्य कहलायँगे, धर्म कहलायँगे।

धर्मोंकी विविधताका रहस्य समझनेके लिये निम्नलिखित सूत्रोंका स्मरण रखना उपयोगी होगा—

१—धर्म एक ही है और वह सुख-मार्ग है।

२—द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार उसके स्वरूप अनेक हैं।

निरपेक्षाः नयाः मिथ्या सापेक्षाः वस्तु तेऽर्थकृत्।

—समन्तभद्र

३—धर्मके अंश होनेसे वे स्वरूप भी धर्म कहलाते हैं ।

४—प्रत्येक सम्प्रदाय अगर दूसरे सम्प्रदायको सिर्फ अविवक्षित करता है, उसका विरोध नहीं करता तो वह धर्म है, अन्यथा अधर्म है ।

५—दर्शन, इतिहास, भूगोल आदि धर्मशास्त्र नहीं हैं ।

६—जिस प्रकार अंशसे अंशीका ज्ञान किया जाता है उसीप्रकार हम प्रत्येक सम्प्रदाय रूप अंशसे धर्मरूप अंशीका ज्ञान कर सकते हैं। शर्त यह है कि उसमें अनेकान्त–स्याद्वाद–अर्थात् सर्व-धर्म-सम-भावका तत्त्व होना चाहिये ।

धर्मका उद्देश्य

साधारण लोगोंकी मान्यता यह है कि धर्म परलोकके लिए है। यह बात मानी जा सकती है कि धर्मसे परलोक सुधरता है, परन्तु धर्मोंकी उत्पत्ति लौकिक आवश्यकताका ही फल है । पारलौकिक फल तो उनका आनुषङ्गिक फल है। जैनशास्त्रके अनुसार जिस समय यहाँ भोगभूमि थी अर्थात् युगलियोंका युग था, उस समय यहाँपर कोई भी धर्म नहीं था, जैनधर्म भी नहीं था। इसका कारण यही है कि उस समय मनुष्यको कोई लौकिक कष्ट नहीं था। उस समय साम्यवाद इतने व्यापक रूपमें था कि प्राकृतिक दृष्टिसे भी लोगोंमें कोई विषमता नहीं थी। जैन-शास्त्र कहते हैं कि उस समय स्त्री-पुरुषोंके शरीरकी दृढ़तामें भी विषमता नहीं थी; उस समय कोई राजा या अफसर नहीं था, वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं थी, अत्याचार अनाचार आदि नहीं था; स्वामी-सेवकका भेद न था, अकालमृत्यु और बीमारी नहीं थी। जैन-शास्त्र उस

कालको पहिला आरा या सबसे अच्छा काल कहते हैं और कहते हैं कि उस समय कोई धर्म नहीं था। जैनशास्त्रोंके इस वर्णनका ऐतिहासिक मूल्य भले ही कुछ न हो; परन्तु उससे इतना तो माछूम होता है कि जैनधर्मके संस्थापक प्रवर्तक और सञ्चालक जिसे सबसे अच्छा काल कहते हैं, वह काल धर्मरहित था। जैनधर्मके अनुसार जब यह काल नष्ट हो गया, कष्ट बढ़े उसके बाद अनेक धर्म पैदा हुए। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जब तक समाजमें विषमता पैदा नहीं होती, समाज दुःखी नहीं होता, तब तक कोई धर्म पैदा नहीं होता। धर्मकी उत्पत्ति दुःखको दूर करनेके लिये ही हुई है। गीताके शब्दोंमें भी दुःखको दूर करनेके लिए ईश्वरका या धर्मका अवतार होता है। महात्मा बुद्धने संसारको दुःखसे छुड़ानेके लिए एक धर्मसंस्थाको जन्म दिया। महात्मा ईसा, महात्मा मुहम्मद आदि संसारके सभी धर्म-संस्थापकोंने दुःखी समाजके दुःखको दूर करनेके लिए धर्म-संस्थापना की है और अपना जीवन अर्पण किया है। धर्म सुखके लिए है, इस सर्वसम्मत बातको सिद्ध करनेके लिए अधिक प्रमाण देनेकी जरूरत ही नहीं है।

धर्मकी आवश्यकता क्यों हुई, जब हमें यह बात माछूम हो गई, तब धर्म क्या है, इसके समझनेमें विशेष कठिनाई नहीं रह जाती। उस समय धर्मका यह सीधा सादा लक्षण हमारे ध्यानमें आ जाता है कि जिस नीति या मार्गसे दुःख दूर हो सकता है उसे धर्म कहते हैं। इसलिये अगर हम धर्मको समझना चाहते हों, तो हमें जगत्के दुःखों और दुःखोंके दूर करनेके उपायको जान लेना चाहिये। इसके बाद धर्मकी मीमांसा करना कठिन नहीं है।

त्रिविध दुःख ।

प्रत्येक प्राणी संसारके विविध दुःखोंसे घबराया हुआ है । उसे सुखकी अपेक्षा दुःख कई गुणा भोगना पड़ता है । इस दुःखको हम तीन अंशोंमें विभक्त कर सकते हैं—

(१) बाह्य प्रकृति और हमारे शरीरकी रचना ही कुछ ऐसी है कि वह दुःखके कारण जुटाती रहती है ।

(२) सामग्री कम है, भोगनेवाले ज्यादः हैं; और तृष्णा और भी ज्यादः है, इसलिये प्राणियोंमें परस्पर संघर्ष होता है जिससे अनेक तरहके अन्याय और अत्याचार होते हैं । इससे दुःख बढ़ जाते हैं ।

(३) मनुष्यको सुखी रहनेकी कलाका ज्ञान नहीं है, इसलिये उसे दुःखका अनुभव जितना होना चाहिये उससे अधिक होता है । ईर्ष्या आदिसे वह अनावश्यक दुःखोंकी सृष्टि करता है ।

इन तीनों प्रकारके दुखोंको हम क्रमसे प्राकृतिक, परप्राणिकृत और स्वकृत कह सकते हैं ।

प्राणियोंका शरीर घृणित है, बहुत ही जल्दी इसमें रोग होते हैं, भोगोंसे यह कमज़ोर हो जाता है, अपने आप भी शिथिल हो जाता है और अन्तमें इच्छा न रहते हुए भी नष्ट हो जाता है । इधर प्रकृति भी हमारी इच्छाके अनुसार काम नहीं करती । हम चाहते हैं कि हवा चले, परन्तु हवा नहीं चलती । हम चाहते हैं कि ठण्डी हवा चले, तो गरम चलती है । इस प्रकार न तो प्रकृति हमारी इच्छाओंकी या हमारे शरीरकी आवश्यकताओंकी गुलाम है, न शरीर हमारी इच्छाओंके अनुसार काम करता है । इन दुःखोंसे बचनेके लिये परस्पर सहयोगसे एक दूसरेके दुःखोंको दूर करना तथा सहनशील

बनना सिखाया जाता है। सहनशीलता और परस्पर प्रेम या सह-योगसे हम दुःखोंसे बहुत कुछ सुरक्षित रह सकते हैं। कुछ तो दुःखके निमित्त कारण दूर हो जाते हैं और जो कुछ रहते हैं, वे हमारे ऊपर प्रभाव नहीं डाल पाते-अर्थात् हमें दुःखी नहीं बना पाते। प्राकृतिक दुःखोंको दूर करनेका इससे बढ़कर कोई उपाय नहीं है।

परप्राणिकृत दुःखोंको कम करनेके लिये भी धर्मकी आवश्यकता है। जितनी सामग्री है और जितने भोगनेवाले हैं, उनकी योग्य व्यवस्था करनेसे परप्राणिकृत दुख कम किये जा सकते हैं। " जिस-की लाठी उसकी भैंस " के सिद्धान्तके अनुसार बलवान् अगर निर्बलोंको पीड़ा देते रहें, तो कोई भी मनुष्य सुखी न हो सकेगा। छीना-झपटीसे भोग-सामग्रीमें वृद्धि तो हो नहीं सकती, बल्कि कुछ हानि ही होगी, और कोई भी प्राणी निराकुलतासे उसका भोग न कर सकेगा। अगर कोई किसीको न सतावे, न धोखा दे, न उसकी चोरी करे, तो सभी लोग न्याय-प्राप्त सामग्रीका निराकुलतासे भोग कर सकेंगे। इसलिये सबको संयमसे काम लेनेकी आवश्यकता है।

संयमके दो भेद किये जाते हैं—इन्द्रिय-संयम और प्राणि-संयम। इन्द्रियोंको वशमें करनेको इन्द्रिय-संयम कहते हैं। इन्द्रिय-संयमी मनुष्य अपने जीवन-निर्वाहके लिये कमसे कम सामग्रीका उपभोग करता है, वह बची हुई सामग्री दूसरोंके काम आती है, इससे संघर्ष कम होता है और सुख बढ़ता है। अगर एक मनुष्य अधिक सामग्रीका उपभोग करेगा तो दूसरेको कमी पड़ेगी, इससे दूसरा मनुष्य दुखी होगा और संघर्षसे दोनों दुखी होंगे। एक अच्छे राज्यमें जो कार्य क़ानूनके बलपर कराया जाता है, धर्म वही कार्य आत्म-शुद्धिके मार्गसे कराना चाहता है।

यद्यपि क़ानूनके मार्गसे धर्म समता-प्रचारका विरोधी नहीं है, फिर भी उसका ज़ोर आत्म-शुद्धिपर है। क्योंकि क़ानूनके बलपर जिस समताका प्रचार किया जाता है वह अस्थिर होती है और सिर्फ़ बहिर्ज्वालाओंको दूर कर पाती है। लोगोंकी तृष्णा शान्त नहीं होती; अवसर मिलनेपर वे मनमाना भोग करते हैं। उनमें वह उदार दृष्टि नहीं रहती, जिससे मनुष्य त्यागमें सुखका अनुभव करता है। हाँ, 'कुछ न होनेसे कुछ अच्छा' इस उक्तिके अनुसार जहाँ आत्म-शुद्धिके संयमका यथायोग्य प्रचार न हो सकता हो, वहाँ क़ानूनसे काम लिया जाय; परन्तु यह कानूनी संयम जब आत्मिक संयमके रूपमें परिणत हो जाय तभी सच्चा सुख प्राप्त होगा। क्योंकि इसमें वे लोग भी सुखी होंगे, जो प्राप्त हुई अधिक सामग्रीका त्याग करेंगे, अथवा अधिक सामग्रीको प्राप्त करनेकी शक्ति रहते हुए भी अधिक सामग्रीको प्राप्त करनेकी चेष्टा न करेंगे। इससे संघर्ष और अशान्ति रुकेगी।

दूसरा संयम प्राणि-संयम है। इसमें दूसरे प्राणियोंको दुःख देनेका निषेध किया गया है। यह संयम तो बिलकुल स्पष्ट रूपमें दुःख-निरोधक है। आजतककी अधिकांश सरकारोंने इसी संयमके एक बहुत स्थूल और संकुचित भागको पालन करानेका काम किया है। पशु-पक्षियोंके विषयमें इस संयमका पालन बहुत कम हुआ है और इन्द्रिय-संयमकी तरफ़ तो सरकारोंका ध्यान नहींके बराबर गया है। परन्तु आज लोगोंको इन्द्रिय-संयमकी उपयोगिता समझमें आने लगी है। क्योंकि यह बात स्पष्ट हो गई है कि जबतक समर्थ लोग इन्द्रिय-संयमका पालन न करेंगे या उनसे पालन न कराया जायगा, तब तक निर्बलोंको पेटभर भोजन मिलना और प्रकृति-प्रदत्त

स्वाभाविक जीवन बिताना भी कठिन है। भले ही यह क़ानूनी संयम आत्मिक संयमकी बराबरी न कर सके; परन्तु इससे इतनी बात सिद्ध होती है कि संसारकी सुख-वृद्धि या दुःख-हानिके लिये संयम अनिवार्य है। सरकार रूपी इमारतें इसी संयमकी नींवपर खड़ी होती हैं। हवा-पानीके समान संयम भी जीवनके लिये आवश्यक है।

इस संयमकी पूर्णता तो पूर्ण आत्म-विकासमें ही हो सकती है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे इस संयमकी पूर्णता-अपूर्णताका विचार करना है। जीवन-निर्वाहके लिये अपने उचित हिस्सेसे अधिक सामग्रीका उपयोग न करना पूर्ण इन्द्रिय-संयम है। जो इससे अधिक सामग्रीका उपभोग करे किन्तु मर्यादा रक्खे, वह अपूर्ण संयमी है। जो मर्यादा न रक्खे, वह अविरत या असंयमी है। इसी प्रकार जो मनुष्य जीवनको रखनेके लिये अनिवार्य हिंसासे अधिक हिंसा नहीं करता वह प्राणि-संयमकी दृष्टिसे पूर्ण संयमी है। जैसे श्वास लेनेमें, चलने-फिरनेमें, शौचादिमें हिंसा अनिवार्य है। यद्यपि इन कार्योंमें यत्नाचार करना आवश्यक है, फिर भी कुछ न कुछ द्रव्य-हिंसा अवश्य होगी। यह अनिवार्य है। इस अनिवार्य हिंसासे जो अधिक हिंसा करे, किन्तु मर्यादा रक्खे वह अपूर्णसंयमी है। जो अमर्याद हिंसा करे, वह असंयमी है। इसी प्रकारके और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस चर्चासे यह बात सिद्ध हो जाती है कि धर्ममें बताये हुए ये दोनों संयम, शरीर शोषक, जीवन-नाशक, और परलोकमें ही फल देनेवाले नहीं हैं, किन्तु इनसे जीवन और शरीरकी रक्षा है और परलोकके सुखकी अपेक्षा ऐहिक सुखके लिए इनकी आवश्यकता अधिक है। इसलिये संयमका ध्येय दुख नहीं, सुख है।

पर-सुखमें निज-सुख

यद्यपि संयम, सुखके लिये आवश्यक है यह बात सिद्ध हो जाती है, फिर भी सामाजिक सुखकी वृद्धिका हिसाब कैसे लगाना चाहिये और उसके लिये कौनसी नीति निश्चित करना चाहिये, इस बातपर विचार करना आवश्यक है। यहाँ मैं सुखके विषयमें कुछ नहीं कहता, क्योंकि वह स्वानुभवगम्य है। प्रश्न यह है कि किसका सुख यहाँ लिया जाय। साधारण दृष्टिसे तो यही कहना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी अपने सुखके लिये प्रयत्न करता है। दूसरोंके सुखके लिए जो वह प्रयत्न करता है, वह इसीलिये कि दूसरोंका सुख अपने सुखको बढ़ानेमें या सुरक्षित रखनेमें सहायक है। माँ-बाप भी भविष्यकी आशासे संतानसे प्रेम करते हैं। परन्तु अगर इस प्रकारका हिसाब रक्खा जाय कि जिससे हमें सुखकी आशा हो उसे ही हम सुखी करनेकी चेष्टा करें, तो हमें दूसरोंसे बहुत कम सुख मिलेगा और दूसरोंको हमसे बहुत कम सुख मिलेगा। हम रास्तेमें जाते जाते किसी गड्ढेमें गिर गये, उस समय हमें मनुष्य-मात्रसे सुखकी आशा करनी पड़ती है। प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें ऐसे सैकड़ों प्रसंग आते हैं, जब उसे हरएक मनुष्यसे सहायताकी आवश्यकता होती है। अगर मनुष्य बिलकुल स्वार्थी हो जाय या ऐसे मनुष्योंके ही हितका विचार करे जिससे उसे प्रत्युपकारकी आशा है, तो मनुष्य-जाति शीघ्र ही नष्ट हो जायगी। अनुभवने यह बतलाया है कि केवल त्यागके नामपर ही नहीं बल्कि सुखके लिये मनुष्यको परोपकार करना चाहिये, इसीमें मनुष्यकी

स्वार्थसिद्धि है। इसके लिए एक कल्पना कीजिये कि दो मनुष्य ऐसे हैं जो एक दूसरेको सहायता नहीं पहुँचाते। प्रत्येक आदमी सालमें एक मास बीमार रहता है,' इसलिये उनके ग्यारह महीने सुखमें और एक महीना दुःखमें बीतता है। परन्तु दुःख मनुष्यको इतना असह्य है कि ग्यारह महीनेका सुख एक महीनेके दुःखके आगे कम मालूम होता है। अगर हम ग्यारह महीनेके नीरोगता (सुख) के अंश (डिग्री) ग्यारह सौ कल्पित कर लें, तो एक महीनेके दुःखके (ऐसी बीमारीके कि जिसमें कोई पानी देनेवाला भी नहीं है) अंश हमें २२०० मानना पड़ेंगे। इस तरह इनमेंसे प्रत्येक मनुष्यके हिस्सेमें ११०० डिग्री सुख और २२०० डिग्री दुख पड़ेगा। इस तरह हिसाब करनेपर प्रत्येकके हिस्सेमें ११०० डिग्री दुःख ही रह जायगा। परन्तु दो ऐसे मनुष्य हैं जो एक दूसरेको पूर्ण सहायता पहुँचाते हैं। इस लिये जब उनमें कोई बीमार पड़ता है तब उसे सिर्फ़ रोगका ही कष्ट होता है। इन दोनों रोगियोंकी तुलना कीजिये। एक ऐसा है कि उसे न तो कोई पानी देनेवाला है, न औषध देनेवाला है, न उसे कोई खाने देता है। पेशाब आदि मल-त्याग वह बिस्तरमें या आस-पास कर लेता है। एक महीनेतक सफ़ाई भी कोई नहीं करता। इस रोगीमें और उस रोगीमें जिसको इन सब कष्टोंका सामना नहीं करना पड़ता, आकाश-पातालका अंतर है। उसका दुःख अगर २२०० डिग्री है, तो इसका सिर्फ २००। इस तरह इनमेंसे प्रत्येकके हिस्सेमें ११०० डिग्री सुख और २०० डिग्री दुःख पड़ा। अगर अपने साथीकी परिचर्या करनेका कष्ट १०० अंश और जोड़ लिया जाय, तो इनका कष्ट ३०० डिग्री होगा।

इस तरह इन्हें ८०० डिग्री सुखरूपी मुनाफा हुआ जब कि पहिलेको ११०० डिग्री दुःखरूपी नुकसान है। कहनेका तात्पर्य यह है कि परोपकार करनेमें हमें जितना कष्ट उठाना पड़ता है, उससे असंख्य-गुणा कष्ट उसका कम हो जाता है जिसके साथ परोपकार किया जाता है। बच्चेको माँ-बाप पालते हैं इससे माँ-बापको कष्ट होता है जरूर, परन्तु बच्चेका कष्ट जितना कम होता है उससे दसवाँ हिस्सा भी माँ-बापका कष्ट नहीं बढ़ता। ये उदाहरण छोटे क्षेत्रमें हैं परन्तु विश्वभरके लिये इस नीतिसे काम लेनेमें संसारका सुख कई गुणा बढ़ जाता है। अपने अपने स्वार्थकी दृष्टि रखनेसे संसारमें जितनी सुख-सृष्टि हो सकती है, परोपकाररूप सहयोगसे वह सुख-सृष्टि वर्गधाराके समान बढ़ती जाती है। एक मनुष्य अगर एक डिग्री सुख पैदा कर सकता है, तो दो मनुष्य २×२=४ डिग्री सुख पैदा कर सकते हैं। इसी प्रकार तीन मनुष्य ३×३=९, चार मनुष्य ४×४=१६, पाँच मनुष्य ५×५=२५ डिग्री सुख पैदा कर सकते हैं। इसी नियमपर 'एकसे आधे दो से चार' की लोकोक्ति प्रचलित है। अगर स्वार्थियोंका समाज और परोपकारियोंका समाज, ऐसे दो समाज कल्पित किये जायँ, तो दोनों समाजके व्यक्ति सुखके लिये समान प्रयत्न करनेपर भी पहिलेकी अपेक्षा दूसरे समाजके मनुष्य असंख्य-गुणे सुखी होंगे। कहनेका तात्पर्य यह है कि यद्यपि मनुष्य अपने ही सुखके लिये प्रयत्न करता है; परन्तु परोपकारी हुए बिना संसारमें इतना सुख ही तैयार नहीं हो सकता जिससे उसे सुखका बहुत और अधिक स्थायी भाग मिले। इसलिये परोपकारको भी स्वार्थ—उच्चतम स्वार्थ—सात्विक स्वार्थ समझना चाहिये। परोपकारका क्षेत्र

विस्तीर्ण होगा, सुखका क्षेत्र भी विस्तीर्ण होगा, परप्राणिकृत दुःखको दूर करनेमें यह एक ऐसा उपाय है कि जिसमें किसी कल्पनाकी आवश्यकता नहीं है।

कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करनेके लिए वेदान्तने इसी उपायको स्वीकार किया है। वेदान्तके अनुसार मूलमें सारा जगत् एक है। जिसे इस एकत्वका दर्शन हो जाता है, उसकी दृष्टिमें स्वार्थ और परार्थका भेद ही नहीं रह जाता है। इसमें आपत्ति है तो इतनी ही है कि प्राणियोंके अनुभव जुदे जुदे होनेसे, तथा जड़ और चेतनमें सत्ता-सामान्यकी दृष्टिमें समता है, परन्तु वे दोनों एक ही तत्त्व नहीं हो सकते, इसलिए, संसार अनेक द्रव्यात्मक है। अनेकको एक माननेकी यह कल्पना बुद्धि-संगत नहीं है, इसलिए एकत्वके ऊपर विश्वास नहीं होता, तब उसको आधार बनाकर कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करना कैसे बन सकता है? अगर हम यह समझ जायँ कि हमारा स्वार्थ परोपकारके बिना टिक ही नहीं सकता, तो भले ही दूसरे जीवोंमें और पदार्थोंमें हमसे व्यक्तिगत विभिन्नता हो, परन्तु हमें परोपकारको धर्म बनाना पड़ेगा और उसे स्वार्थका अंग मानना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि चाहे सब जड़-चेतन-संसारको एक मानो या जड़ और जीवको पृथक् पृथक्, परन्तु सुखी होनेके लिए परोपकारको स्वार्थके समान, परात्माओंको स्वात्माके समान महत्त्व देना पड़ेगा, परोपकारको हमें एक स्वभाव बना लेना पड़ेगा। परोपकारके क्षेत्रमें सिर्फ मनुष्योंका ही नहीं, किन्तु पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा स्थावरोंका भी समावेश होगा। जिसने परोपकारको

स्वार्थ समझा, समस्त प्राणि-जगत् जिसने परोपकारका क्षेत्र बनाया, वही निष्पाप और सुखी है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि मनुष्योंके और पशु-पक्षियोंके उपकारको हम अपना कर्तव्य या स्वार्थ समझें, यह ठीक है; परन्तु कीट-पतङ्गोंका विचार क्यों करें? उनसे हमें क्या लाभ हो सकता है? हम उनका कितना ही उपकार क्यों न करें, वे उसका बदला हमें कभी नहीं दे सकते। इस प्रश्नके उत्तरमें तीन बातें कही जा सकती हैं—

(क) कीट-पतङ्गोंमें मनुष्यों या पशु-पक्षियोंके समान बुद्धि भले ही न हो, फिर भी उनमें इतना ज्ञान होता है कि वे सतानेवाले-को सतानेकी चेष्टा करें। बिच्छू वगैरह सतानेसे डंक मारते हैं। विशेष बुद्धि न होनेसे उपकार-अनुपकारके कार्य वे अच्छी तरह न कर सकें, यह दूसरी बात है; परन्तु उनमें भी ये भावनाएँ होती हैं और यथाशक्ति वे इन्हें कार्य रूपमें परिणत करनेकी चेष्टा भी करते हैं, यहाँ तक कि वृक्ष भी संतुष्ट और असंतुष्ट होते हैं।

(ख) अगर हम प्रत्युपकारकी निराशासे उनका खयाल न रक्खें, तो हमारी आत्मा धीरे धीरे इतनी स्वार्थी हो जायगी कि हमारे उपकारका क्षेत्र अत्यन्त संकुचित हो जायगा, और कालान्तरमें यह संकुचितता हमारे स्वार्थकी भी बाधक हो जायगी।

(ग) आत्मा अमर है, इसलिये अगर आज हम मनुष्य हैं तो सदा मनुष्य ही न बने रहेंगे। कभी हमें कीट-पतंग पशु-पक्षी-वृक्ष आदि भी होना पड़ेगा। अगर आज हम प्रत्युपकारकी निराशा-से इन्हें सताते हैं, तो जब हमें कीट-पतंग वृक्ष आदि होना पड़ेगा, तो दूसरे लोग भी हमें सतायेंगे। अगर हम इनपर दया रक्खेंगे,

तो हमें भी उस दयाका परिणाम कीट-पतंगके भवमें मिलेगा। मतलब यह है कि हर एक प्राणीको हर जगह जन्म लेना पड़ता है, इसलिये जितनी अधिक जगहमें सुखका विस्तार किया जाय, सुखी जीवन बितानेके लिये उतना ही अधिक क्षेत्र संसारमें तैयार होता है। इसलिये हमें अपने वर्तमान स्वार्थका ही विचार न करना चाहिये, बल्कि त्रैकालिक स्वार्थका विचार करना चाहिये। मान लो कि एक नगरमें सभी लोगोंकी यह आदत है कि वे खिड़कीमें बैठकर सड़कपर थूका करते हैं। इससे पथिकोंको कष्ट होता है। इसपर खिड़कीमें बैठनेवाले यह सोचें कि इसमें हमारा क्या जाता है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि जो अभी मकानके ऊपर बैठा है वह सदा वहीं न बैठा रहेगा, उसे भी कभी पथिक बनना पड़ेगा। उस समय दूसरेका थूक उसके ऊपर गिरेगा। इस दुःखसे बचनेके लिये सबके ऊपर थूकनेकी आदत छोड़नी पड़ेगी। इसलिये विश्वके समस्त जीवोंके विषयमें हमें इसी प्रकारका व्यवहार करना चाहिये। शक्तिशाली अगर निर्बलोंको सताना छोड़ दें, तो जब शक्तिवाली निर्बल होगा, तब उसको इस नीतिका लाभ मिलेगा। इसलिये शक्तिशालीका परोपकार भी कालान्तरमें अपने स्वार्थके लिये हो जायगा।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि साधारण प्राणियोंका पतन होता है, इसलिए वे परोपकारके झंझटमें पड़ें; परन्तु जो योगी हैं जीवन्मुक्त हैं, वे परोपकार क्यों करें? इस प्रश्नके उत्तरमें तीन बातें कहना है—

(१) जीवनन्मुक्त भी एक दिन साधारण व्यक्ति होते हैं।

उनके ऊपर भी समाजके द्वारा किये गये उपकारोंका थोड़ा बहुत बोझ रहता है। उसके बदलेमें वे समाजोद्धार करते हैं। यदि ऐसे लोग समाजोद्धार न करें, तो आगेके लिए उस संस्थाका मार्ग रुद्ध हो जायगा, जिससे लोग जीवन्मुक्त होते हैं। मतलब यह कि कृतघ्नताके परिहारके लिए जीवन्मुक्तोंको भी समाज-सेवा करनी चाहिये।

(२) जीवन्मुक्त हो जानेपर भी मनुष्य, समाजाश्रयका त्याग नहीं करता, इसलिए वह अपनी वर्तमान आवश्यकता-पूर्तिका बदला भी समाज-सेवाके द्वारा चुकाता है।

(३) जीवन्मुक्तमें राग-द्वेष आदि विकार नहीं रहते, परन्तु उनके मन-वचन-काय कुछ न कुछ कार्य करते हैं। इधर जीवन्मुक्तको किसी स्वार्थ-सिद्धिकी आवश्यकता नहीं है, इसलिए उसके मन-वचन-काय परोपकारके सिवाय और क्या कर सकते हैं ?

इस प्रकार चाहे जीवन्मुक्त हो, चाहे संसारी, सबको सुख-वृद्धिके लिए प्रयत्न करना चाहिये। और यह खयाल रखना चाहिये कि अगर हम दूसरेको सुखी बनानेका प्रयत्न न करेंगे, तो हम सुखी नहीं हो सकते। परप्राणिकृत दुःखोंको दूर करनेके लिए हमें इसी उदार नीतिसे काम लेना आवश्यक है।

जगत्कल्याणकी कसौटी

यहाँ तक यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जगत्के कल्याणमें हमारा कल्याण है। परन्तु जगत्के कल्याणका निर्णय कैसे किया जाय, यह एक महान् प्रश्न है। यह बात तो सभी लोग समझते हैं कि अहिंसा आदिसे जगत्का कल्याण है, दान आदि शुभ कार्य हैं, परन्तु कभी

कभी युद्ध करना (हिंसा) भी आवश्यक होता है। दानकी अधिक प्रवृत्तिसे बेकारोंकी संख्या बढ़ने लगती है। कभी कभी दो धर्मोंका पालन अशक्य होता है। अगर सत्य बोलते हैं तो हिंसा होती है; अगर हिंसाको बचाते हैं तो झूठ बोलना पड़ता है। इस अवसरपर क्या किया जाय? कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय कैसे किया जाय?

बहुतसे लोग कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णयके लिये सदसद्विवेकबुद्धि या अन्तर्नादके अनुसार कार्य करनेकी बात कहते हैं। परन्तु यह आवाज़ ठीक ठीक रूपमें महापुरुषोंको ही सुनाई देती है। परन्तु ऐसे मनुष्य इने-गिने होते हैं और कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णय करनेकी जरूरत तो सभीको होती है। दूसरी बात यह है कि अन्तर्नादके नामपर दंभकी सेवा होती है। पापीसे पापी—किन्तु बातें बनानेमें चतुर—व्यक्ति भी अन्तर्नादकी दुहाई देकर घोर दुष्कृत्य करते हैं, इसीलिये ऐसी कसौटी बनाना चाहिये जो तर्कपर कसी जा सके।

दूसरी बात यह है कि अन्तर्नाद आकस्मिक नहीं है। कर्त्तव्या-कर्त्तव्यके निर्णयके लिये हम जिन सिद्धान्तोंको जीवनमें उतारते हैं, आत्मामें जिनका अनुभव होता रहता है उन्हींके अनुसार हमें अन्त-र्नाद सुनाई पड़ता है। जब उसका तात्कालिक कारण समझमें नहीं आता, तब वह अन्तर्नाद कहलाता है। सच पूछा जाय तो अन्तर्नाद एक ऐसा भीतरी तर्क है, जिसे हम शब्दोंमें उतारकर दूसरोंको नहीं समझा पाते। इसलिये अन्तर्नाद सुननेके लिये हमें उस सिद्धान्त-को जाननेकी आवश्यकता है जिसके अनुसार चलनेपर हमें अन्त-र्नाद सुनाई दे सके। इस सिद्धान्तके निर्णय किये बिना हम सदसद्वि-वेक-बुद्धिसे भी काम नहीं ले सकते।

बेन्थाम, मिल आदि पाश्चिमात्य विद्वानोंने कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निर्णय करनेके लिये "अधिकांश लोगोंका अधिकतम सुख*" का नियम निश्चित किया है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य-निर्णयको व्यावहारिक रूप देनेमें इससे अच्छी युक्ति दिखलाई नहीं देती। भारतवर्षके प्रत्येक धर्ममें इस नीतिको स्वीकार किया गया है। परन्तु इस नीतिका जो साधारण अर्थ किया जाता है, उसमें कुछ त्रुटि रह जाती है। इस त्रुटिको लोकमान्य तिलकने इन शब्दोंमें रक्खा है—

"इस आधिभौतिक नीति-तत्त्वमें जो बहुत बड़ा दोष है वह यही है कि इसमें कर्ताके मनके हेतु या भावका कुछ भी विचार नहीं किया जाता और यदि अन्तस्थ हेतुपर ध्यान दें, तो इस प्रतिज्ञासे विरोध खड़ा हो जाता है कि अधिकांश लोगोंका अधिक सुख ही नीतिमत्ताकी कसौटी है।....केवल बाह्य परिणामोंका विचार करनेके लिये उससे बढ़कर दूसरा तत्त्व कहीं नहीं मिलेगा। परन्तु हमारा यह कथन है कि जब नीतिकी दृष्टिसे किसी बातको न्याय्य अथवा अन्याय्य कहना हो, तब केवल बाह्य परिणामोंको देखनेसे काम नहीं चल सकता।....पांडवोंकी सात अक्षौहिणियाँ थीं और कौरवोंकी ग्यारह, इसलिये यदि पांडवोंकी हार हुई होती, तो कौरवोंको अधिक सुख हुआ होता। क्या उसी युक्तिवादसे पाँडवोंका पक्ष अन्याय्य कहा जा सकता है?....व्यवहारमें सभी लोग यह समझते हैं कि लाखों दुर्जनोंको सुख होनेकी अपेक्षा एक ही सज्जनको जिससे सुख हो, वही सच्चा सत्कार्य है।"

भावकी प्रधानता सभी धर्मशास्त्रोंमें बहुत अधिक परिमाणमें पाई

---

* "Greatest good of the greatest number"

जाती है। हिंसा हो जानेपर भी अगर हमारी भावना हिंसा करनेकी न हो, तो हमें हिंसाका दोष नहीं लगता और भाव होने पर हिंसा न होनेपर भी हिंसाका दोष लगता है। यह बात अहिंसाके विवेचनमें स्पष्ट की जायगी।

अधिकांश लोगोंके अधिकतम सुखवाली नीति व्यवहारमें अत्यन्त उपयोगी है, इसलिये हम उसका त्याग नहीं कर सकते। और भाव-विशुद्धिके विना आत्म-विश्वास नहीं हो सकता, न ठीक ठीक निर्णय ही हो सकता है; इसलिये हम भावको गौण स्थान भी नहीं दे सकते। इस समस्याके सुलझानेके लिये अधिकांश प्राणियोंके अधिक-तम सुखवाली नीतिमें कुछ संशोधन आवश्यक है, उसके लिये हमें निम्नलिखित सूत्रोंको स्वीकार करना चाहिये—

(क) अधिकतम लोगोंका अधिकतम सुखमें 'लोग' शब्दका अर्थ प्राणी है। धर्मके सामने त्रिकाल त्रिलोककी समस्याएँ हैं, इस लिये इतना व्यापक अर्थ करना उचित है।

(ख) सभी जीवोंका सुख समान नहीं होता। चैतन्यकी मात्रा बढ़नेसे सुखदुःखानुभवकी मात्रा बढ़ती है। द्वींद्रियादि जीवोंमें वन-स्पतिकी अपेक्षा कई गुणा चैतन्य है। इनसे अधिक पशु-पक्षियोंमें और इनसे अधिक मनुष्योंमें। इनमें भी परस्पर तारतम्य देखना चाहिये। इस नीतिमें केवल संख्याका विचार नहीं करना है, सुखकी मात्राका भी विचार करना है।

(ग) नीतिका निर्णय सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे करना चाहिये। दस चोर एक आदमीको लूट लें, इससे दस चोरोंको सुख

और एक ही आदमीको कष्ट होगा; परन्तु इस नीतिको हम अच्छा नहीं कह सकते। क्योंकि चोरी करनेकी नीतिसे एक समय और एक जगह भले ही अधिक सुख हो परन्तु अन्य समयमें और अन्य क्षेत्रोंमें दुःखकी वृद्धि बहुत अधिक होगी। जो सर्वत्र और सर्वकालमें अधिकतम प्राणियोंको अधिकतम सुखकारक हो वही नीति ठीक है।

(घ) जो परोपकार परोपकार-बुद्धिसे न किया गया हो वह बहुत ही कम सुखवर्द्धक है। उसका श्रेय कर्त्ताको बहुत कम मिलता है।

एक आदमी यशके लिये परोपकार करता है। यह इस लिये ठीक नहीं है कि जब उसे यशकी आशा न होगी या यशकी चाह न होगी तब वह परोपकार न करेगा। यह सुख-वृद्धिमें बड़ा भारी बाधक है। उसका ध्येय यश है। इस लिये अगर यशके लिये कभी उसे अनुचित कार्य करनेकी आवश्यकता होगी तो वह अनुचित कार्य भी करेगा। इस प्रकार परोपकारका मूल्य तभी हो सकता है जब वह भावपूर्वक किया गया हो।

(ङ) अशुभ भावसे कोई कार्य किया जाय, और उसका फल शुभ हो जाय, तो वह अशुभ ही कहलायगा; इसी तरह शुभ भावसे कोई कार्य किया जाय किन्तु उसका फल अशुभ हो जाय तो वह शुभ ही कहलायगा। क्योंकि भावना अच्छी होनेपर भी बुरा कार्य होना कादाचित्क है। सामान्य नियम यही है कि उससे शुभ कार्य हो, इस लिये शुभ भावना सुखवर्द्धक है। दूसरी बात यह है कि भावनाके अनुसार अगर अच्छे-बुरेका निर्णय न किया जाय, तो अच्छा काम करना अशक्यप्राय हो जायगा। अच्छी भावनासे डॉक्टर

ऑपरेशन करे और रोगी मर जाय, इसपर डाक्टरको खूनीके समान मृत्यु-दण्ड दिया जाय, तो कितने डॉक्टर ऑपरेशन करनेको तैयार होंगे ? इसलिए अधिकतम सुखके लिए भावनाको प्रधानता देना आवश्यक है।

इस सबका सार यह है कि सार्वत्रिक और सार्वकालिक अधिकतम प्राणियोंके अधिकतम सुखकी भावनासे जो कार्य किया जाय वह कर्तव्य है और बाकी अकर्तव्य। इस तरह आधिभौतिक और आध्यात्मिकके सम्मिश्रणसे हमें कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयकी कसौटी मिल जाती है; और अनेक तरहकी शंकाओंका समाधान हो जाता है। जैसे कि—रावणने सीताको चुराया, रामने युद्ध करके रावणके वंशका नाश कर दिया। अगर राम युद्ध न करते, तो राक्षस-वंशके लाखों मनुष्य मरनेसे बच जाते, सिर्फ़ राम और सीता इन दो व्यक्तियोंको दुःख होता और लाखोंको सुख।

यद्यपि वर्तमानकी दृष्टिसे यह घटना विपरीत नीतिकी सूचक है, परन्तु सार्वत्रिक विचारसे इसका निर्णय हो जाता है। इस घटनाको लक्ष्य करके अगर यह नियम बना दिया जाय कि अगर कोई किसीकी पत्नीको चुरा ले जाय तो उसे उसकी रक्षाके लिये विशेष प्रयत्न न करना चाहिये, तो इसका फल यह होगा कि प्रतिदिन हजारों लाखों स्त्रियोंका सतीत्व नष्ट होने लगेगा। यह दुःख एक बार युद्धमें मर जानेवाले सैनिकोंके दुःखकी अपेक्षा बहुत अधिक होगा। मतलब यह कि अन्यायका प्रतिकार करना एक बार भले ही अधिक प्राणियोंको दुःखद हो, परन्तु सदाके लिये वह सुखद है। समाजके भय तथा चिन्ताको रोकनेके कारण उसकी सुखदता और बढ़ जाती है।

सुखी बननेकी कला

इस नीतिको अगर हम पूर्णरूपसे काममें ला सकें, तो बहुतसे दुःखोंका अन्त आ सकता है; परन्तु पूर्णरूपसे इस नीतिका कार्यान्वित होना अशक्य है तथा अगर इस विषयमें हमें सफलता मिल भी जाय तो भी अन्य प्राकृतिक दुःख तो बने ही रहेंगे। इन सब दुःखोंको हम थोड़ा बहुत कम कर सकेंगे, परन्तु बहु भाग बचा ही रहेगा। इसलिये हमें सुखी बननेकी कला सीखना चाहिये। अनेक मनुष्य ऐसे देखे जाते हैं कि जिनके पास अन्य मनुष्योंकी अपेक्षा सुख-सामग्री अधिक होती है; फिर भी ईर्ष्या असंतोष आदिके कारण वे दुःखी रहते हैं और अनेक मनुष्य ज़रा-सी विपत्तिमें घबरा जाते हैं, रोते हैं, जब कि अनेक महापुरुष हँसते हँसते मरते हैं। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जो लोग सुखी रहनेकी कला जानते हैं, वे हर हालतमें सुखी रहते हैं और जो इस कलाको नहीं जानते, वे हर हालतमें दुखी रहते हैं। धर्म हमें इसी कलाका शिक्षण देता है। इस शिक्षणकी कुछ बातें ये हैं—

जिस प्रकार हम किसी मकानमें भाड़ेसे रहते हों और वहाँपर हमें कोई विशेष कष्ट दे, हमारा अपमान करे, हमारी सम्पत्तिका अपहरण करे, तो हम उस मकानको छोड़ देते हैं, हम उस मकानकी पर्वाह नहीं करते। इसी प्रकार अगर हम शरीरकी भी पर्वाह न करें, शारीरिक जीवनसे आत्म-जीवनको महान् समझें, शरीरके लिये आत्माका नहीं किन्तु आत्माके लिये शरीरका बलिदान करना सीखें, मृत्युको गृहपरिवर्तन या वस्त्रपरिवर्तनके समान समझें, तो दुःखपूर्ण घटनाएँ हमें दुःखी न कर सकेंगी या नाममात्रको दुखी कर सकेंगी।

हमें यह निश्चित समझ लेना चाहिये कि हमारा किसीके ऊपर कुछ अधिकार नहीं है। जो जितनी सहायता करे वह उसकी सज्जनता है; अगर न करे तो हमें बुरा माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

संसारका दुःख और सुख कुछ स्थिर नहीं है। वर्तमान विपत्ति आखिर नष्ट होगी ही। अगर यह इस जीवन-भर स्थिर भी रहे, तो भी अनन्त-कालके सामने यह जीवन इतना छोटा है कि इसकी तुलना समुद्रके सामने एक कणसे भी नहीं की जा सकती।

नाटकके पात्रोंकी महत्ता उनके पदपर स्थिर नहीं है, अर्थात् राजा बनने वाला उत्तम पात्र हो और रङ्क बननेवाला जघन्य पात्र हो यह बात नहीं है किन्तु, जिसको जो काम सौंपा गया है, वह काम जो अच्छी तरहसे कलाके साथ कर सकता है वही अच्छा पात्र है। इसी प्रकार संसारमें अपने कर्त्तव्यको पूर्णरूपसे करनेवाला ही उत्तम है। धन, प्रभाव, यश आदिसे किसीकी उत्तमताका अनुमान लगाना ठीक नहीं है।

जिस प्रकार काँटोंसे बचनेके लिये समस्त पृथ्वीतलपर चमड़ा नहीं बिछाया जा सकता, किन्तु पैरोंके चारों तरफ चमड़ा लपेटा जाता है, अर्थात् जूते पहने जाते हैं, उसी प्रकार दुःखसे बचनेके लिये हम संसारकी अनिष्ट वस्तुओंका नाश नहीं कर सकते, न उन्हें वश कर सकते हैं; किन्तु समताकी भावनासे अपनेको तदनुकूल कर सकते हैं।

इसलिये अगर हम दुखी न होनेका दृढ़ निश्चय कर लें, तो हमें कोई दुःखी नहीं कर सकता। ये सब तथा इसी तरहकी अन्यान्य

शिक्षाएँ दुख-सुखको हमारे अधीन कर सकती हैं । इस विषयमें रोगीके समान हमें दो बातोंपर विचार करना चाहिये—

रोगी मनुष्यके दो कर्त्तव्य होते हैं । एक रोगकी यथाशक्ति चिकित्सा करना और दूसरे सहनशक्तिसे काम लेना । ये ही दो कार्य दुःख-रोगियोंके लिये हैं—(१) संसारमें सुखकी वृद्धि करना । (२) सुखी माननेका दृढ़ निश्चय करना, अर्थात् सुखकी कला सीखना ।

शंका—मनुष्यको अगर इस प्रकार सुखी रहनेकी कला सिखाई जायगी, तो मनुष्य आलसी और कायर हो जायँगे । उनका संतोष उनकी पराधीनता या गुलामीका कारण हो जायगा जो कि परम्परासे धार्मिक, सामाजिक आदि हर तरहके पतनका कारण होगा ।

समाधान—सुखी रहनेकी कला और उसके साधन संतोष, उदासीनता, क्षमा, त्याग आदि गुणोंसे कायरता आदि दुर्गुणोंमें बहुत अन्तर है । हर एक गुणके पीछे गुणाभास लगा रहता है । जैसे अहिंसाके पीछे निर्बलता, क्षमाके पीछे कायरता, विनयके पीछे दीनता, आदि । उन गुणोंसे इन गुणाभासोंमें आकाश-पातालका अन्तर होता है । गुण जितने उपादेय हैं, गुणाभास उतने ही हेय हैं । ये गुण गुणाभास न बन जायँ, इसके लिये संसारमें सुखवृद्धि करनेकी पहिली बात हमें भूल न जाना चाहिये । और यह भी याद रखना चाहिये कि मन-वचन-कायकी क्रिया (योग) सदा होती ही रहती है । जब तक मृत्युका पल प्राप्त न हो जाय तब तक मन, वचन और काय कुछ न कुछ काम करते ही रहते हैं । जब काम होना अनिवार्य है तब सुख-वृद्धि या दुःख-हानिका काम होना चाहिये । इसलिये अपनी अपनी नीति और योग्यताके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको

सुखके साधनोंको जुटाना और दुःखके साधनोंको नष्ट करनेका कार्य करना आवश्यक है। सुखी रहनेकी कलाका यह मतलब नहीं है कि हम दुःखको दूर करनेका उपाय ही न करें; परन्तु हम एक दुःखको दूर करनेके लिए अन्य अनेक दुःखोंको मोल न ले लें, इसके लिये सुखी रहनेकी कला सीखना चाहिए। बीमार होनेपर चिकित्सा करना आवश्यक है, परन्तु अगर कोई बीमारीके नामसे घबरा जाय, तो उसकी बीमारी कई गुणी दुखद हो जायगी और साथ ही वह चिकित्सा भी न कर सकेगा। इसलिये हर हालतमें समभावको स्थिर रखना, यही सुखी रहनेकी कला है। दुःखके आने पर हमें उसका सामना करना चाहिए। सामना करनेके लिये दो बातें आवश्यक हैं। एक तो दुःखको नष्ट करना और उसकी चोटोंको सहन करना। जो आदमी शत्रुकी चोटोंको नहीं सह सकता, वह शत्रुका नाश भी नहीं कर सकता। उसी प्रकार जो आदमी दुःखकी चोटोंको नहीं सह सकता, अर्थात् दुःख आनेपर सम-भावपर स्थिर नहीं रह सकता, वह दुःखको नहीं जीत सकता।

लड़ाईमें कभी कभी ऐसा होता है कि जहाँ शत्रुका प्रवेश अधिक मात्रामें होता है वहाँसे अपना मोर्चा हटा लेना पड़ता है, जिससे शत्रुके गोले ख़ाली जगहमें पड़कर नष्ट हो जायँ। इसी प्रकार कभी कभी ऐसे दुःख आते हैं जिन्हें दूर करनेमें हमें अपने विनाशका, अर्थात् सम-भावके विनाशका ख़तरा रहता है। तब उन चोटोंको हम शरीरपर पड़ने देते हैं, और शरीरका त्याग कर देते हैं, अर्थात् उससे ममत्व हटा लेते हैं। सुख शरीरका धर्म नहीं है, किन्तु आत्माका धर्म है, इसलिए शरीरके दुःखसे आत्मा दुःखी नहीं होता।

जो लोग सुखी रहनेकी कलाके नामपर, आध्यात्मिक जीवनके नामपर, सन्तोष आदि गुणोंके नामपर, स्वयं गुलामी स्वीकार करते हैं और संसारमें दुःखकी वृद्धि होने देते हैं, वे इन सब गुणोंसे कोसों दूर हैं।

जैसा कि मैं पहिले कह चुका हूँ दुःखको जीतनेके लिए दो बातें हैं। या तो उसकी चोटको सहते हुए (समभाव रखकर दृढ़तासे आगे बढ़ते हुए) उसे नष्ट कर दो अथवा दुःखकी चोटोंके स्थानको छोड़ दो। जिन लोगोंमें समताभाव होता है, और जो शरीरमें भी निःसंग होते हैं, उनमें कायरता हो नहीं सकती, न वे गुलाम हो सकते हैं और न किसीको गुलाम होते देख सकते हैं। सुखी रहनेकी कला इसलिए नहीं है कि मनुष्य पशुकी तरह दुर्दशामें पड़ा रहे या अपनी सर्वतोमुखी दुर्दशा होने दे। इस कलासे मतलब है उस समभावका, जो घोरसे घोर विपत्तिमें भी निराशा और घबराहट नहीं होने देता; इस कलासे मतलब है उस वीर-रसका, जिससे मनुष्य विपत्तियोंको उसी तरह देखे जिस तरह शिकारी शिकारको देखता है। विपत्तियोंके सामने आत्मसमर्पण कर देना और गुलामी स्वीकार लेना इस कलाकी हत्या करना है।

साधारण अवस्थामें मनुष्य अगर स्वतन्त्रताके लिये या अन्य सुखके लिये प्रयत्न करता है किन्तु बीचमें उसे असफलता मालूम होती है या पराजय हो जाता है, तो घबरा जाता है, साहस छोड़ देता है, परन्तु जिसने सुखी रहनेकी कलाको जाना है वह हार करके भी नहीं हारेगा, निःसहाय हो करके भी निराश न होगा। पराजय, निराशा आदि शब्द उसके कोषसे निकल जायँगे। समभाव आदि गुण, अकर्मण्यताके लिये नहीं किन्तु, अनन्तकर्मण्यताके लिये हैं।

शंका—यदि ऐसा है तो धर्म निवृत्ति या गृह-त्यागका ही मुख्य उपदेश क्यों देता है ?

समाधान—इसके उत्तरमें तीन बातें कही जा सकती हैं—

(क) जगत्कल्याणके लिये और आत्मकल्याणके लिये निवृत्ति आवश्यक है । जो मनुष्य परिमित स्वार्थोंको लिये बैठा रहता है, वह जगत्कल्याणके लिये पूरी शक्ति नहीं लगा सकता । क्योंकि जहाँ सपरिग्रहता है, वहाँ व्यक्तिगत कार्योंका बड़ा भारी बोझ है । निष्परिग्रहके लिए यह बोझ नहीं है । वह घरमें रहे या बनमें रहे, परन्तु निष्परिग्रह होना चाहिए । निष्परिग्रहताका रूप सदा सर्वत्र एकसा नहीं होता । तथा निवृत्तिका अर्थ अकर्मण्यता नहीं है, किन्तु वैयक्तिक स्वार्थोंके बन्धनोंसे छूट जाना है ।

(ख) बहुतसे मनुष्य ऐसे हैं कि जो अनेक तरहकी तकलीफें बड़ी प्रसन्नतासे सह सकते हैं । परन्तु उन तकलीफ़ोंसे वे दूसरोंकी नज़रोंमें गिर जायँगे, इसलिए उनसे बचनेके लिए निरन्तर आकुलित रहते हैं । मान लो मैं प्रसन्नतासे रूखा-सूखा भोजन खा सकता हूँ । परन्तु इससे मैं कंजूस कहलाऊँगा, अथवा मेरे पास अच्छा भोजन करने लायक सम्पत्ति न होगी तो कंगाल कहलाऊँगा—इस अपमानसे बचनेके लिए आवश्यक न होनेपर भी मैं बहुपरिग्रही बनता हूँ । इसके लिए दूसरेको मिलनेवाली सम्पत्ति मैं हड़प जाता हूँ । इस तरह मेरा मानसिक कष्ट बढ़ता है और दूसरोंके साम्पत्तिक कष्टमें सहायक होता हूँ । परन्तु एक निष्परिग्रही साधु रूखा भोजन करनेसे अपमानित नहीं होता, इसलिये वह दूसरेके भागकी सम्पत्ति नहीं लेता ।

इस तरह वह स्वयं सुखी होता है और पर-कल्याण भी करता है। परिग्रहीकी अपेक्षा सच्चा निष्परिग्रही बहुत सुखी है।

(ग) पिछले जमानेमें आजकल सरीखे ज्ञान-प्रचारके साधन नहीं थे इससे, तथा पुस्तकों वगैरहसे उपदेश तो मिलता है परन्तु उसमें सजीवता नहीं होती इससे, उस समय साधु-संस्थाको विशाल बनानेकी आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त उस समय अन्न इतना अधिक था कि विशाल साधु-संस्था भी लोगोंको कोई कष्ट दिये बना निभ सकती थी। फिर इस बातका पूरा खयाल रक्खा जाता था कि कोई मनुष्य कुटुम्बियोंकी इच्छाके विरुद्ध, उत्तरदायित्व छोड़कर, तो नहीं भाग रहा है।

शंका—धर्मका उद्देश्य अगर स्व-पर-कल्याण है, तो वह अनावश्यक कष्टोंको निमन्त्रण देनेका विधान क्यों बताता है? बहुत दिनोंतक भूखे रहना, ठण्ढ गर्मीके कष्ट सहना, आदिसे न तो दूसरोंको सुख मिलता है, न अपनेको सुख मिल सकता है।

समाधान—धर्मने ऐसे तपोंको अन्तरंग तप नहीं किन्तु बाह्य तप कहा है। और इन बाह्य तपोंका मूल्य तभी स्वीकार किया है, जब ये प्रसन्नतासे और निराकुलतासे किये जावें। सुख जितना ही स्वाधीन होगा उतना ही पूर्ण होगा। इसलिये पराश्रितताका त्याग करनेके लिये और सहनशक्तिको बढ़ानेके लिये इन तपोंकी आवश्यकता है। हममें सहन-शक्ति जितनी अधिक होगी, दुःखके साथ हम उतना ही अधिक लड़ सकेंगे। यदि सहन-शक्ति आवश्यक है, तो उसका ऊँचासे ऊँचा रिकार्ड किस किस दिशामें कितना हो सकता है, इसका प्रयत्न करना भी आवश्यक है। एक मनुष्य प्रति

घण्टे २०० मीलकी चालसे मोटरकार दौड़ाता है। यदि व्यवहारमें इतनी चालसे मोटरें दौड़ाई जाने लगें, तो प्रतिदिन हजारों मनुष्योंको प्राण देना पड़ें। फिर भी ऐसे रिकार्ड लानेवालोंकी प्रशंसा होती है, क्योंकि इससे मोटरकारकी गतिको उत्तेजना मिलती है। जिस दिशामें हमें जाना है उस दिशामें कितना आगे बढ़ा जा सकता है, इसका सक्रिय पाठ दुनियाको पढ़ाना बड़ा भारी काम है। दूसरी बात यह है कि ठण्ड, गर्मी, भूख, प्यास आदिके कष्ट मनुष्यको कभी न कभी सहना पड़ते हैं। उस समय हम अपनेको शान्त रख सकें इसके लिये भी ये तप आवश्यक हैं। जो लोग पूजा करानेके लिये ऐसे तप करते हैं वे तपका फल नहीं पाते; तथा जो लोग यह नहीं समझते कि इन तपस्याओंसे सुखकी स्थिरता बढ़ती है तथा प्रकृतिके विरुद्ध लड़नेकी शक्ति आती है, वे लोग भी तपका फल नहीं पाते। इन तपोंको संयम समझनेवाले भी भूलमें हैं। ये तो सिर्फ संयमका अभ्यास करनेके लिये कसरतके समान हैं।

इससे भी अच्छा तप आत्मशुद्धि और सेवा है, जिसे कि अंतरंग तप कहा है। धर्मके किसी एक ही अंगपर ज़ोर देना, उस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका फल है। इसका यह मतलब नहीं है कि जिस अंगपर बहुत दिनोंतक ज़ोर दिया गया है, या जो रूप बहुत काल तक बना रहा है वही सब कुछ है। दूसरे अंग और दूसरे रूप भी हैं। उनका समयपर उपयोग करना भी आवश्यक है। यदि ऐसा न हो तो धर्म एकान्तधर्म और मिथ्याधर्म हो जाय, वह धर्म ही न रहे।

सार यह है कि धर्म सुखके लिये है। जो सुख बाह्य साधनोंपर ही अवलम्बित है, वह पूर्ण सुख नहीं है। स्वार्थपूर्ण दृष्टि बनानेसे वह मिल नहीं सकता। अपने हिस्सेका बाह्य सुख-भोगका हमें अधिकार है। पूर्ण सुखी बननेके लिये सुखी बननेकी कला जानना चाहिए। गुणभासोंसे बचना चाहिए।

धर्म-मीमांसाका उपाय

धर्मका उद्देश्य और उसकी विविधताका रहस्य समझ लेनेके बाद धर्मकी मीमांसाका कार्य बहुत सरल हो जाता है। धर्म सुखका कारण होनेपर भी दुःखका कारण क्यों हो जाता है, कलह-वर्द्धक क्यों हो जाता है, आदि बातोंको समझनेकी कुंजी हाथमें आ जाती है। जगत्कल्याणकी जो कसौटी बताई गई है, उसको ध्यानमें न रखनेसे, धर्मके नामपर अहंकारकी पूजा करनेसे, 'कल्याणकारी धर्म अकल्याणकारी बन जाता है। इसलिए धर्मसे लाभ उठानेके लिए हमें निम्नलिखित उपायोंकी योजना करना चाहिये—

१—हम सर्व-धर्म-समभावी बनें। अगर हमारा किसी धर्म-संस्थासे ज्यादा संपर्क है, तो हम भले ही उस संस्थाका अधिक उपयोग करें और आत्मीयता प्रकट करें; परन्तु दूसरी धर्म-संस्थाओंको अपनी धर्म-संस्थाके समान पवित्र मानें। उनसे लाभ उठानेका मौका मिलनेपर उनसे लाभ भी उठावें। ये सभी धर्म-संस्थाएँ मनुष्य-समाजको उन्नत बनानेके लिए थीं। उनकी रीति-नीतिमें अगर अन्तर माळूम होता है, तो उस अन्तरसे उन्हें भला-बुरा न समझें; किन्तु उसको देश-कालका असर समझें। करीब सवा हजार वर्ष पहिले अरबके लोगोंकी उन्नतिके लिए इस्लामने जो नियम बनाये,

यदि वे आज किसी देशके लिए निरुपयोगी हैं, तो इसीसे इस्लामको बुरा न समझें। हम इतना ही कहें कि यह नियम आजके लिए उपयोगी नहीं है, इसलिए दूर कर देना चाहिये; परन्तु अपने समयके लिए अच्छा था। इसी उदारतासे हमें वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी, आदि धर्मोंपर विचार करना चाहिये। हम उनकी आलोचना करें; परन्तु पूर्ण निष्पक्षतासे आलोचना करें। उनमेंसे वैज्ञानिक सत्यको खोज लें, बाकीको वर्तमान कालकी दृष्टिसे निरुपयोगी कहकर छोड़ दें। परन्तु इससे उस धर्मका निरादर न करें। जिस सम्प्रदायको हमने अपना सम्प्रदाय बना रक्खा है, उसकी आलोचना करते समय हमारे हृदयमें जितनी भक्ति रहती है, वही भक्ति हम दूसरे सम्प्रदायोंकी आलोचना करते समय रक्खें। अपने सम्प्रदायके दोषोंपर तो हम नजर ही न डालें, और दूसरे सम्प्रदायके दोष ही दोष देखें, यह बड़ीसे बड़ी भूल है। इससे हम किसी भी धर्मके अनुयायी नहीं कहला सकते—धर्मका लाभ हमें नहीं मिल सकता।

२—जो कार्य सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे अधिकतम प्राणियोंके अधिकतम सुखका कारण है, उसे ही धर्म समझें। इसके विरुद्ध कोई भी कार्य क्यों न हो,—भले ही बड़ेसे बड़ा महापुरुष या बड़ेसे बड़ा आगम ग्रंथ उसका समर्थन करता हो; परन्तु उसे हम धार्मिक न समझें। हमारे प्रत्येक कार्यमें यह उद्देश्य जरूर रहे। इस सिद्धान्तको हम अपने जीवनमें उतारनेकी कोशिश करें।

३—उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार सभी सम्प्रदायोंमें कुछ न कुछ हितकर तत्त्व रहते हैं। हम उन्हींको मुख्यता देनेकी कोशिश करें,

जिससे सब सम्प्रदायोंमें तथा उनके अनुयायिवर्गोंमें आदर और प्रेम बढ़े और सबके जुदे जुदे संगठनके बदले सबका एक संगठन बने। हिन्दूधर्मका कर्मयोग, जैनधर्मकी अहिंसा और तप, बौद्धधर्मकी दया, ईसाईधर्मकी सेवा, इस्लामका भ्रातृत्व, ये सब चीजें सभीके लिये उपयोगी हैं। अन्य सम्प्रदायोंमें भी अनेक भलाइयाँ मिलेंगीं। इन्हींको मुख्यता देकर अगर हम विचार करें, तो सब धर्मोंसे हमें प्रेम भी होगा, आपसका द्वेष भी नष्ट होगा, तथा सबका एक संगठन भी बन सकेगा। इसके लिये हमें जहाँतक बन सके सभी सम्प्रदायोंके धर्मस्थानोंका उपयोग करना चाहिये। अपने सम्प्रदायोंके मंदिरोंमें भी अन्य सम्प्रदायोंके महात्माओंके स्मारक रखना चाहिये। सभी सम्प्रदायोंके महात्माओंके स्मारक जहाँ बराबरीसे रह सकें, ऐसे स्थान बनाना चाहिये। इस प्रकार सर्व-धर्म-समभावको व्यावहारिक रूप देने और उसे जीवनमें उतारनेकी पूरी कोशिश करना चाहिये।

४—बहुत-सी ऐसी बातें हैं जो एक समय अच्छी थीं, उपयोगी थीं, क्षन्तव्य थीं, इसलिये शास्त्रोंमें या रूढ़िमें स्थान पा गई हैं; परन्तु आज वे उपयोगी नहीं हैं, इसलिये उन्हें हटा देना चाहिये। सिर्फ इसी बातको लेकर कि वे हमारे शास्त्रोंमें लिखी हैं, या पुरानी हैं, उन्हें चालू रखना अन्याय है। जो सर्व-धर्म-समभावी है, वह किसी एक धर्मशास्त्रकी दुहाई देकर किसी अनुचित बातका समर्थन क्यों करेगा? एक सम्प्रदायके शास्त्रमें किसी बातका विधान हो सकता है और दूसरे सम्प्रदायके शास्त्रमें उसका निषेध हो सकता है, तब सर्व-धर्म-समभावीके सामने एक जटिल प्रश्न खड़ा हो जाता है कि वह किसकी बात माने? ऐसी हालतमें उसे यही देखना चाहिये कि कल्याण

किसमें है ? अगर कोई बात सभी शास्त्रोंमें एकसी मिलती है अथवा उनमें जितने मत हों वे सभी वर्तमानमें हितकारी न हों, तो उन सबको छोड़कर उसे कल्याणकारी बात पकड़ना चाहिये। जैसे वर्तमानमें संकुचित जातीयता, स्त्रियोंके पुनर्विवाहका निषेध, पर्दाकी अधिकता, छूताछूतका अनुचित विचार, भूत-पिशाच आदिकी मान्यता, अविश्वसनीय अतिशय, आदि बहुतसे अहितकर तत्त्व आगये हैं, जो कि प्रगतिके नाशक तथा ईर्ष्या और दुरभिमानको बढ़ानेवाले हैं। इन सब कुतत्त्वोंको हटाकर विवेकी बनना चाहिये। एक जैन कहे कि महावीरके जन्म समय इन्द्रादि देवता पूजा करने आये थे, बौद्ध कहें कि बुद्धके जन्म समय ब्रह्मा-विष्णु-महेश मौजूद थे, वैष्णव कहे कि रामके जन्मसमय शिव इन्द्र आदि अयोध्याकी गलियोंके चक्कर काटते थे, तो ये सब बातें अन्ध-विश्वास और मूढ़ताके चिह्न हैं। इनसे विज्ञानकी हत्या होती है, समभाव नष्ट होता है, ईर्ष्या और दुरभिमान बढ़ता है। हमें धर्मको अधिकसे अधिक विज्ञानसंगत बनाना चाहिये और इसी बुनियादपर धर्म तथा समाजका नव-निर्माण या जीर्णोद्धार करना चाहिये।

५—*आज मानव-समाज कई तरहके भेदोंमें बँटा हुआ है।* साम्प्रदायिक भेद तो हैं ही, साथ ही और भी अनेक तरहके वर्ग बना लिये गये हैं और इस प्रकार वर्गयुद्ध चालू हो गया है। मनुष्य अपना पेट भरके सन्तुष्ट हो जाता तो गनीमत थी; परन्तु वह इतनेमें सन्तुष्ट नहीं होता, वह यह कोशिश करता है कि हमारी जातिके सब मनुष्योंका पेट भरे और हम सब संगठित होकर दूसरोंको लूटें। इसीलिये एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको पीस डालना चाहता है। लाखों-

करोड़ों मनुष्य दूसरे देशपर शासक बनकर मौज करना चाहते हैं। दूसरे जातिके अच्छेसे अच्छे सदाचारी त्यागी गुणी विश्वसनीय व्यक्तिसे उतनी आत्मीयता प्रकट नहीं करना चाहते जितनी कि अपने वर्गके पतितसे पतित व्यक्तिके साथ करना चाहते हैं। इस राष्ट्रीय जाति-भेदसे आज दुनियाकी राजनीति-अर्थनीति भयंकर तांडव कर रही है और उससे मनुष्य-जाति त्राहि त्राहि पुकार रही है। जरूरत इस बातकी है कि मनुष्य-जाति एक ही मान ली जाय जैसी कि वह है। शासनकी सुविधाके लिये राष्ट्रीय भेद रहें, परन्तु एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रपर पशु-बलसे तथा और किसी ढंगसे आक्रमण न करे। अगर किसी देशमें मनुष्य-संख्या ज्यादः है, तो कम संख्यावाले देशमें जाकर वे इस शर्तपर बस जायँ कि अपनेको हर तरह उसी देशका बना लेंगे, वहाँकी भाषा आदिको अपना लेंगे। उन देशोंपर आक्रमण करके, उन्हें दलित करके अपने वर्गका पोषण करना मनुष्यताका नाश करना है। इससे संसारमें शान्ति नहीं हो सकती। इस नीतिसे कोई चैनसे नहीं बैठ सकेगा और बारी बारीसे सबको पिसना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त एक राष्ट्रके भीतर भी अनेक तरहके वर्ग बने हुए हैं। जैसे भारतवर्षमें हिन्दू-मुसलमानोंमें जाति-भेद और सम्प्रदाय-भेदसे घोर संग्राम छिड़ा रहता है। इसके अतिरिक्त हिन्दू समाजमें ही करीब चार हजार जातियाँ हैं, जिनमें परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार नहीं, इससे पारस्परिक सहयोगका लाभ नहीं मिल पाता है। पड़ोसमें रहते हुए भी न रहनेके बराबर कष्ट उठाना पड़ता है। ये वर्ग-भेद भी ईर्ष्या और दुरभिमानके बढ़ानेवाले हैं। इन सब

भेदोंको तोड़ देनेकी जरूरत है। हाँ, जीवनमें मित्र-वर्ग या सम्बन्धी-वर्ग बनानेकी जरूरत होती है, सो जहाँ चाहेसे बनाना चाहिये। अमुक वर्गमेंसे ही चुनाव कर सकें, यह भेद न होना चाहिये। इस प्रकार जब हममें सर्व-जाति-समभाव आ जायगा, तो हममेंसे वर्ग-युद्धके तथा ईर्ष्या और दुरभिमानके बहुतसे कारण नष्ट हो जायँगे, तथा हमें प्रगतिके लिये तथा सुविधापूर्वक जीवन बितानेके लिये बहुतसे साधन मिल जायँगे। इसलिये हमें अपने दिलमेंसे जाति-उपजातिका मोह निकाल देना चाहिये, जातीय और साम्प्रदायिक विशेषाधिकारोंकी माँग छोड़ देना चाहिये, जातिके नामपर रोटी-बेटी-व्यवहारका विरोध न करना चाहिये। इस प्रकार सर्व-धर्म-समभावीके समान सर्व-जाति-समभावी भी बनना चाहिये।

६—सर्व-जाति-समभावकी तरह नर-नारी-समभाव भी अत्यावश्यक है। यह सर्व-जाति-समभावका एक अंग है। नर-नारीकी शारीरिक विषमता है, परन्तु वह विषमता ऐसी है जैसी कि एक शरीरके दो अंगोंमें होती है। नर-नारी एक दूसरेके लिये पूरक हैं। इसलिये एक दूसरेकी उन्नतिमें एक दूसरेको बाधक नहीं होना चाहिये और जहाँ तक बन सके अधिकारोंमें समानता होना चाहिये। अनेक स्थानोंपर स्त्रीकी अवस्था गुलाम सरीखी है। उसके आर्थिक अधिकार पूरी तरह छिने हुए हैं। फूटी कौड़ीपर भी उसका स्वामित्व नहीं है। यह दुःपरिस्थिति जाना चाहिये। जहाँ तक बन सके, स्त्री-पुरुषोंमें आर्थिक समताका प्रचार होना चाहिये। अगर विषमता रहे भी, तो वह कमसे कम हो। सामाजिक अधिकारोंमें भी विषमता न होना चाहिये। स्त्री सिर्फ इसीलिये किसी कार्यसे वञ्चित न हो सके

कि वह स्त्री है। धार्मिक अधिकारोंमें तो विषमताका कोई मतलब नहीं है। फिर भी पुरुषने धार्मिक क्रिया-कांडोंमें नारीके अधिकार छीने हैं। उससे पुरुषको कोई लाभ भी नहीं हुआ। इसलिये यह विषमता भी दूर करनी चाहिये। इस प्रकार सर्वजाति-समभावके समान नर-नारी-समभावकी भी जरूरत है।

इस प्रकार यदि हम सर्व-धर्म-समभाव, सर्व-जाति-समभाव, विवेक या समाज-सुधारकता, निःस्वार्थता आदि गुणोंको लेकर धर्मकी मीमांसा करेंगे, तो सच्चे धर्मको प्राप्त कर सकेंगे। उस धर्मको जीवनमें उतारनेसे हमारा भी कल्याण होगा और जगतका भी कल्याण होगा।

धर्म-मीमांसा और जैनधर्म

यहांतक धर्मके विषयमें जो विवेचन किया गया है उसका सार सभी धर्मोंमें पाया जाता है। अगर हममें सम-भाव आदि गुण हों तो हम किसी भी धर्मका सहारा लेकर सच्चे धर्मकी प्राप्ति कर सकते हैं। जो धर्म जिस समय पैदा होता है अगर उस समयकी परिस्थितिका प्रभाव उसमेंसे निकाल दिया जाय और उस धर्मके तीर्थंकरकी मनोवृत्ति प्रगट हो जाय तो धर्मोंमें विरोध ही न रहे।

परन्तु देश-कालकी परिस्थितिकी छाप धर्मोंके रूपपर रहती है, लोगोंके पास पहुँचानेके लिये उसमें कुछ असत्यका मिश्रण भी हो जाता है तथा देश-कालके बदलनेसे उसकी कई बातें आजके लिये निरुपयोगी भी हो जाती हैं। इसलिये अगर उस धर्मको फिर सुसंस्कृत किया जाय उसके लौकिक रूपको प्रगट करनेकी कोशिश की जाय तभी वह धर्म उपयोगी धर्म बन सकता है।

अन्य धर्मोंके समान जैनधर्म भी इन तत्त्वोंसे भरा हुआ है। इसके प्रवर्तकोंकी मनोवृत्ति चिरकाल तक वैज्ञानिक रही है। पुरानी कथाओं और विचारोंको सुधार सुधार करके इस धर्मके विद्वान् उन्हें विश्वसनीय बुद्धिग्राह्य और तर्कसंगत बनाते रहे हैं।

जैनधर्मका जो स्याद्वाद है वह तो सर्व-धर्म-सम-भावका ही नामान्तर है। स्याद्वादके द्वारा जैनधर्मने सब धर्मोंका समन्वय किया है। हाँ, इसका उपयोग विशेषतः दार्शनिक क्षेत्रमें ही हो पाया है, इसलिये जनसाधारणने इससे लाभ नहीं उठा पाया परन्तु इसके प्रवर्तकका लक्ष्य यही था।

जाति-पाँतिका भेद तथा नर-नारीके अधिकारोंकी विषमता आदि तो मूल जैनधर्ममें है ही नहीं, यह बात उसके साहित्यसे साफ समझी जा सकती है। इस प्रकार इस धर्ममें सर्व-धर्म समभाव सर्व-जाति-समभाव विवेक आदि उपयोगी गुणोंने काफी जगह रोकी है। परन्तु पिछले ढाई हजार वर्षमें इसमें भी विकृति आगई है जोकि उपर्युक्त गुणोंके साथ मेल नहीं खाती तथा इस धर्मके मूल उद्देश्यपर कुठाराघात कर रही है, इसलिये अब उसकी अग्नि-शुद्धि करके सत्य जैनधर्मको प्रकाशमें लानेकी जरूरत है।

जैन-साहित्यमें ही इतना मसाला है कि अगर कोई मनुष्य निष्पक्ष और गंभीर दृष्टिसे उसका निरीक्षण करे तो वास्तविक बात छुपी न रहेगी तथा उसे जैनधर्मके वर्तमान रूपकी अपेक्षा एक दूसरे ही दिव्य रूपका दर्शन होगा।

अगर कोई बात जैन-साहित्यमें न मिले परन्तु आज उसकी जरूरत हो, तथा पिछले ढाई हजार वर्षके प्रयत्नने कुछ नई चीज़ हमारे

सामने रक्खी हो तो हमें निःसंकोच होकर उसे अपना लेना चाहिये। यह समझना कि हम अपने पूर्वजोंसे आगे नहीं बढ़ सकते, भूल है। हम उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करें परन्तु उसके लिये अपने विकासको ही न रोक लें और परिस्थितिके प्रतिकूल बातोंको न अपनाए रहें।

प्राचीनताकी बीमारी एक बड़ी भारी बीमारी है इसे दूर ही रक्खें। झूठ बोलना, चोरी करना, हिंसा करना, आदि पाप किसी भी धर्मसे पुराने हैं परन्तु इसीलिये वे उपादेय नहीं हैं। हमें सत्य और कल्याणकारिताका उपासक होना चाहिये न कि प्राचीनता या नवीनताका।

इस प्रकार पूर्ण निष्पक्षताके साथ समभावपूर्वक आगेके पृष्ठोंमें जैनधर्मकी मीमांसा की जाती है जिससे उसका मर्म मालूम हो और उससे वास्तविक और पूरा लाभ उठाया जा सके।

दूसरा अध्याय

ऐतिहासिक निरीक्षण

जैनधर्मकी स्थापना

किसी धर्मका ऐतिहासिक निरीक्षण किये विना उसका रहस्य समझमें नहीं आता। धर्म-संस्थाओंकी स्थापना जन-समाजके कल्याणके लिये और उसकी उन्नतिके लिये हुआ करती है, इसलिये धर्म-संस्थाका निर्माण भी जन-समाजकी परिस्थितिके अनुकूल हुआ करता है। एक ही आदमी दो भिन्न भिन्न देशों और समयोंमें अगर धर्म-संस्थाएँ बनावें तो दोनों ही संस्थाएँ जुदे जुदे ढंगकी होंगीं। इससे समझा जा सकता है कि धर्म-संस्थाओंके नियम अटल-अचल नहीं हैं किन्तु देश-कालकी परिस्थितिके फल हैं। इसलिये देश कालके बदलनेपर उनको बदलनेका कार्य उचित है। इस रहस्यके ज्ञानसे मनुष्यमेंसे धार्मिक कट्टरता कम होती है, दूसरे धर्मोंसे घृणा कम होती है, विचारकता और सुधारकता आती है और इस प्रकार वह धार्मिकता और वैज्ञानिक सत्य, दोनों प्रकारके सत्यके नजदीक पहुँचता है।

धर्मोंके ऐतिहासिक निरीक्षणमें हमें अधिकसे अधिक सामग्री उसी धर्मके साहित्यसे मिलती है। परन्तु उसमेंसे सत्य निकालना बड़ा कठिन होता है। क्योंकि धर्म लोगोंके जीवनका सर्वस्व होता है और उनकी दृष्टिमें उसका स्थान भी सर्वोच्च है। फल यह होता है कि धार्मिक साहित्यमें दूसरे धर्मोंकी निन्दा और अपने धर्मकी अत्यधिक

प्रशंसा भर जाती है। बड़े बड़े विद्वान् और सत्यपरायण व्यक्ति भी धर्मोन्नतिके लिये असत्य कल्पनाओंका आश्रय लेते हैं। कभी कभी लोक-हितकी दृष्टिसे भी उन्हें ऐसा करना पड़ता है। परन्तु कालान्तरमें असत्यका दुष्फल समाजको भोगना ही पड़ता है।

ऐतिहासिक निरीक्षणमें धार्मिक साहित्यका उपयोग तो करना चाहिए परन्तु विना विचारे उसे प्रमाण न मानना चाहिये। अगर वह वर्णन स्वाभाविक हो तथा असत्य बोलनेका कोई पर्याप्त कारण न मिलता हो तभी उसे सत्य स्वीकार करना चाहिये।

ऐतिहासिक निरीक्षणमें सबसे पहले प्राचीनताकी बीमारीका सामना करना पड़ता है। अधिकतर धर्मोंका साहित्य अपने अपने धर्मोंको अनादि या लाखों वर्षका पुराना कहता है। यहाँ तक कि वह मनुष्य-जातिके इतिहाससे भी आगे बढ़ जाता है। सच पूछा जाय तो यह प्राचीनताकी बीमारी है। मनुष्यके स्वभावमें जो स्थिति-पालकता या रूढ़ि-प्रियता रहती है उसीका यह फल है जो कि धार्मिक साहित्यमें भी घुस गया है।

सच पूछा जाय तो प्राचीनकी अपेक्षा नवीन अधिक हितकर होता है। प्राचीनकी अपेक्षा नवीनमें तीन विशेषताएँ होती हैं।

१—नवीन हमारी परिस्थितिके निकट होनेसे प्राचीनकी अपेक्षा हमारी परिस्थितिके अधिक अनुकूल होता है।

२—ज्यों ज्यों समय जाता है त्यों त्यों मूल वस्तु विकृत या परिवर्तित होती जाती है और प्राचीनकी अपेक्षा नवीनमें कम विकार पैदा होते हैं इसलिये नवीनका मौलिक रूप हमारे सामने अधिक स्पष्ट होता है।

३—प्राचीनके कर्ताको जितना अनुभव और साधन-सामग्री मिलती है नवीनके कर्ताको उससे अधिक अनुभव और साधन-सामग्री मिलती है, जिसका प्रभाव नवीन वस्तुपर पड़ता है।

इसका यह मतलब नहीं है कि जितना नवीन है सब अच्छा है। तात्पर्य इतना ही है कि प्राचीनकी अपेक्षा नवीनको अच्छा होनेका अधिक अवसर है। हो सकता है कि किसी नवीनमें अधिक अवसरका ठीक ठीक पूरा उपयोग न हुआ हो और किसी प्राचीनमें कम अवसरका भी उचित उपयोग हुआ हो, इसलिये कहींपर कोई प्राचीन नवीनकी अपेक्षा अच्छा हो। परन्तु अवसरोंका समान उपयोग किया गया हो तो प्राचीनकी अपेक्षा नवीन अधिक अच्छा है। अगर हमें दो विचारोंमेंसे किसी एकका चुनाव करना हो और उसकी जाँच करनेका और कोई साधन हमारे पास न हो तो प्राचीनकी अपेक्षा नवीनका चुनाव कल्याणकर है। प्राचीनताके मोहने अनेक असत्यताओं और अनर्थोंको जन्म दिया है, इसलिये इस विषयका पक्षपात सर्वथा हेय है।

कहा जा सकता है कि जब प्राचीनता इस प्रकार हेय है तब सभी धर्मोंके आचार्योंने अपने अपने धर्मको प्राचीनतम सिद्ध करनेकी कोशिश क्यों की? इसका कारण है जनताका आक्रमण। सुधारकों और क्रान्तिकारियोंके विरुद्ध जनताका आक्रमण होता ही है। परन्तु उनकी युक्तियोंके आगे जब वह टिक नहीं सकती तब उसका कहना यही होता है कि "आजतक तुम्हारे सुधारके विना दुनियाका काम कैसे चला? यदि तुम्हारे बताये हुए मार्गसे ही आत्माका कल्याण हो सकता है, तब क्या आजतक कभी किसीका कल्याण हुआ ही नहीं?

प्राचीन कालके सब महापुरुष क्या कल्याणहीन थे? आज तुम्हीं एक नये सूर्य ऊगे हो? यदि तुम्हारे धर्मके विना भी आजतक जगत्का काम चला है, लोगोंका कल्याण हुआ है तो हमारा भी होगा। हमें तुम्हारे धर्मकी कोई ज़रूरत नहीं है।"

इस आक्षेपका युक्तियोंसे अच्छा उत्तर दिया जा सकता है, परन्तु प्राकृत जनको युक्तियोंसे संतोष नहीं होता। वह बुद्धिकी सन्तुष्टि नहीं चाहता किन्तु मनकी सन्तुष्टि चाहता है। भले ही वह कल्पनाओंसे ही क्यों न की जाय। इसलिए धर्म-संस्थापकों और प्रचारकोंको उसी मार्गका अवलम्बन लेना पड़ता है। वे घोषित करते हैं कि हमारा धर्म सृष्टिके या युगके आरम्भसे ही है और प्रत्येक सृष्टिमें—प्रत्येक युगमें उसका आविर्भाव तिरोभाव होता है, इस प्रकार वह अनादि है।

इसकी उपपत्ति बिठलानेके लिये कल्पित इतिहास रचा जाता है। प्राचीन युगके कल्पित अकल्पित जिन व्यक्तियोंने लोगोंके हृदयमें स्थान जमा लिया होता है उन सबको अपने सम्प्रदायका सिद्ध कर लिया जाता है उनके जीवन-चरित्र बदलकर संस्कृत कर लिये जाते हैं। कोई उन्हें अवतार, कोई तीर्थंकर और कोई पैगम्बर बना देता है। इस प्रकार प्राचीन महापुरुषोंको अपना मित्र बनाकर उनके आसनपर अपना स्थान बना लिया जाता है, और इस प्रकार लोगोंको समझा दिया जाता है कि हमारे इस धर्मके विना न कभी जगत्का काम चला है न चलेगा। हमारा यह धर्म नया नहीं है किन्तु प्राचीन धर्मका पुनरुद्धार है। प्रायः सभी धर्म-संस्थापकों और प्रवर्तकोंको इसी नीतिसे काम लेना पड़ा है। प्राचीन समयकी परिस्थितिपर विचार करते हुए

यह अपराध क्षन्तव्य है। परन्तु अब जगत् इतना आगे बढ़ गया है कि इस रद्दी शस्त्रका उपयोग आजकल निरर्थक और दुरर्थक है।

हिन्दू धर्ममें अनेक या चौबीस अवतार, जैनियोंमें चौबीस तीर्थंकर, बौद्धोंमें चौबीस बुद्ध, और ईसाई और मुसलमानोंमें अनेक—सैकड़ों हजारों—पैगम्बरोंका वर्णन आता है। इनमें अनेक ऐतिहासिक व्यक्ति होते हैं और अनेक कल्पित। परन्तु उनको जो अपने धर्मका जामा पहिना दिया जाता है वह पूर्ण कल्पित होता है।

धर्मके प्रचारके लिये तथा धर्म-संस्थाको बद्धमूल करनेके लिये ये उपाय भले ही उपयोगी हुए हों परन्तु इनका ऐतिहासिक मूल्य नहींके बराबर है। यहाँ हम उनकी हितैषिताका जितना दर्शन पाते हैं ऐतिहासिक सत्यताका उतना ही अभाव पाते हैं। इसलिये जब हम ऐतिहासिक दृष्टिसे धर्मोंका अध्ययन करना चाहें तब हमें धर्म-शास्त्रोंका कठोर परीक्षण करना पड़ेगा। श्रद्धालु हृदयको इससे कष्ट पहुँच सकता है परन्तु हृदयका मवाद निकालनेके लिये यह आवश्यक है।

जो लोग धर्मको उसके संस्थापकसे भी प्राचीन मानते हैं वे धर्म और धर्म-संस्थाके भेदको भूलकर बड़ीसे बड़ी भूल करते हैं। धर्मकी प्राचीनताको धर्म-संस्थाकी प्राचीनता समझना ऐसा ही है जैसे कि पानीकी प्राचीनताको किसी तालाबकी प्राचीनता समझना। धर्म तो एक ऐसा व्यापक तत्त्व है जो आंशिक रूपमें सभी धर्म-संस्थाओंमें रहता है। वह इतिहासातीत है या प्राणि-जगत्का इतिहास ही उसका इतिहास है; जब कि धर्मसंस्था मनुष्यके द्वारा बनाई हुई एक संस्था है जोकि किसी खास देश कालके लोगोंके हितके लिये बनाई गई है। धर्मरूपी वस्तुकी वह एक अवस्था है जिसका आदि भी है और अंत भी है।

धर्म-संस्थामें धर्मके मौलिक तत्त्व अवश्य रहते हैं। उसके नियमोप-नियम क्रिया-कांड आदि देश-कालके अनुसार बनाये जाते हैं और उनमेंका अधिकांश मसाला प्राचीन धर्म-संस्थाओंमेंसे लिया जाता है। जहाँ तक बनता है पुरानी धर्म-संस्थाओंके खास खास शब्द अपनाये जाते हैं और उनका नया अर्थ किया जाता है जिससे शब्दभीरु जनता विना किसी हिचकिचाहटके नूतन समयोपयोगी अर्थ ग्रहण कर ले।

असल बात जो यहाँ ध्यानमें रखनेकी है वह यह कि एक धर्म-संस्थामें दो तीर्थंकर नहीं होते। तीर्थंकरका अर्थ है तीर्थको बनानेवाला। तीर्थ धर्मका एक सामयिक रूप है। धर्म अगर पानी है तो धर्म-तीर्थ एक तालाब है। जिनको आज हम धर्म कहते हैं वे एक एक तीर्थ हैं। अगर तीर्थंकर दो हैं तो समझना चाहिये कि तीर्थ भी दो हैं। जैन-धर्म भी एक धर्म-संस्था है, एक धर्म-तीर्थ है, इसलिये उसका कोई तीर्थंकर अवश्य होना चाहिये और एक ही होना चाहिये।

आधुनिक जैनशास्त्रोंके अनुसार जैन तीर्थंकर चौबीस हुए हैं। भोग-भूमि और प्रलयके बीचके प्रत्येक महान् युगमें चौबीस चौबीस तीर्थंकर होते रहते हैं, इस प्रकार जैनधर्म अनादि है।

इस वक्तव्यमें वही मनोवृत्ति काम कर रही है जिसका ज़िकर मैं ऊपर कर आया हूँ कि धर्म-संस्थाके नेताओंको अपनी धर्म-संस्था अनादि और प्राचीन सिद्ध करना पड़ती है। इसी प्रकार जैन नेता-ओंको भी यही करना पड़ा। साथ ही एक कल्पित इतिहास तथा विश्व-रचनाका रूप दिखलाना पड़ा। इसीके अनुसार तीन तीन

कोसके मनुष्य तथा अर्बों खर्बों तथा असंख्य योजनोंके द्वीप समुद्रोंकी कल्पना करना पड़ी। अर्बों खर्बों तथा असंख्य वर्षोंकी आयुवाले मनुष्योंका कल्पित इतिहास भी लिखना पड़ा। जैनशास्त्रोंके अनुसार इस युगमें जैनधर्मके संस्थापक महात्मा ऋषभदेव थे। उनकी आयु ५९२७०४०००००००००००००००० पांच हजार नवसौ सत्ताईस शंख-वर्षोंकी थी और शरीर भी एक हजार गज लम्बा था। इसके पहले इससे भी करोड़ों गुणी या असंख्य गुणी आयु और बारह हजार गजका शरीर होता था। इतनी ऊँचाईपर तो हवा इतनी पतली रह जाती है कि उससे मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। अगर ये सब बातें सूक्ष्मताके साथ लिखी जायँ तो सैकड़ों हास्यास्पद बातें लिखना पड़ेंगीं। इन सब वर्णनोंको इतिहासकी आधार-शिला बनाना इतिहासकी मिट्टी-पलीद करना है।

परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि जिनने ये कल्पनाएँ की थीं वे मूर्ख थे, मिथ्यावादी थे या वञ्चक थे। वास्तवमें वे विद्वान्, चतुर, सत्यवादी और लोकहितैषी थे। जब उन्होंने देखा कि इस प्रकारकी बातें सुनाये विना जनताको सन्तोष नहीं होता और उसके विना वह धर्ममार्ग—सदाचारको भी स्वीकार नहीं करती, तब उनने जन-हितकी दृष्टिसे यह सब किया। इसलिये हरएक धर्मके साहित्यमें ऐसा वर्णन मिलता है। यह धर्म-संस्थापकोंकी मनोवैज्ञानिक चतुरता है। इसे इतिहास समझ लेना भूल है। आज इसका बिलकुल उपयोग नहीं है, परन्तु कभी था।

इस कथनसे इतनी बात तो स्पष्ट हो ही जाती है कि जैनधर्मके चौबीस तीर्थंकरोंका वर्णन कल्पित है। इसके अतिरिक्त ऊपरकी

उस बातपर भी विचार करना चाहिये कि किसी धर्ममें क्रमशः दो तीर्थंकर नहीं हो सकते। अगर तीर्थंकर दो होंगे, तो धर्म भी दो हो जायँगे। जो नया तीर्थ बनाता है वही तीर्थंकर कहलाता है, अन्यथा जैन-शास्त्रोंके ही शब्दोंमें तीर्थंकर-बराबर ज्ञानी हो जानेपर भी कोई तीर्थंकर नहीं कहलाता। म० महावीरकी तरह जम्बूस्वामी आदि भी केवली या अर्हत् थे परन्तु वे तीर्थंकर नहीं कहलाये। क्योंकि उन्होंने नयी धर्म-संस्थाका निर्माण नहीं किया था किन्तु म० महावीरद्वारा निर्दिष्ट मार्गका ही अनुकरण किया था। प्रत्येकबुद्ध केवली ऐसे होते हैं कि उन्हें किसी गुरुकी आवश्यकता नहीं होती, फिर भी वे तीर्थंकर नहीं कहलाते, क्योंकि वे किसी धर्म-संस्थाकी स्थापना नहीं करते। जब कोई तीर्थंकर बनता है तो वह नया धर्म बनाता है। इसलिये हम महावीर स्वामीको ही जैन तीर्थंकर कह सकते हैं। उस समय भी और बहुतसे तीर्थंकर—म० बुद्ध वगैरह—थे और पहले भी बहुतसे म० पार्श्वनाथ वगैरह हो गये थे परन्तु वे जैन तीर्थंकर नहीं थे। जिसको आज हम जैनधर्म कहते हैं वह तो म० महावीरके समयसे ही है। इसके पहले और बहुतसे धर्म थे, म० पार्श्वनाथका भी धर्म प्रचलित था, परन्तु वे सब जुदे धर्म थे।

म० महावीरने अगर म० पार्श्वनाथको तीर्थंकर स्वीकार कर लिया था तो इसका यह मतलब नहीं है कि जैनधर्म म० महावीरसे पुराना सिद्ध हो गया। परन्तु इसका सिर्फ इतना मतलब होगा कि म० पार्श्वनाथने भी एक धर्म-संस्था बनाई थी, इसलिये वे तीर्थंकर थे। वह संस्था शिथिल हो गई थी इसलिये उस संस्थाके आश्रित व्यक्ति म० महावीरके झंडेके नीचे आ गये थे। पार्श्व-धर्मका आज कोई साहित्य

मिलता नहीं है इसलिये कह नहीं सकते कि इन दोनों धर्मोंमें क्या अन्तर था। जैन शास्त्रोंमें थोड़ासा वर्णन मिलता है उससे उस अन्तरकी कुछ बातें मालूम होती हैं।

पार्श्व-धर्म और जैन-धर्मके मिल जानेका एक विशेष कारण यह था कि म० महावीरके पिता सम्भवतः इसी धर्मके अनुयायी थे। परन्तु उस युगकी समस्याओंको हल करनेमें पार्श्व-धर्मको अपर्याप्त समझकर महावीर स्वामीने नई धर्म-संस्थाकी नीव डाली और उस नये धर्ममें पुराने लोगोंको भी खींच लिया। परन्तु इस प्रकार अनुयायियोंके मिल जानेसे दो धर्म एक धर्म नहीं बन सकते।

दो तीर्थंकर और दो धर्मके नियमको समझनेके लिये पश्चिमके धर्मोंपर भी हमें नज़र डाल लेना चाहिये। म० मुहम्मदने अपनेको पैगम्बर कहनेके साथ म० ईसा, म० मूसा आदिको भी पैगम्बर कहा था और कहा था कि उनके धर्मको लोग भूल गये, इस लिये ईश्वर मेरेद्वारा उसका प्रकटीकरण कर रहा है। परन्तु इसीलिये इस्लामका प्रारम्भ म० ईसा, म० मूसा या म० इब्राहीमसे नहीं कहा जा सकता। उसका प्रारम्भ म० मुहम्मदसे ही कहा जाता है जो कि उचित है। इस प्रकार तीर्थंकर कितने भी हो गये हों परन्तु जैन-धर्मका प्रारम्भ म० महावीरसे ही कहा जायगा।

म० महावीरने जिस धर्म-संस्थाको जन्म दिया उसका नाम आज जैनधर्म है परन्तु यह नाम म० महावीरसे पीछेका है। धीरे धीरे जब ‘ जिन ’ नाम म० महावीरके लिये रूढ़-सा हो गया तब उनकी संस्थाका नाम भी जैन हो गया। म० महावीरके समयमें तो उनके अनुयायियोंका खास नाम नहीं बना था। महावीर स्वामी ‘ निग्गण्ठ

नातपुत्त ' के नामसे प्रख्यात थे और उनके अनुयायी उनके अनुयायी कहलाते थे, आज कल सरीखा कोई खास नाम नहीं था। जिन, बुद्ध, अर्हत्, आदि नाम साधारण नाम थे जो कि किसी भी श्रमण-सम्प्रदायके श्रेष्ठ महात्माके लिये लगाये जाते थे और निगण्ठ शब्द नग्न महात्माओंके लिये लगाया जाता था। इन शब्दोंका उपयोग महावीर, बुद्ध, गोशालक आदिके लिया हुआ है। निगंठ शब्दका उपयोग भी महावीर, गोशालक, पूर्ण काश्यप आदिके लिये होता था। मतलब यह कि ये शब्द साम्प्रदायिक नहीं थे किन्तु अमुक गुण या वेषको बतलानेवाले थे। इस लिये इन शब्दोंके मिल जानेसे यह समझना कि अमुक सम्प्रदाय उतना प्राचीन है भूल है। आर्य और ब्रह्म शब्द बहुत प्राचीन हैं परन्तु इसीलिये आर्यसमाज ब्राह्मसमाज आदि संस्थाएँ प्राचीन नहीं कही जा सकतीं। कोई भी धर्म अपने तीर्थंकरसे पुराना नहीं होता। हाँ, उसमें आये हुए सैकड़ों आचार-विचार तथा वेष आदि पुराने होते हैं। इस लिये जैनधर्मको म० महावीरके बराबर पुराना कहना चाहिये, इसके पहलेका नहीं।

म० पार्श्वनाथ अवश्य ही एक ऐतिहासिक महापुरुष थे। उनका धर्म करीब दो-ढाईसौ वर्ष तक चला परन्तु उसमें शिथिलता आ जानेसे उसके अनुयायी जैनधर्ममें मिल गये। इस लिये पार्श्व-धर्म और वीर-धर्म दो धर्मके रूपमें एक साथ न रह सके। इसलिये बहुतसे ऐतिहासिक विद्वान् भी म० पार्श्वनाथके धर्मको भी जैनधर्म ही समझते हैं। परन्तु जब दोनों ही तीर्थंकर थे तब दोनोंके धर्म एक नहीं हो सकते। हाँ, अन्य सम्प्रदायोंकी अपेक्षा उनमें कुछ अधिक समानता हो सकती है।

दुर्भाग्य यह है कि पार्श्व-धर्मका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं होता

और वीर-धर्मका साहित्य भी ज्योंका त्यों उपलब्ध नहीं है। केशी-गौतम-संवाद ही एक ऐसी घटना है जिससे इस विषयपर कुछ प्रकाश पड़ता है परन्तु वह भी इतना अविकृत नहीं है कि उससे सब बातोंका ठीक ठीक परिचय मिल सके। उससे सिर्फ म० पार्श्वनाथका अस्तित्व सिद्ध होता है और वीर-धर्मसे वह जुदा धर्म था जिसके अनुयायी विरोध करनेके बाद वीर-धर्ममें आगये थे, यह भी माळूम होता है।

उत्तराध्ययन म० महावीरके कई सौ वर्ष पीछेकी रचना है और अपने समयकी छाप भी उसपर है। उसका केशी-गौतम संवाद एक सत्य-घटनाका उल्लेख करता है अवश्य, फिर भी उसका वह शुद्ध वर्णन नहीं करता। इसलिये उसकी आलोचना करते समय उसे अक्षरशः प्रमाण नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार न्यायालयमें साक्षीका वक्तव्य पूर्ण प्रमाण नहीं माना जाता किन्तु उसकी परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार यहाँ भी हमें उस अध्ययनका परीक्षण करना पड़ेगा। साक्षीके मुँहसे जब कोई ऐसी बात निकलती है जो उसीके पक्षके विरुद्ध हो, तब उस बातपर विशेष ध्यान दिया जाता है और माना जाता है कि अपने ही पक्षके विरुद्ध बोलना सत्यको न छिपा सकनेका फल है। इसी प्रकार हमें भी यही विचार करना पड़ेगा।

उत्तराध्ययनमें, और उसके केशी-गौतम-संवाद प्रकरणमें भी बहुतसी बातें ऐसी हैं जिनका ऐतिहासिक मूल्य कुछ नहीं है। जैसे चौबीस तीर्थंकरोंका उल्लेख होना, यक्ष किन्नर गंधर्वोंका सभामें आना, अवधिज्ञान आदि। ये सब बातें तो उत्तराध्ययनके निर्माण कालके वातावरणपर प्रकाश डालती हैं। उत्तराध्ययनकार भी म० महावीरके व्यक्तित्वको पूर्ण और सर्वोत्कृष्ट मानते हैं, जैनधर्मको प्राचीन मानते हैं, म० महावीरको जैनधर्मका संस्थापक नहीं मानते किन्तु

उद्धारक मानते हैं, इतने पर भी अगर उनके मुँहसे कुछ ऐसी बातें निकल गई हैं जो कि किन्हीं दूसरी बातोंपर प्रकाश डालती हैं तो समझना चाहिये कि यह सब ऐतिहासिक सत्यके अनुरोधसे निकल गई हैं। खैर, अब यहाँ उस संवादका सार दिया जाता है।

केशी-गौतम-संवाद

“ पार्श्वनाथ तीर्थङ्करके अनुयायी * केशिकुमार विद्या और चारित्रके पारगामी श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी थे। एक बार वे शिष्य-मण्डलसहित श्रावस्ती नगरीके उद्यानमें पहुँचे। उसी समय म० महावीर भी वहाँ आये हुए थे जिनके शिष्य गौतम बारह अङ्गके धारक थे। एक दूसरेको देखकर दोनोंके शिष्योंको यह चिन्ता हुई कि पार्श्वनाथने चातुर्याम (अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इस प्रकार चार व्रतवाला) धर्म × क्यों कहा और महावीरने पंच-शिक्षित क्यों कहा? इसी प्रकार पार्श्वनाथने नग्न रहनेका विधान नहीं किया था और महावीरने नग्न रहनेका विधान क्यों किया? शिष्योंके ये विचार जानकर केशी और गौतमने मिलकर परामर्श कर लेना उचित समझा और गौतम शिष्य-मँडली सहित केशिकुमारके पास गये। उस समय और भी गृहस्थ श्रोता वहाँ आ गये। दोनोंमें इस प्रकार वार्तालाप हुआ।

केशि—महाभाग, मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूँ।

---

* म० पार्श्वनाथके पीछे पार्श्व-धर्मके संघ-नायक क्रमसे शुभदत्त, हरिदत्त, आर्यसमुद्र, प्रभ और केशिकुमार हुए हैं। म० महावीरके समय केशिकुमार म० पार्श्वनाथके अनुयायियोंके एकमात्र आचार्य थे।

×आचारो वेषधारणादिको बाह्यक्रियाकलापः स एव धर्महेतुत्वाद्धर्मः। —११ टीका।

गौतम—भदन्त, इच्छानुसार पूछिये ।

केशि १—चार प्रकारके चारित्र-रूप धर्मको महावीरने पाँच प्रकारका क्यों बताया ? जब दोनोंका एक ही ध्येय है तब इस अन्तरका कारण क्या है ?

गौतम १—पार्श्वनाथके समयमें लोग सरल प्रकृतिके थे, इसलिये वे चारमें पाँचका अर्थ कर लेते थे । अब कुटिल प्रकृतिके लोग हैं । उनको स्पष्ट समझानेके लिये ब्रह्मचर्यके विधानकी अलग आवश्यकता हुई ।

केशि २—महावीरने दिगम्बर वेष क्यों चलाया ?

गौतम २—जिसको जो उचित है उसको वैसा धर्मोपकरण बतलाया है । दूसरी बात यह है कि लिंग तो लोगोंको यह विश्वास करानेके लिये है कि 'यह साधु है' (इसलिये दिगम्बर लिंग धारण करनेपर भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि यह भी लोकप्रत्ययका कारण हो सकता है) । तीसरी बात यह है कि संयम–निर्वाहके लिये लिंग है । चौथी बात यह है कि 'मैं साधु हूँ' इस प्रकारकी भावना बनाये रहनेके लिये लिंग है (ये सब काम दिगम्बर लिंगसे भी हो सकते हैं) और वास्तवमें तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र ही मोक्षके साधक हैं, लिंग नहीं* ।

---

*केसिं एवं बुवाणं तु गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म धम्मसाहणमिच्छियं ॥ ३२ ॥
पच्चयत्थं च लोगस्स नाणाविहविकप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च लोगे लिंगपओअणं ॥ ३२ ॥
अह भवे पइन्ना उ, मुक्ख सब्भूयसाहणा ।
नाणं च दंसणं चेव चरित्तं चेव निच्छए ॥ ३३ ॥

केशि ३—आपके उत्तरोंसे मुझे सन्तोष हुआ। अब यह बताओ कि हज़ारों शत्रुओंके भीतर रहकर तुमने उन्हें कैसे जीता?

गौतम ३—एक अशुद्धात्मा (अथवा मिथ्यात्व) को जीत लेने पर पाँचों (अशुद्धात्मा और चार कषाय) जीत लिये जाते हैं और इन पाँचोंके जीत लेनेपर दस जीत लिये जाते हैं और दसके जीतनेपर हज़ारों जीत लिये जाते हैं।

केशि ४—सभी लोग बन्धनोंमें बँधे हुए हैं तब आप इन बन्धनोंसे कैसे छूट गये?

गौतम ४—राग-द्वेष आदिको चारों तरफ़से नष्ट करके मैं स्वतन्त्र हो गया हूँ।

केशि ५—हृदयमें एक लता है जिसमें विष फल लगा करते हैं (अर्थात् बुरे बुरे विचार पैदा हुआ करते हैं), आपने वह लता कैसे उखाड़ी?

गौतम ५—तृष्णाको दूर करके मैंने वह लता नष्ट कर दी है।

केशि ६—आत्मामें एक तरहकी ज्वालाएँ उठा करती हैं। तुमने इन्हें कैसे शान्त किया?

गौतम ६—ये कषायरूपी ज्वालाएँ हैं। मैंने महावीरद्वारा बताये गये श्रुत शील और तपरूपी जलसे इन्हें शान्त किया है।

केशि ७—इस दुष्ट घोड़ेको कैसे वश करते हो?

गौतम ७—दुष्ट घोड़ा मन है; उसे धर्म-शिक्षासे वश करता हूँ।

केशि ८—लोकमें बहुतसे कुमार्ग हैं। आप उनसे कैसे बचते हो?

गौतम ८—मुझे कुमार्ग और सुमार्गका ज्ञान है, इसलिये मैं उनसे बचा रहता हूँ।

केशि ९—प्रवाहमें बहते हुए प्राणियोंका आश्रय स्थान कहाँ है?

गौतम ९—पानीमें एक द्वीप है जहाँ प्रवाह नहीं पहुँचता। वह धर्म है।

केशि १०—यह नौका तो इधर उधर जाती है। आप समुद्र-पार कैसे करोगे?

गौतम १०—शरीर नौका है जिसमें आश्रव लगे हुए हैं। वह पार न पहुँचायगी, परन्तु आश्रवरहित नौका पार पहुँचायगी।

केशि ११—सब प्राणी अँधेरेमें टटोल रहे हैं। इस अन्धकारको कौन दूर करेगा?

गौतम ११—सूर्यके समान जिनेन्द्र महावीरका उदय हो गया है।

केशि १२—दुःखरहित स्थान कौन है?

गौतम १२—लोकाग्रमें स्थित निर्वाण।

केशि—आपने मेरे सब संशयोंको दूर कर दिया। आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

इसके बाद केशिने म० महावीरके धर्मको स्वीकार कर लिया।'

यह संवाद बड़े महत्त्वका है। इसके ऊपर जितना ध्यान दिया जाना चाहिये उतना अभी तक नहीं दिया गया है, इससे मालूम होता है कि पार्श्वनाथ और महावीरके अनुयायियोंमें अवश्य ही द्वेष पैदा हुआ होगा। परन्तु पीछेसे पार्श्वनाथ और महावीरके अनुयायियोंमें सुलह हो जानेसे इसका उल्लेख सूत्रोंमें नहीं मिलता; सिर्फ़ मत-भेद मिलता है।

मतभेदमें व्रत-संख्या और वेषका विषय ही मुख्य है परन्तु पिछले दस प्रश्न उपेक्षणीय नहीं हैं। केशि और गौतमका सम्वाद गुरु-शिष्यका सम्वाद नहीं था, किन्तु पार्श्वनाथ और महावीरके मत-भेदोंके

निराकरणका सम्वाद था। केशिकुमार आचार्य थे, महान् श्रुतज्ञानी थे, वे कोई नवदीक्षित नहीं थे कि उन्हें धर्म, मोक्ष, मन, इंद्रिय आदिका सामान्य परिचय भी न हो। इसलिये उनके पिछले दस प्रश्नोंमें भी कोई विशेष बात होना चाहिये। सूत्रोंके विकृत हो जानेसे उस सम्वादके प्रश्नोत्तरोंका ठकि ठीक रूप नहीं मिलता, सिर्फ प्रस्नोत्तरके विषयोंपर प्रकाश पड़ता है। पार्श्वापत्योंको इन विषयोंका दृढ़ निश्चय न होगा या आचारकी शिथिलता होगी। म० महावीरने इन सबका निश्चयात्मक निर्णय कर दिया, इससे केशिको अवश्य सन्तुष्ट होना चाहिये। यद्यपि प्रश्नोत्तरोंका ठीक ठीक रूप नहीं मिलता फिर भी उपलब्ध सामग्रीके आधारपर कुछ विचार करना आवश्यक है।

तीसरे प्रश्नसे माळूम होता है कि म० पार्श्वनाथके धर्ममें आत्मिक विकारोंकी या भावाश्रवोंकी संख्या निश्चित नहीं हुई थी और न उनकी प्रबलता-निर्बलताका निर्णय हुआ था। 'आत्मिक विकार हज़ारों हैं' बस ऐसी ही सामान्य मान्यता उस समय होगी। लेकिन म० महावीरने उनकी संख्या निश्चित की—उनमें पहले मिथ्यात्वको, फिर कषायको, फिर इन्द्रियोंको जीतनेका उपदेश दिया। इस तरह एक विधायक कार्यक्रम लोगोंके सामने आया।

चौथा प्रश्न अस्पष्ट है। सम्भवतः उससे यह माळूम होता है कि पार्श्वापत्योंकी निर्ग्रन्थता महावीरके निर्ग्रन्थों बराबर नहीं थी। यह भी सम्भव है कि पार्श्वापत्य लोग एक स्थानमें बहुत दिनोंतक रहते हों—महावीरके समान गाँवमें एक दिन और नगरमें पाँच दिन रहनेका नियम न हो—इसलिये स्थानीय मोह-ममता उनकी बढ़ गई हो। यह

भी सम्भव है कि पार्श्वापत्योंके समयमें ब्रह्मचर्य स्वतंत्र व्रत न होनेके कारण इस विषयका शैथिल्य बढ़ गया हो और इस कमज़ोरीने उनके सांसारिक बन्धनोंको बढ़ा दिया हो। जो कुछ हो परन्तु इस विषयमें भी महावीर स्वामीने कुछ सुधार किया था यह बात सिद्ध होती है।

पाँचवें प्रश्नका रहस्य और भी अधिक अस्पष्ट है। पार्श्वनाथने संयमका फल आत्म-शुद्धि ही बतलाया होगा। परन्तु सम्भव है पार्श्वापत्य लोग संयमका फल ऐहिक सुख स्वर्ग समझते हों और इसलिये तृष्णाके कारण उनके मनमें अनेक बुरे विचार पैदा होते रहते हों।

छट्ठे प्रश्नसे माळूम होता है कि म० महावीरका शास्त्र (श्रुत) अधिक असरकारक, विस्तृत और निःसंदिग्ध था। उनने ब्रह्मचर्य-पर बहुत ज़ोर दिया था और तपोंका वर्णनात्मक और आचरणात्मक विस्तार किया था।

सातवें प्रश्नमें मूलका रूप बहुत विकृत हो गया माळूम होता है। इस प्रश्नमें मन-सम्बन्धी मतभेदका निराकरण होना चाहिये। मनके विषयमें तो आज भी बहुत मत-भेद है। दिगम्बर-परम्पराके अनुसार मनका स्थान हृदय है और मन कमलके आकारका है। श्वेताम्बर-परम्पराके अनुसार मनका स्थान सर्वाङ्ग है, इसलिये वह शरीराकार है। सम्भव है इनमेंसे कोई एक मत या दिगम्बर मत पार्श्वनाथके समयका हो अथवा असंज्ञियोंके भाव मन होता है इस बातमें कुछ मत-भेद हो। अथवा म० पार्श्वनाथने मनोनिग्रहके ठीक ठीक उपाय न बताये हों और म० महावीरने बताये हों, इसलिए यह प्रश्न किया गया हो।

आठवें प्रश्नसे माळूम होता है कि म० पार्श्वनाथने दूसरे मतोंका

खण्डन नहीं किया था। उनके शास्त्रोंमें दूसरे दर्शनोंका परिचय भी नहीं कराया गया था; जब कि म० महावीरने उस समयके प्रत्येक दर्शनका अपने शिष्योंको परिचय कराया था और उसकी आलोचना भी अपने शिष्योंको समझाई थी। इससे म० महावीरके असाधारण पाण्डित्य या सर्वज्ञताका परिचय मिलता है।

नवम प्रश्नका रूप विकृत हो जानेसे बहुत अस्पष्ट है। सम्भव है उस समय इस शंकाका समाधान न हो पाया हो कि "द्रव्य कर्मसे भाव कर्म, और भाव कर्मसे द्रव्य कर्म तो पैदा होता ही रहता है, फिर इस परम्पराका अन्त कैसे होगा?" इसका उत्तर गौतमने दिया हो तथा धर्मके द्वारा वृक्ष-बीजके समान द्रव्य कर्म और भाव कर्मकी सन्तति कैसे नष्ट हो जाती है यह समझाया हो।

दसवें प्रश्नसे माळूम होता है कि उस समय पार्श्वापत्योंके सामने एक महान् प्रश्न था कि "शरीरसे प्रतिसमय हिंसा होती रहती है, इसलिये हर समय हमें पाप लगता है, तब भला इस पापी शरीरके द्वारा हम मोक्षके द्वारतक कैसे पहुँच सकते हैं?" इसके उत्तरमें गौतमने कहा कि "हमें मिथ्यात्व, अविरति आदि आश्रवोंको रोक देना चाहिये, इससे पाप नहीं बँधेगा। नौका बुरी नहीं है, नौकाके छिद्र बुरे हैं। छिद्र बन्द कर देनेपर हम मोक्षके द्वारतक पहुँच सकते हैं।" जैनधर्मकी अहिंसाको न समझनेवाले आज भी शरीरकी दुहाई देकर अहिंसाको अव्यवहार्य बतलाते हैं। यह प्रश्न उस समय भी जोरपर होगा जिसका ठीक ठीक समाधान पार्श्वापत्य न कर सके होंगे। किन्तु म० महावीरने उसका पूर्ण समाधान किया है, जिसका उल्लेख गौतमने किया होगा।

ग्यारहवें प्रश्नसे मालूम होता है कि केशिकुमार हर तरह निराश हो गये थे। निराशाके तीन कारण मालूम होते हैं:—

(क) धर्मशास्त्रकी अनेक बातें अनिश्चित और अस्पष्ट थीं।

(ख) प्रतिवादियोंका सामना करनेमें वे अशक्त थे।

(ग) शिथिलाचार बहुत बढ़ गया था जो कि केशिकुमारको खटकता तो था परन्तु उनका कुछ वश न चलता था।

गौतमने म० महावीरका परिचय देकर इन सब आपत्तियोंके दूर होनेकी बात कहकर दिलासा दी।

बारहवें प्रश्नसे मालूम होता है कि म० पार्श्वनाथके समयमें मोक्षका स्थान अनिश्चित था। मुक्त जीव लोकाग्रमें स्थित हैं यह बात महात्मा महावीरने कही होगी। मुक्त जीवोंके निवासके विषयमें तब बड़ा भारी मत-भेद था। वे कहाँ स्थित हैं, इस विषयका विवाद तो था ही परन्तु वे स्थित हैं कि नहीं यह भी एक प्रश्न था। एक सम्प्रदाय तो मुक्त जीवोंको अनन्तकाल तक अनन्त आकाशमें दौड़ता हुआ (गतिमान) ही मानता है। सम्भव है महात्मा पार्श्वनाथके समयमें यह प्रश्न अधूरा या अछूता ही रह गया हो जिसका म० महावीरने पूर्ण निश्चय किया हो।

अपनी बुद्धिके अनुसार मैंने इन प्रश्नोंकी उपपत्ति बिठलानेकी कोशिश की है। सम्भव है दूसरे ढङ्गसे इनकी उपपत्ति बैठ सके। परन्तु यह बात तो निश्चित है कि ये प्रश्न साधारण नहीं हैं किन्तु पार्श्वनाथ और महावीरके तीर्थका अन्तर दिखलानेवाले हैं।

इस वर्णनमें एक बात और आती है। उत्तराध्ययनमें केशिकुमार-को श्रुतज्ञानी कहा है जब कि गौतमको द्वादशाङ्गवेत्ता (बारसंगविऊ)

कहा है। इससे मालूम होता है कि म० पार्श्वनाथका श्रुत अङ्ग-पूर्वोंमें विभक्त नहीं था, वह एक ही संग्रह था जो श्रुत शब्दसे कहा जाता था। इससे म० पार्श्वनाथके श्रुतकी संक्षिप्तता या लघुता और म० महावीरके श्रुतकी महत्ता और विस्तीर्णता मालूम होती है।

उत्तराध्ययनका जो अंश अभी उपलब्ध है उसे दिगम्बर सम्प्रदाय प्रमाण नहीं मानता, परन्तु उत्तराध्ययन आदि श्रुतको तो प्रमाण मानता है। उपलब्ध साहित्य अधूरा है यह बात ठीक है परन्तु जो उपलब्ध है उसे तो प्रमाण मानना चाहिये। उसमेंसे सिर्फ़ उतना ही अंश अमान्य किया जा सकता है जो कि ख़ास दिगम्बर-सम्प्रदायके विरुद्ध बनाया गया मालूम हो। परन्तु केशि-गौतम-सम्वाद दिगम्बरत्वके विरुद्ध बनाया गया है, यह बात मालूम नहीं होती। अगर श्वेताम्बरोंने दिगम्बरत्वके विरोधके लिये केशि-गौतम-सम्वाद बनाया होता तो वे महावीरके दिगम्बरत्वकी बात कभी न करते—सिर्फ़ चातुर्यामकी बात कहकर सम्वाद पूरा कर देते। इसलिये यह सम्वाद मानना चाहिये। हाँ, यह अवश्य है कि सम्वादके विषयोंका ठीक ठीक वर्णन नहीं मिलता जैसा कि पिछले दस प्रश्नोंके विवरणसे मालूम होता है।

दूसरी बात यह है कि सम्वाद हुआ हो चाहे न हुआ हो परन्तु पार्श्वनाथ और महावीरका मत-भेद दिगम्बर-संप्रदाय भी मानता है।

" बाईस तीर्थंकर सामायिक संयमका उपदेश करते हैं और भगवान् ऋषभ और वीर छेदोपस्थापनाका उपदेश करते हैं।"
—मूलाचार ॥ ५३३ ॥*

---

* बावीसं तित्थयरा सामायिय-संजमं उवदिसंति।
छेदुवठावणियं पुण भयवं उसहो य वीरो य ॥—मूलाचार ॥ ५३३ ॥

इससे यह बात मालूम होती है कि म० पार्श्वनाथके समयमें छेदोपस्थापनाका उपदेश नहीं था किन्तु म० महावीरके समयमें था। श्वेताम्बर-साहित्यके अनुसार तो पार्श्वनाथके समयमें चार व्रत थे परन्तु दिगम्बरोंके अनुसार तो अभेद रूपसे एक ही व्रत रह जाता है। क्योंकि एक यमरूप संयमको सामायिक संयम कहते हैं।

" सम्पूर्ण संयमको एक यम बनाकर जो धारण करता है वह सामायिक संयमी जीव है ॥ ४७० ॥ जो पुरानी अवस्थाको छेदकर आत्माको पञ्च-यमरूप व्रतमें स्थापित करता है वह छेदोपस्थापन-संयमी जीव है ॥ ४७१ ॥ "—गोम्मटसार जीव० ×

संस्कृत-टीकामें छेदोपस्थापनाका स्पष्टीकरण और भी अच्छा हुआ है—

" जो पहली सदोषव्यापाररूप पर्यायको दूर करके अपनेको पांच प्रकारके संयमरूप धर्ममें स्थापित करता है वह छेदोपस्थापन-संयमी है। + "

इस उद्धरणसे इतनी बात और स्पष्ट हो जाती है कि सामायिक संयमके बाद कोई दोष लगनेपर प्रायश्चित्त लेनेके बाद संयम अनेक रूप—पाँच रूप—हो जाता है, तबसे उसका नाम छेदोपस्थापना हो जाता है।

× संगहियसयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्मं। जीवो समुव्वहंतो सामाइय-संजमो होदि ॥ ४७० ॥ छेत्तूण य परियायं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं ॥ पंचजमे धम्मे सो छेदोवट्ठावगो जीवो ॥ ४७१ ॥

—गोम्मटसार जीवकाण्ड।

+ प्राक्तनं सावद्यव्यापारपर्यायं प्रायश्चित्तैश्छित्वा आत्मानं व्रतधारणादि-पंचप्रकारसंयमरूपधर्मे स्थापयति स छेदोपस्थापनसंयतः स्यात्। —टीका।

यहाँ एक बड़ा भारी प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या बाईस तीर्थंकरोंके समयमें छेदोपस्थापन संयम नहीं था ? उस समय क्या कोई मुनि किसी भी तरहका दोष नहीं लगाता था ? जब कोई भी मुनि कोई दोष लगाता ही नहीं था, तो संघ और आचार्यकी क्या आवश्यकता थी ? प्रायश्चित्त एक तप है । क्या म० महावीरके पहले (बाईस तीर्थंकरोंके समयमें) यह तप नहीं था अर्थात् क्या ग्यारह प्रकारका ही तप था ? विष्णुकुमार आदि मुनियोंके चरित्रसे माळूम होता है कि उस समय प्रायश्चित्त लिया जाता था, और प्रायश्चित्तके बाद संयम छेदोपस्थापन कहलाने लगता है । इससे यह बात साफ़ माळूम होती है कि म० महावीरके पहले छेदोपस्थापन संयम था । परन्तु किसी कारणसे अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चार यमोंके स्थानमें सामायिक परिहारविशुद्धि आदि चार संयम आ गये हैं । कुछ भी हो परन्तु यह बात दोनों सम्प्रदायोंको स्वीकृत है कि म० पार्श्वनाथके समयमें चार यम थे और म० महावीरके समयमें पाँच हो गये।

केशी-गौतम-संवादके विषयमें कुछ लोगोंने अनेक आक्षेप किये हैं । इस चार यमवाली बातपर भी यह आक्षेप किया जाता है कि बाईस तीर्थंकरोंके समयमें प्रायश्चित्त तो था परन्तु छेदोपस्थापन तो भेदरूप चारित्र है, सो उस समय भेदरूप चारित्र नहीं था ।

इस आक्षेपके अनुसार म० पार्श्वनाथके समयमें चारित्रका एक ही भेद था । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ऐसे पाँच भेद नहीं थे । मेरे मतानुसार पाँचका अंतर्भाव चारमें किया जाता है जब कि इस मतके अनुसार एकमें ही किया जाता है । यह म० पार्श्वनाथ और म० महावीरके मत-भेदको और भी बढ़ा देता है तथा यह

सिद्ध करना चाहता है कि म० पार्श्वनाथका धार्मिक साहित्य इतना अविकसित था कि उसमें अहिंसा सत्य आदिका भेद भी अज्ञात था। इससे पार्श्व-धर्म और वीर-धर्मका अन्तर और भी बढ़ जाता है।

छेदोपस्थापनाकी व्याख्यामें जो गोम्मटसारका [१] उद्धरण दिया गया है तथा छेदोपस्थापनाका जो व्युत्पत्त्यर्थ है उससे यही सिद्ध होता है कि संयममें दोष लगनेके बाद उसकी शुद्धि होनेपर संयमका नाम छेदोपस्थापना हो जाता है। इससे म० पार्श्वनाथके समयमें भी छेदोपस्थापनाका अस्तित्व मानना चाहिये। दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि—" जितने भी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्योंने इस शासन-भेदका वर्णन किया है उन्होंने सामायिक और छेदोपस्थापनाके आधारपर ही किया है। केवल एक उत्तराध्ययनकार ही हैं जिन्होंने चार यम और पाँच यमका इसके सम्बन्धमें उल्लेख किया है। इससे यही प्रतीत होता है कि उत्तराध्ययनकारकी यह बात वीर-शासनकी परम्परागत नहीं है। "

श्वेताम्बर-सम्प्रदायके शास्त्रोंका विद्यार्थी ऐसा आक्षेप करनेकी भूल नहीं कर सकता। उत्तराध्ययनकारका यह वक्तव्य वास्तवमें परम्परागत है और वह मूल सूत्रों या अंगोंमें भी पाया जाता है। यहाँ मैं स्थानांगका उद्धरण देता हूँ—" भरत और ऐरावत क्षेत्रमें प्रथम और अंतके छोड़कर बीचके बाईस अरहंत चातुर्याम धर्मका निरूपण करते हैं। वह यह—सम्पूर्ण हिंसासे विरक्ति, सम्पूर्ण मिथ्यावादसे विरक्ति, सम्पूर्ण अदत्तादानसे विरक्ति, सम्पूर्ण परिग्रहसे विरक्ति। सब महा

---

१ छेदेन प्रायश्चित्ताचरणेन उपस्थापनं यस्य सः छेदोपस्थापनः इति निरुक्तेः। गो० टीका ४७१।

विदेहोंमें भी अरहंत चातुर्यामका निरूपण करते हैं वह यह—सम्पूर्ण हिंसासे विरक्ति....आदि[1]।"

"मैथुनका परिग्रहमें अन्तर्भाव होता है क्योंकि अपरिगृहीत योषित्‌का भोग नहीं किया जाता।"[2]

एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि "चार व्रतके पांच रूप वर्णन करनेमें सामान्य और विशेषका विशेष अन्तर नहीं है। यह तो तभी बैठता है जब कि एक समय चारित्रका उपदेश सामायिक-रूप माना जाता है और दूसरे समय छेदोपस्थापनारूप।"

प्रश्नकर्ताने यहां मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विचार नहीं किया। वास्तवमें सामायिक और छेदोपस्थापनामें सामान्य विशेणात्मक होनेसे अविरोध ही है। क्योंकि सामायिकमें भेद किये विना वर्णन है और छेदोपस्थापनामें भेद करके। सामान्य और विशेषमें विरोध नहीं माना जाता। परन्तु जब विशेष और विशेषमें भेद होता है तो वह लोगोंको खटकता है। जैसे कोई गुणस्थानका सामान्य विवेचन करे और कोई चौदह भेदोंमें विवेचन करे, तो इसमें लोगोंको एतराज कम

१—भरहेरावएसु णं वासेसु पुरिमपच्छिमवज्जा मज्झिमगा बावीस अरिहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णवेंति। तं जहा—सव्वातो पाणाइवाआओ वेरमणं, एवं मुसावाआओ वेरमणं, सव्वातो अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वातो बहिद्धादाणा (परिग्गहा) ओ वेरमणं सव्वेसु णं महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवंति, तं—सव्वातो पाणातिवायाओ वेरमणं जाव सव्वातो बहिद्धादाणाओ वेरमणं। सू. २६६।

२—आदीयते इति आदानं—परिग्राह्यं वस्तु तच्च धर्मोपकरणमपि भवति इत्यत आह—बहिस्तात् धर्मोपकरणात् बहिर्यदिति, इह च मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति न ह्यपरिगृहीता योषित् भुज्यते।—टीका २६६।

होगा या न होगा। परन्तु कोई चौदहके पंद्रह गुणस्थान बनावे तो एतराज अधिक होगा। इससे सामायिक और छेदोपस्थापनाकी अपेक्षा चार यमे और पाँच यमका भेद मानना ही अधिक संगत है। क्रम-विकासकी दृष्टिसे भी यही उचित है।

एक प्रश्न यह उठाया जाता है। " केशी-गौतम-संवाद श्वेताम्बर-ग्रंथोंमें पाया जाता है परन्तु श्वेताम्बर-ग्रंथ तो विकृत हैं, वे देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमणके समयके बने हुए हैं, इसलिये उनकी किसी बातपर विश्वास कैसे किया जा सकता है ? "

इसके उत्तरमें यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि श्वेताम्बर-शास्त्र देवर्द्धिगणिके समयमें बने नहीं है किन्तु लिपिबद्ध हुए हैं—उनकी वाचना हुई है। लिखा जाना और रचा जाना इसमें बहुत अन्तर है। दूसरी बात यह है दिगम्बर-साहित्य तो मौलिकताकी दृष्टिसे श्वेताम्बर-सूत्रोंसे भी कम प्रमाण है। क्योंकि ये तो दिगम्बराचार्योंकी स्वतंत्र रचनाएँ हैं और सो भी श्वेताम्बर साहित्यसे प्राचीन नहीं। खैर, इस विषय-पर विशेष विवेचन करनेकी यहाँ जरूरत नहीं है। मेरी दृष्टिमें तो दोनों ही सम्प्रदायोंका साहित्य विकृत है। परन्तु इतिहासकी सामग्री तो हमें उसीसे मिलती है, इसलिये उसी सामग्रीको जाँचकर हमें ऐतिहासिक निर्णय करना है।

केशी-गौतम-संवाद पार्श्वनाथके अस्तित्वका प्रबल प्रमाण है और पार्श्व-धर्म और वीर-धर्मके भेदपर भी कुछ प्रकाश डालता है। इससे अधिक प्रकाश डालनेवाली अभी कोई दूसरी सामग्री उपलब्ध नहीं है। यहाँ हलकी पतली बातोंपर अधिक ध्यान नहीं देना है किन्तु

१—चत्वारो यमा एव यामा निवृत्तयो। स्थानांग-टीका २६६।

दो बातें समझना है। एक तो श्रमण महात्मा पार्श्वनाथका अस्तित्व और दूसरी उनके धर्मका जुदापन।

इससे सिद्ध होता है कि म० महावीर जैनधर्मके संस्थापक थे। उन्होंने प्राचीन धर्मोंकी बहुतसी बातें लेकर—जैसा कि हरएक धर्म-संस्थापकको करना पड़ता है—तथा अनुभवसे कुछ नये नियम बनाकर–जिनका ठीक ठीक बताना कठिन है—एक नये धर्मकी रचना की, जिसका नाम पीछेसे जैनधर्म हो गया।

कुछ लोग जैन-साहित्यके कुछ नामोंका उल्लेख म० महावीरसे पुराने समयमें पाकर जैनधर्मको उतना ही प्राचीन माननेकी भूल कर बैठते हैं। इसी आधारपर जैनसमाजमें एक तरहके प्रमाण प्रचलित हैं कि "जैन तीर्थङ्करोंके नाम वेदोंमें तथा प्राचीन पुस्तकोंमें पाये जाते हैं।" परन्तु यह कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। क्योंकि अभी इतना निर्णय करना बाकी ही है कि जैनधर्मके नाम वेदोंमें आये हैं या वेदोंमें आये हुए उन व्यक्तियोंके नामोंको जैनियोंने अपनाकर उन्हें जैन-पुरुषके रूपमें चित्रित किया है। प्राचीन पुरुषोंको नये साँचेमें ढालकर अपना लेनेका काम सदासे होता आया है। रामचन्द्रजी वैदिक रामायणके अनुसार वैदिक थे, जैन-पुराणके अनुसार जैन, और बौद्ध-जातकके अनुसार बौद्ध। अब अगर बौद्ध कहें कि रामचन्द्रजी बौद्ध थे, इसलिये बौद्धधर्म रामचन्द्रजीके जमानेमें था, तो यह बात मान्य नहीं हो सकती। वेदमें अगर विष्णुका नाम मिले तो वैष्णव-धर्मको वैदिक-युगका नहीं कहा जा सकता। अगर वेदोंमें 'आर्य' शब्द मिलता है, तो वर्तमानका आर्य-समाज वेदोंके समयमें था यह नहीं कहा जा सकता। अगर किसी प्राचीन विवरणमें यह

मिल जाय कि अमुक मनुष्यने अमुकको ' नमस्ते ' कहकर अभिवादन किया तो ' नमस्ते ' द्वारा शिष्टाचार करनेवाले आर्य-समाजको हम उतना प्राचीन न मान लेंगे ।

इस विषयमें कुछ लोगोंने कुछ प्रमाण देनेकी चेष्टा की है। उनकी संक्षिप्त आलोचना कर लेना उचित है ।

एक प्रमाण है म० ऋषमदेवका अस्तित्व । इसके विषयमें जो बातें कहीं जाती हैं उनका उत्तरसहित उल्लेख किया जाता है—

प्रश्न—१—मार्कण्डेयपुराण, कूर्मपुराण, अग्निपुराण, वायुमहापुराण, ब्रह्माण्डपुराण, वाराहपुराण, लिंगपुराण, विष्णुपुराण, स्कन्दपुराणमें ऋषभदेवका वर्णन पाया जाता है। यद्यपि ये पुराण दो हजार वर्षसे पुराने नहीं हैं, फिर भी इनका आधार अति प्राचीन है । यदि कहा जाय कि इनका आधार वैदिक साहित्य है, तो कोई अत्युक्ति नहीं है । पुराणोंमें ऐसी अनेक कथाएँ मिलती हैं जो वेदों और ब्राह्मणोंमें पहलेसे ही मौजूद हैं । पुराण शब्दका उल्लेख भी वेदोंमें है ।

उत्तर—इन पुराणोंका रचना-काल दो हजार वर्षसे भी बहुत कम है । कोई कोई तो १२०० वर्षसे पुराने नहीं हैं । इस लिये इनमें ऋषभदेवका उल्लेख मिले, इसका कुछ भी मूल्य नहीं है । इनका आधार प्राचीन है, वेदोंकी कथाएँ भी इनमें मिलती हैं, परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि इनमें अपनी तरफसे कुछ लिखा नहीं है । इन पुराणोंमें ईसाकी चौथी शताब्दी तकके राजाओंके नाम मिलते हैं, जैनियों और बौद्धोंकी (कमसे कम बौद्ध-धर्म वैदिक-युगका नहीं है) निन्दा मिलती है । जब ये परिवर्तित और परिवर्द्धित नवीन

रचनाएँ हैं तब इनमें ऋषभदेवका उल्लेख मिलना सिर्फ इसी बातको सिद्ध करता है कि इनके रचना-समयमें अर्थात् करीब डेढ़ हजार वर्ष पहले ऋषभदेवकी भी मान्यता थी। इससे जैनधर्मकी प्राचीनतापर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। वेदोंमें 'पुराण' शब्दका उल्लेख मिलता है। इसी लिये आजकलके पुराण वैदिक युगके सिद्ध नहीं होते। वहाँ आज मनुष्य शब्द मिले तो आजकलका मनुष्य वैदिक युगका न हो जायगा।

दूसरी बात यह है कि इन पुराणोंने जब ऋषभदेवका एक स्वरसे उल्लेख किया तब यही माल्रूम होता है कि ऋषभदेव नामके कोई प्राचीन ऋषि थे जिनको जैनियोंने रामादिकी तरह अपना पात्र बना लिया। अगर ऋषभदेव जैन-तीर्थंकर होते तो उन्हें जैनियोंके शत्रु क्यों अपनाते! जब वे जैनियोंकी निंदा ही करते हैं तब जो जैनधर्मके संस्थापक हैं उनकी निन्दा न करके अपनानेका कार्य कैसे करते! इससे वे वैदिक पात्र ही सिद्ध होते हैं।

हाँ, यह बात अवश्य है कि वैदिक धर्मोंमें जो स्थान पहले इन्द्रादि देवोंको प्राप्त था और पीछेसे जो स्थान विष्णु आदिको प्राप्त हो गया, वह स्थान ऋषभदेवको नहीं था। इधर जैनियोंने उन्हें अपना आद्य तीर्थंकर माना था, इस लिये जैनियोंमें ऋषभदेवकी मान्यता बढ़ जाय यह बात स्वाभाविक है। परन्तु इससे ऋषभदेव जैन पुरुष नहीं हो जाते। खैर, पुराणोंके उल्लेख व्यर्थ हैं।

प्रश्न २—भगवान् ऋषभदेव यदि वैदिक महापुरुष होते तो वैदिक साहित्यमें इनका जीवन वैदिक ढंगका मिलना चाहिये था।

इसके अतिरिक्त उनके वैदिक जीवनके चिह्न उनके जैन-जीवनमें भी मिलने चाहिये थे।

उत्तर—ऋषभदेवके जीवनमें ऐसी कौन-सी बात है जो वैदिक साहित्यके तथा अन्य जैनेतर सम्प्रदायोंके पात्रमें न मिलती हो? नग्नता तो आजीवक पूर्णकाश्यप आदि श्रमणोंके अतिरिक्त शुकदेव वगैरह वैदिक पात्रोंमें भी मिलती है। अवधूत परमहंस आदि जैनेतर सम्प्रदाय भी पुराने हैं। वैदिक जीवनके चिह्न जैन जीवन-में न मिलें यह स्वाभाविक है। जब जैनियोंने ऋषभदेवको अपनाया तब उनपर जैनत्वका रंग चढ़ाना ही चाहिये था। उनकी अवधूत-ताको जैनत्वका रंग देना कठिन नहीं था। राम-कृष्ण आदि गृहस्थ महापुरुषोंको अपनाकर जब जैनत्वका रंग दिया जा सका तब ऋषभदेवको जैनत्वका रंग देना क्या कठिन था? फिर भी एक बात ऐसी है जिससे मालूम होता है कि ऋषभदेव जैन नहीं थे। जैनशास्त्रोंमें वर्णन है कि उनके सिरपर जटाएँ हो गई थीं। जैन मुनियोंके सिरपर जटाएँ होना यह जैन-संस्कृति तथा आचार-शास्त्रकी आज्ञाके बिलकुल विरुद्ध है। जैन-शास्त्रोंमें जटा रखनेकी निन्दा है। कहा जा सकता है कि बहुत दिन तक ध्यानस्थ रहनेसे जटा बढ़ गई थीं। परन्तु यह तो बाहरसे व्यक्तिको पहचाननेकी कला है। इस प्रकार कोई न कोई बहाना तो बनाना ही पड़ता। परन्तु इससे एक मूल-गुणका भंग होता है। जैनशास्त्रोंके अनुसार कमसे कम दो

---

१ वातोद्धूता जटास्तस्य रेजुराकुलमूर्त्तयः।
धूमाल्य इव सद्ध्यानवह्निदग्धस्य कर्मणः॥
—पद्मपुराण ३–२८८

मासमें और अधिकसे अधिक चार मासमें केश-लोच करना ही चाहिये। यहाँ इस नियमका भंग करना पक्का है और यह सब बाहरकी चीजको पहचाननेके लिये है ।

भागवतके उल्लेखसे भी यह सिद्ध नहीं होता कि ऋषभदेव जैन थे। उससे यही माद्धम होता है कि ऋषभदेव एक अवधूत योगी थे। उन्होंने 'परमहंस धर्म'का प्रचार किया था। वे पागलकी तरह नग्न रहते थे। उनकी लम्बी लम्बी और कुटिल जटाएँ थीं। वे एक ही जगह पड़े पड़े खाते, पीते, टट्टी-पेशाब आदि कर लेते थे और उनका शरीर मलसे लिप्त हो गया था। दक्षिण कर्नाटकमें जाकर उन्होंने अग्नि-प्रवेश करके प्राण त्याग दिये ।

ऋषभदेवके इस चरित्रका भागवतमें भूतकालकी कथाके रूपमें वर्णन हुआ है। इसके आगे कहा गया है कि—

१—बिय-तिय चउक्कमासे लोचो उक्कस्स-मज्झिम-जहण्णो ।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो । मूलाचार १–२९

२—जडान्धमूकबधिरपिशाचोन्मादकवदवधूतवेषोऽभिभाष्यमाणोऽपि जनानां गृहीतमौनव्रतस्तूर्ष्णीं बभूव । भाग० ५–५–२९ ।

३—भक्तिज्ञानवैराग्यलक्षणं पारमहंस्यधर्ममुपशिक्षमाणः। भा० ५–५–२८ ।

४—परागावलम्बमानकुटिल-जटिल-कपिश-केशभूरिभारोऽवधूतमलिननिजशरीरेण ग्रहगृहीत इवादृश्यत । भा० ५–५–३१ ।

५—व्रतमाजगरमास्थितः शयान एवाश्नाति पिबति खादत्येव मेहति हदति स्म चेष्टमानः उच्चरितादिग्धोद्देशः।भा ५–५–३२ । एवं गोमृगकाकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काकमृगगोचरितः पिबति खादत्यवमेहति स्म । भा० ५–५–३४

६—अथ समीरवेगविधूतवेणुविकर्षणजातोग्रदावानलः तद्वनमालेलिहानः सह तेन ददाह । भा० ५–६–८ ।

वहाँका राजा अर्हत् ऋषभदेवकी शिक्षाएँ लेकर अपनी बुद्धिसे पाखंडका प्रचार करेगा।

ऋषभदेवका जैसा चरित्र-चित्रण भागवतकारने किया है वह जैन मुनिसे बहुत कम मिलता है। चूँकि भागवतके समयमें दक्षिणमें जैन-धर्मका काफ़ी प्रचार था और ऋषभदेव जैन-तीर्थंकरके रूपमें माने जाते थे इसलिये जैनधर्मकी निंदा करनेके लिये भागवतकारने अर्हत् राजाकी कल्पना करके जैनधर्मको ऋषभदेवके विचारोंका भ्रष्टरूप कह दिया। भारतीय साम्प्रदायिक साहित्यको देखनेसे माल्म होता है कि हर-एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदायकी निन्दा करनेके लिये दूसरे सम्प्रदायोंकी उत्पत्तिका कल्पित इतिहास रच डालता है। इस काममें दूसरे धर्मोंके पात्रोंके नामोंका उपयोग किया जाता है जिससे वह कल्पना सत्यके समान माल्म होने लगे। जैन-साहित्यमें इसी प्रकार शिव, कपिल, वशिष्ठ आदिका चित्रण किया गया है। इसी प्रकार दूसरोंने जैनियोंके लिये किया है। ऋषभदेव अवश्य ही जैन नहीं थे परन्तु जब जैनियोंने उन्हें अपना लिया था तब उनकी उपपत्ति बिठलानेके लिये भागवतकारको वह कथा गढ़नी पड़ी। इस प्रकार भागवत तथा अन्य पुराणोंमें ऋषभदेवका उल्लेख जैनधर्मकी प्राचीनता सिद्ध नहीं करता।

प्रश्न ३—खंडगिरिके हाथीगुफावाले शिलालेखसे माल्म होता

१—यस्य किलानुचरितमुपाकर्ण्य कोङ्कवेङ्ककुटकाना राजाऽर्हन्नामोपशिक्ष्य कलावधर्मे उत्कृष्यमाणे भवितव्येन विमोहितः स्वधर्मपथमकुतोभयमपहाय कुपथपाखण्डमसमञ्जसं निजमनीषया मन्दः सम्प्रवर्तयिष्यते।

भा० ५-६-९।

है कि अग्र-जिनकी मूर्ति नन्दराजके समयमें थी । इस प्रकार महावीरके साठ वर्ष पीछे ऋषभदेवकी मूर्त्तिका सद्भाव सिद्ध होता है । कुछ विद्वानोंका मत है कि यह मूर्ति कलिंगाधिपतिके यहाँ वंशपरम्परासे आई होगी, क्योंकि इसे 'कलिंग-जिन' कहा है । इससे यह मूर्त्ति म० महावीरसे भी पुरानी मालूम होती है । महावीरके समयमें और उनके पीछे बासठ वर्ष तक केवलियोंका सद्भाव था, इससे उस समय तो मूर्त्तिकी जरूरत ही नहीं मालूम होती, इसलिये यह मूर्त्ति उनके पहलेकी होगी ।

उत्तर—इस प्रश्नमें ऐतिहासिक दृष्टिकी पूरी अवहेलना है । शिलालेखवाली बातोंकी अगर अधिक आलोचना न भी की जाय तो भी मूर्त्तिकी प्राचीनता चौबीस सौ वर्षसे अधिक नहीं रहती । म० महावीरके बाद साठ वर्षमें तीन पीढ़ियाँ बीतती हैं । इनमें मूर्त्तियोंका बन जाना न तो असंभव है, न कठिन, बल्कि स्वाभाविक है । म० महावीरके समयमें ही लाखों श्रावक हो गये थे, इसलिये उनके निर्वाणके बाद उनकी और उनने जिन तीर्थंकरोंकी कहानियाँ कहीं थीं उनकी मूर्त्तियाँ बन जाना स्वाभाविक है । इसके लिये शताब्दियाँ नहीं किन्तु उँगलियोंपर गिने जानेवाले वर्ष ही बहुत हैं । 'कलिंग-जिन' कहनेसे उसकी प्राचीनता नहीं परन्तु क्षेत्रान्तरितता सिद्ध होती है । एक वस्तु जब एक जगहसे दूसरी जगह जाती है तब पुराने क्षेत्रके नामसे उल्लिखित होती है । एक गुजराती जब दक्षिणमें बस जाता है तब गुजराती उसका 'सरनेम' हो जाता है । इसी प्रकार जब कलिंगकी मूर्त्ति नंदके यहाँ पहुँची तब वह 'कलिंग-जिन' के नामसे कही जाने लगी, कलिंगमें पुरानी हो जानेसे वह 'कलिंग-जिन' नहीं बन गई । तीर्थंकरों

और केवलियोंके समयमें मूर्त्ति अनावश्यक है इसलिये उनके समयमें मूर्ति नहीं बनाई जा सकती, इस तर्कमें जैन-शास्त्रोंकी और ऐतिहासिक सचाइयोंकी पूरी हत्या की गई है। सिक्कोंपर राजाओंकी ऐसी अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं जिन्हें उन राजाओंने अपने जीवनमें बनवाया था। जैन-शास्त्रोंके अनुसार ऋषभदेवके जीवन-कालमें ही भरतने मूर्तियों और मंदिरोंका निर्माण किया था। व्यक्ति तो अमुक समय और जगहके लिये होता है परन्तु मूर्तिको तो हम हर-समय अपने पास रख सकते हैं, इसलिये व्यक्तिके जीवनमें उसकी मूर्तियाँ होना अनावश्यक नहीं है। फिर अविद्यमान व्यक्तिकी मूर्ति तो और भी आवश्यक है। इसलिये यह निश्चित रूपमें कहा जा सकता है कि खारवेलके शिला-लेखवाली मूर्ति म० महावीरसे पीछेकी है। इससे ऋषभदेवके जैन-तीर्थंकर होनेकी मान्यता महावीरसे प्राचीन सिद्ध नहीं हो सकती।

प्रश्न ४—ऋषभदेव यदि काल्पनिक व्यक्ति होते और उनकी कल्पनाका समय महावीरके बादका होता तब तो इनका नाम बुद्धाव-तारके बाद आना चाहिये था।

उत्तर—यहाँ यह प्रश्न ही नहीं है कि ऋषभदेव काल्पनिक हैं या अकाल्पनिक। वे ऐतिहासिक व्यक्ति ही क्यों न सिद्ध हो जावें, फिर भी वे 'जैन-तीर्थंकर' थे यह बात काल्पनिक ही बनी रहेगी। दूसरी बात यह है कि कल्पनाका समय और कल्पनाके विषयका समय ये दो जुदी जुदी बातें हैं। मैं आज एक लाख वर्ष पहले किसी व्यक्तिकी कल्पना करूँ और उसका चरित्र लिखूँ तो राम-कृष्ण आदिके पहले उसका समय कहा जायगा परन्तु कल्पनाका समय आजका ही होगा।

प्रश्न ५—मथुराके कङ्काली टीलेपर भ० ऋषभदेवकी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनका समय ईस्वीसन् १५० है।

उत्तर—जब कलिंग-जिनसे ऋषभ-जिनेन्द्रकी प्राचीनता सिद्ध नहीं होती जिसे भ० महावीरके साठ वर्ष पीछेका कहा गया है तब इन सैकड़ों वर्ष पीछेकी मूर्तियोंसे क्या सिद्ध होगा?

प्रश्न ६—मोहन-जो-दड़ोकी खुदाईमें अनेक मोहरें मिली हैं। इनमें प्लेट नं २ की सील नं० ३, ४, ५ पर ध्यानावस्थाकी खड्गासन मूर्तियाँ हैं। इनके नीचे बैलका चिह्न है। खड्गासनका वर्णन तो खास तौरसे जैन-शास्त्रोंमें ही मिलता है। यह मूर्ति कुशानकालीन मथुरावाली मूर्तिसे मिलती है। इसका समय पाँच हजार वर्ष पुराना है।

उत्तर—खड्गासन जैनियोंका असाधारण चिह्न नहीं है परन्तु पुराने समयमें अनेक ऐसे जैनेतर सम्प्रदाय थे जिनमें साधु-महात्मा खड़े रहकर तपस्या किया करते थे। खड़ी हुई मूर्तियाँ भी अनेक सम्प्रदायोंकी मिलती हैं। शिवकी खड़ी हुई मूर्तियाँ तो एकसे एक सुन्दर पाई जाती हैं। इसलिये खड्गासनके आधारपर उसे जैन मूर्ति कदापि नहीं कहा जा सकता। परेल (बम्बई) में जो शिवकी मूर्ति हैं वह बिलकुल खड्गासन है और उसका चेहरा भी जैन-मूर्तियोंका सा है। मोहन-जो-दड़ोकी खुदाईमें धार्मिक इतिहासपर प्रभाव डालनेवाला ऐसा मसाला नहीं मिला है जिससे वर्तमानके सम्प्रदाय कुछ ठीक निर्णय कर सकें। हाँ, सिर्फ शिवकी प्राचीनता सिद्ध हुई है और यह निर्विवाद सिद्ध हुआ है कि वर्तमान देवताओंमें शिव सबसे प्राचीन है। शिवकी प्राचीनता कलकालिथिक (Chalcalithic)

कालसे भी पहलेकी है। इसलिये जबतक किसी दूसरेकी मूर्ति वह सिद्ध न हो जाय तब तक उसे शिवकी मूर्ति क्यों न कहा जाय? बैलके साथ शिवका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसके कहनेकी तो जरूरत ही नहीं है।

प्रकरण आ जानेसे यहाँ मैं इस बातका खुलासा और कर देना चाहता हूँ कि कुछ जैन बन्धु बैल, हाथी, घोड़ा, चक्रवाक आदि पशु-पक्षियोंके चिह्न मिल जानेसे उन्हें जैन-तीर्थंकरोंका स्मारक समझ लेते हैं। यह ठीक है कि जैनियोंने तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंको पहिचाननेके लिये मूर्तियोंके नीचे नाम लिखनेकी अपेक्षा पशु-पक्षियोंके चिह्नोंकी कल्पना की है। परन्तु प्राचीन धर्मोकी तरह जैनधर्ममें इन पशु-पक्षियोंका कुछ महत्त्व नहीं है जिससे जैन लोग इनकी स्वतन्त्र मूर्तियाँ या चित्र बनाते। इनका उपयोग मूर्तियोंको पहिचाननेके चरण-चिह्नके रूपमें ही हुआ है। इसलिये पशु-पक्षियोंकी मूर्तियोंसे जैन-तीर्थंकरोंका अस्तित्व न समझना चाहिये। दूसरा भ्रम भी कुछ जैन-बन्धुओंको यह है कि वे मोहन-जो-दड़ोमें किसी चीज़को पाते ही उसे पाँच हजार वर्ष पुरानी समझ लेते हैं। मोहन-जो-दड़ोमें पाँच हजार वर्षतककी पुरानी चीजें मिली हैं परन्तु सभी चीजें उतनी पुरानी नहीं हैं। मोहन-जो-दड़ोकी खुदाईके सात स्तर हैं। उनमें नीचेसे जो पहला स्तर है उसीमें पाँच हजार वर्षकी पुरानी चीजें हैं। दूसरे, तीसरे, चौथे स्तरमें तो माध्यमिक कालकी वस्तुएँ हैं और ऊपरके प्रस्तरोंमें तो डेड़-दो हजार वर्षसे भी कम पुरानी चीजें हैं। यही कारण है कि मोहन-जो-दड़ोमें बौद्ध-स्तूप वगैरह भी मिले हैं जो दो हजार वर्षसे पुराने नहीं हैं।

ऊपर जो सीलें बतलाई गई हैं पहले तो उनकी प्राचीनता निर्विवाद नहीं है, दूसरे वह जैन प्रतिमा हैं इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। वे मथुराकी मूर्त्तियोंसे मिलती हैं—पहले तो इसीमें अतिशयोक्ति है। दूसरे इतनेपर भी वे शिवकी या और किसी देवकी मूर्त्ति हो सकती हैं। तीसरे उनका मथुराकी मूर्त्तियोंसे मिलना उनकी अर्वाचीनताका सूचक है। इसलिये मोहन-जो-दड़ोकी खुदाईसे जैनधर्मको महावीरसे पहलेका सिद्ध करना भ्रम है।

हाँ, यहाँ एक बात और याद आती है। वह यह कि श्वेताम्बर शास्त्रोंमें म० महावीरके विहारका विस्तृत वर्णन है। वे विहारमें कहाँ ठहरते थे इसका अनेक स्थानोंपर उल्लेख होता है और उसमें विशेषतः यक्ष-मन्दिरोंका ही वर्णन आता है, जैनमन्दिर आदिका कहीं भी उल्लेख नहीं आता। यदि जैनधर्म म० महावीरके पहलेका होता और उस समय जैन-तीर्थंकरोंकी मूर्त्तियाँ प्रचलित होतीं तो यह सम्भव ही नहीं था कि महावीर स्वामी यक्ष-मन्दिरोंमें तो ठहरते फिरते किन्तु जैन-मन्दिरोंमें या उनके आसपास न ठहरते। यह सम्भव नहीं है कि श्वेताम्बर शास्त्रकारोंने जैन-मन्दिरोंके उल्लेखोंको उड़ा दिया हो; क्योंकि श्वेताम्बरोंको भी जैनधर्मकी प्राचीनता प्रिय है। ऐसी अवस्थामें वे इस विषयके कल्पित प्रमाण बनाते यह तो किसी तरह सम्भव भी था परन्तु उपलब्ध प्रमाणोंका नाश करते यह किसी तरह सम्भव नहीं था। जैनधर्मको म० महावीरसे प्राचीन न माननेका यह भी एक ज़बर्दस्त प्रमाण है।

जो बात ऋषभदेवके विषयमें है वही बात अरिष्टनेमिके विषयमें भी है। वेदोंमें अरिष्टनेमिका नाम मिलता है। यद्यपि इस शब्दके

अर्थमें विवाद है, परन्तु यहाँ अगर यह बात मान ली जाय कि अरिष्ट-नेमि नामके कोई महापुरुष हुए हैं तो भी इससे जैनधर्मकी प्राचीनता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि इससे सिर्फ यही कहा जा सकता है कि ऋषभ, राम, कृष्ण आदिकी तरह यह नाम भी अपना लिया गया है। नेमिनाथका जो चरित्र जैन-शास्त्रोंमें मिलता है वह इतना औपन्यासिक, कलाशून्य तथा कृत्रिमतासे भरा हुआ है कि उसपर किसी प्रकार विश्वास नहीं किया जा सकता। खैर, इस चारित्रालोचनकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। सीधी बात यह है कि कोई ऐसा नाम जो वेदोंमें भी पाया जाता है अगर किसी जैन-पात्रका भी हो, तो यह जैनधर्मकी प्राचीनता सिद्ध नहीं करता है। नेमिनाथ-सम्बन्धी प्रमाण तो ऋषभदेवसम्बन्धी प्रमाणसे भी अधिक निर्बल हैं।

प्राचीनताके विषयमें 'अनन्त जिन' शब्दका भी काफी उल्लेख किया जाता है। यह शब्द उस समय प्रयुक्त हुआ है जब कि म० बुद्ध बुद्धत्त्व प्राप्त करके धर्मप्रचारके लिये बनारसकी तरफ जा रहे थे। उस समय उपक आजीवकने म० बुद्धसे पूछा कि तुम्हारा गुरु कौन है।

बुद्ध बोले—मैं सबको जीतनेवाला, सबको जाननेवाला स्वयं जानकर उपदेश करूँगा। मेरा कोई आचार्य नहीं, मेरे समान कोई नहीं, मैं अर्हत् हूँ, शास्ता हूँ, सम्यक् सम्बुद्ध हूँ, निर्वाण-प्राप्त हूँ, धर्मचक्र घुमानेके लिये काशीको जा रहा हूँ।

उपक बोला—आयुष्मन्, तुम जैसा दावा करते हो उससे तो तुम 'अनन्त जिन' हो सकते हो।

बुद्ध बोले—मेरे समान प्राणी ही 'जिन' कहलाते हैं। मैंने पापोंको जीता है, इसलिए 'जिन' हूँ।

उपक—अच्छा भाई, होगे तुम 'जिन'।

ऐसा कहकर वह लापर्वाहीसे सिर हिलाकर चला गया।

इस उद्धरणसे साफ माळूम होता है यहाँ 'अनन्त जिन' शब्दका अर्थ कोई व्यक्तिविशेष नहीं हैं किन्तु पदविशेष हैं। मैं पहले कह चुका हूँ कि पुराने समयमें जिन, अर्हत्, बुद्ध आदि शब्दोंका उपयोग अत्यन्त पवित्र महात्माओंके लिये हुआ करता था। जैन, बौद्ध, आजीवक, पूर्णकाश्यप आदि सभी अपने अपने सम्प्रदायके महात्माओंके लिये इन शब्दोंका प्रयोग करते थे। यही कारण है कि एक आजीवक साधु भी 'जिन' शब्दकी दुहाई देता है।

'अनन्त जिन' शब्दका अर्थ अगर अनन्तनाथ नामक जैन-तीर्थंकर होता तो एक आजीवक उस नामकी दुहाई कभी न देता। उस समय जैन और आजीवकोंमें भारी द्वेष था। आजीवकोंके 'जिन' मस्करी गोशाल और म० महावीरमें बहुत भयंकर विरोध हुआ था। तब एक आजीवक अगर किसी व्यक्तिविशेषकी दुहाई दे, तो अपने तीर्थंकरकी दुहाई देगा न कि एक जैन-तीर्थंकरकी।

दूसरी बात यह है कि अनन्तनाथ तो चौदहवें तीर्थंकर माने जाते हैं, तब चौबीसवें तीर्थंकरके समयमें चौदहवें तीर्थंकरके नामकी दुहाई देनेका क्या मतलब है? अगर दुहाई देना थी तो महावीरके नामकी देना थी अथवा, म० महावीरके नामकी प्रसिद्धि उस समय अधिक नहीं हो पाई थी तो, म० पार्श्वनाथके नामकी दुहाई देना चाहिये थी। तीर्थंकरोंके जीवनोंमें अनंतनाथके जीवनमें ऐसी कोई विशेषता नहीं है और न उनकी ऐसी विशेष प्रसिद्धि है जिससे यह कहा

जा सके कि काल-क्रमसे निकटके तीर्थंकरको छोड़कर उपकको अनंतनाथकी दुहाई देना पड़े।

आज अगर कोई जैन किसी जैन तीर्थंकरके नामकी दुहाई देता है तो वह म० महावीरका नाम लेता है न कि अन्य तीर्थंकरका। अन्य प्राचीन तीर्थंकरका नाम तभी लिया करता है जब कि कोई बात ऐसी कहना हो जो म० महावीरके जीवनमें न पाई जाती हो। यहाँपर महात्मा बुद्धदेवके मुँहसे अपने विषयमें जो उद्गार निकले हैं वे ऐसे नहीं हैं जो अनन्तनाथके पीछेके तीर्थंकरमें न कहे जा सकते हों, तब उपकने अनन्तनाथका नाम लिया यह कैसे कहा जा सकता है?

इससे मालूम होता है कि 'अनन्त जिन' शब्द किसी व्यक्तिका नहीं किन्तु पदका निर्देश करता है। इसका अर्थ है—अनन्त शत्रुओंको जीतनेवाला * अनन्तकालतक स्थिर रहनेवाला, अपरिमित महत्तावाला। आत्माके विकारोंको जीतनेवालेको जिन कहते हैं। जिसने अनन्त या सब विकारोंको जीत लिया वह 'अनन्त जिन' कहलाता है। यद्यपि 'अनन्त' और 'सर्व' शब्दके अर्थमें अन्तर है फिर भी दोनों कहीं कहीं पर्यायवाची शब्द बन जाते हैं। जैसे

---

*—वह पाली पाठ निम्नलिखित है—"यथा खो, त्वं आवुसो परिजानासि अरहसि अनन्त जिनोति" एक यूरोपियन विद्वानने इसका प्रामाणिक अनुवाद इस प्रकार किया है—

"Which is, as much as to say, brother, that you profess to be a saint—an immeasurable conqueror."

—'Buddhism in Translation' by Warren Page 343.

इससे भी मालूम होता है कि अनन्त जिन शब्द एक विशेषण है।

अनन्तज्ञानी और सर्वज्ञ पर्यायवाची शब्द बन जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ 'अनन्त जिन' शब्दका अर्थ पूर्ण 'जिन' है।

यह अर्थ युक्तिसंगत भी है, अबाध भी है और एक आजीवकके मुँहसे निकलने लायक भी है। वहाँपर अनन्तनाथ नामक व्यक्तिका उल्लेख होना किसी तरह भी ठीक नहीं कहा जा सकता।

इससे यह बात भी माळूम होती है कि कहीं पुराने समयमें 'जिन' शब्दका उल्लेख मिल जाय तो उसे जैनधर्मका उल्लेख न समझना चाहिये। 'जिन' शब्दका प्रयोग बौद्ध, आजीवक आदि श्रमण-सम्प्रदायोंमें आमतौरपर प्रचलित था और इस 'जिन' शब्दकी प्राचीनतासे जैनधर्मकी प्राचीनताका कोई सम्बन्ध नहीं है।

अन्तमें मैं इस बातको दुहराता हूँ कि जब म० महावीर एक तीर्थंकर थे तब उनकी धर्म-संस्था एक स्वतन्त्र धर्म-संस्था होना चाहिये और उसके संस्थापक वे ही थे।

जैनधर्म सिर्फ ढाई हजार वर्ष पुराना है, इस बातका उसकी सत्यता-असत्यतासे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस धर्म-संस्थाने भारतवर्षका बहुत कल्याण किया है तथा पुराने धर्मोंपर ऐसी छाप मारी है कि उनको पुराने विकारोंको हटाकर नवीन रूप धारण करना पड़ा है। अधिक पुराना होनेसे उसकी सेवाएँ बढ़ नहीं जातीं और नवीन होनेसे उसकी सेवाएँ घट नहीं जातीं।

महात्मा महावीर

किसी धर्मको समझनेके लिये उसके संस्थापकका जीवन-चरित बहुत उपयोगी होता है। बहुत-सी काम, जिनको हम अकाट्य नियम समझते हैं, अमुक परिस्थितिके फल होते हैं। इससे उनके विषयमें हमारा

दुराग्रह नष्ट हो जाता है। इस प्रकार संस्थापकके जीवन-चरित्रसे धर्मके निर्णय करनेमें बड़ी सुविधा होती है।

हाँ, दुर्भाग्यसे धर्मसंस्थापकोंके जीवन-चरित्र शुद्ध रूपमें उपलब्ध नहीं होते। इसका एक कारण तो यही है कि पुराने समयमें लेखन-प्रणाली बहुत प्रचलित न होनेसे वह सामग्री नष्ट हो गई है। दूसरा यह कि, भक्त लोग धर्म-संस्थापकको मनुष्य नहीं रहने देते किन्तु देव या देवाधिदेव बना देते हैं और ऐसी अलौकिक कल्पनाएँ करते हैं कि जिनको सुनकर हँसी आये विना नहीं रहती। परलोक कैसा है, देवगति कैसी है, है कि नहीं, आदि प्रश्न आज तक ज्योंके त्यों खड़े हुए हैं और उस जमानेमें भी थे, परन्तु भक्तोंकी दृष्टिमें देव तो घर-घरमें रहते थे और आते थे। इन सब असंगत, अविश्वसनीय तथा प्रमाण-विरुद्ध बातोंको दूर करके हमें महापुरुषोंके जीवनका अभ्यास करना चाहिये। इससे सिर्फ सत्यकी ही रक्षा नहीं होती किन्तु उनके पवित्र जीवनसे हम बहुत-सा वास्तविक लाभ उठाते हैं। नरसे नारायण बननेका मार्ग हमें दिखलाई देने लगता है।

म० महावीर एक असाधारण महापुरुष थे। उनके त्याग और सेवाकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। परन्तु इससे हम उनके जीवनमें असंभव और असत्य घटनाएँ मिला दें तो हम उनका महत्त्व बढ़ानेकी अपेक्षा कम ही करेंगे। और उनके जीवनको विचारशील जनताके लिये अनुपयोगी और उपेक्षणीय बना देंगे।

म० महावीरके कथनानुसार ही जगत्में कोई ईश्वर नहीं है। स्वयं म० महावीर एक दिन बहुत साधारण प्राणी थे। अनेक जन्मोंमें विकास करते करते वे महावीर हो गये। और जन्मसे तो वे एक

साधारण राजकुमार थे। ब्यालीस वर्षके उनके त्याग और तपने उन्हें एक महान् तीर्थंकर बना दिया। उनका महत्त्व त्याग और तपमें है, बाहिरी वैभवमें नहीं।

जैनधर्मके अनुसार किसी मनुष्यके बाह्य वैभवोंसे उसका महत्त्व नहीं मालूम होता। किसी मनुष्यकी देवता, इन्द्र, राजा आदि पूजा करें; वह सुन्दर हो, शरीरसे बलवान् हो, इत्यादि चिह्न उसके महत्त्वके चिह्न नहीं हैं, क्योंकि इनके विना भी कोई महात्मा हो सकता है और इनके रहने पर भी किसीमें महात्मापनका एक अंश भी न हो, यह भी हो सकता है। इसलिये बाह्यातिशयरूप भक्त-कल्प्य घटनाओंको महत्त्व देनेकी हमें ज़रूरत नहीं है। आचार्य समन्तभद्रने इस विषयमें बहुत ही अच्छा कहा है—

"देवताओंका आगमन, आकाशमें चलना आदि विभूतियाँ मायावियोंमें भी देखी जाती हैं, इसलिये आप हमारे लिये महान् नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि आपके शरीरमेंसे पसीना नहीं निकलता तथा सुगंधित जलकी वृष्टि होती है, ये अतिशय दूसरोंमें नहीं पाये जाते तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ये बातें भी देव जातिके प्राणियोंमें पाई जाती हैं जो राग, द्वेष आदि विकारोंसे मलिन हैं[१]।"

१—देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥ २ ॥
—आप्तमीमांसा।

आचार्य विद्यानन्दने इस विषयका और भी अधिक स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते हैं—

"भगवानके समान वे विभूतियाँ मष्करी आदि मायावियोंमें भी देखी जाती हैं, इसलिये हे भगवन्! आप हम सरीखे परीक्षा-प्रधानियों (समझपूर्वक जैनधर्मको माननेवालों) के पूज्य नहीं हो सकते। आज्ञा-प्रधानी लोग भले ही इन विभूतियोंको परमात्माका चिह्न समझें, परन्तु हम लोग नहीं समझ सकते क्योंकि ऐसी विभूतियाँ मायावियोंमें भी देखी जाती हैं। जो लोग ऐसा कहते हैं कि 'भगवान् पूज्य हैं क्योंकि उनके पास देवागम आदि विभूतियाँ हैं' उनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि उनका हेतु आगमाश्रय होनेसे असिद्ध हेत्वाभास है। (अर्थात् भगवानकी ये विभूतियाँ प्रत्यक्ष-अनुमान-प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हैं।) जो लोग इन विभूतियोंपर विश्वास करते हैं उनकी दृष्टिमें भी यह हेतु (विभूतिमत्त्व) अनैकान्तिक न होनेसे ठीक नहीं है।"[1]

इससे मालूम होता है कि भक्त लोगोंने जो ३४ अतिशय माने हैं उन्हें ये दोनों ही प्रथम श्रेणीके आचार्य बिलकुल साधारण, अनावश्यक और असिद्ध मानते हैं। बल्कि जो लोग इन अतिशयोंमें विश्वास करते हैं उन्हें ये आज्ञाप्रधानी कहकर हीनदृष्टिसे देखते हुए

१—ताश्च भगवतीव मायाविष्वपि मष्करिप्रभृतिषु दृश्यन्ते इति तद्वत्तया भगवन्नोऽस्माकं परीक्षा-प्रधानानां स्तुत्योऽसि। आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन्, नास्मदादयस्तादृशो मायाविष्वपि भावात्। 'श्रेयोमार्गस्य प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान् देवागमनभोयानचामरादिविभूतिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इति हेतोरागमाश्रयत्वात्। तस्य च प्रतिवादिनः प्रमाणत्वेनासिद्धेः तदागमप्रामाण्यवादिनाम् अपि विपक्षवृत्तितया गमकत्वायोगात्।

—अष्टसहस्री।

कहते हैं कि 'हम लोग ऐसे नहीं हैं, हम ऐसी बातें नहीं मान सकते' आदि।

यहाँ एक बात और भी ध्यान देनेकी है कि ये दोनों आचार्य देवागम, नभोयान, चामर आदि विभूतियोंको मष्करी आदि जैनेतर धर्मगुरुओंमें भी मानते हैं। इसलिये देवागम, नभोयान आदि शब्दोंका कोई ऐसा साधारण अर्थ करना चाहिये जो महावीर और मष्करी आदि सबमें संभवित हो। स्वर्गके इन्द्रादि देव महावीरकी भी पूजा करें और मष्करीकी भी पूजा करें, यह तो सम्भव नहीं है और अगर सम्भव हो तो इन्द्रादि देवोंद्वारा पूजे जानेका कोई महत्त्व नहीं रह जाता। इसलिये 'देव' शब्दका अर्थ दिव्यगुणयुक्त मनुष्य या किसी जातिविशेष या देशविशेषके मनुष्य लिया जाय, यही ठीक मालूम होता है।

जैनशास्त्रोंमें पाँच तरहके देवोंका उल्लेख मिलता है—भव्यद्रव्य-देव, नरदेव, धर्मदेव, देवाधिदेव, भावदेव। जो मनुष्य मरनेके बाद देवगतिमें पैदा होनेवाले हैं अर्थात् जिनका जीवन इतना अच्छा है कि उनके विषयमें यह कहा जा सकता है कि वे मर करके देव होंगे वे भव्यद्रव्य देव हैं। राजा आदि वैभवकी दृष्टिसे श्रेष्ठ कह-लानेवाले मनुष्य नरदेव हैं। संयममें श्रेष्ठ साधुलोग धर्मदेव हैं। तीर्थंकर देवाधिदेव हैं। देवगतिके जीव भावदेव हैं। इस जगत्‌में जहाँ देवोंका जिकर आवे वहाँ प्रारम्भके चार भेदोंमेंसे ही कोई भेद लेना उचित है।

१—कतिविधा णं भंते देवा पण्णत्ता? गोयमा! पञ्चविधा देवा पण्णत्ता। तं जहा—भवियदव्वदेवा नरदेवा धम्मदेवा देवाहिदेवा भावदेवा य।

—भगवती १२-९-४६१

इसी प्रकार नभोयान शब्दका अर्थ भी इस तरहसे 'चलना' लेना चाहिये जिससे हिंसा न हो।

आचार्य विद्यानन्द इस बातको माननेके लिये तैयार नहीं हैं कि जैन-तीर्थंकरका देवागम नभोयान जैसा है वैसा दूसरोंका नहीं है। ये विभूतियाँ वे इनमें और उनमें एक सरीखी मानते हैं। इसलिये उनका कहना है कि—

"कोई कोई कहते हैं कि 'जैसी विभूतियाँ तीर्थंकरमें पाई जाती हैं वैसी मायावियोंमें नहीं पाई जातीं' परन्तु यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि किस प्रमाणसे यह बात सिद्ध की जायगी कि मायावियोंमें वे विभूतियाँ नहीं पाई जातीं? प्रत्यक्ष और अनुमानसे तो हम इस बातको साबित कर नहीं सकते। रहा आगम, सो आगमकी सत्यतामें प्रमाण क्या है? अगर प्रमाणसे आगमकी सचाई सिद्ध की जाय, उससे विभूतियाँ सिद्ध की जायँ और विभूतियोंसे भगवान्‌का महत्त्व सिद्ध किया जाय तो इस परम्परा-परिश्रमसे क्या फायदा है? इससे अच्छा तो यही है कि आगम और विभूतियोंको सिद्ध करनेके झंझटसे बचकर भगवान्‌के महत्त्वको ही सिद्ध किया जाय[1]।"

इस वर्णनसे देवागम आदि शब्दोंका वास्तविक अर्थ, और इन

१—यथोदितविभूतयस्तीर्थकरे भगवति त्वयि, तादृश्यो मायाविष्वपि न इत्यतस्त्वं महानस्माकम् असि इति व्याख्यानाद्ग्रन्थविरोधाभावात् इति कश्चित्, सोऽपि कुतः प्रमाणात्प्रकृतहेतुं विपक्षासम्भविनं प्रतीयात्? न तावत्प्रत्यक्षादनुमानाद्वा तस्य तदविषयत्वात्। नाप्यसिद्धप्रामाण्यादागमात्तत्प्रतिपत्तिः अतिप्रसंगात्। प्रमाणतः सिद्धप्रामाण्यादागमात्तत्प्रतिपत्तौ ततः प्रतिपत्तिरेवास्तु परम्परापरिश्रमपरिहारश्चैवं प्रतिपत्तुः स्यात्।

—अष्टसहस्री।

विभूतियोंकी असिद्धता, अकिंचित्करता (अनावश्यकता) सिद्ध हो जाती है।

जिस प्रकार घुँघची, मूँगा आदिके वन्य और ग्रामीण आभूषणोंसे किसी सुन्दरीका सौन्दर्य विकृत दीखने लगता है उसी प्रकार अनेक अतिशयोंसे म० महावीरके चरित्रको विकृत कर दिया गया है। हर्षकी बात यही है कि जैन-शास्त्रोंमें अतिशयोंकी निरर्थकता आदिको सिद्ध करनेवाले उल्लेख मिलते हैं—अनेक सुप्रतिष्ठित आचार्य इन भक्ति-कल्प्य घटनाओंकी निःसारताकी घोषणा करते रहे हैं। यद्यपि वे भक्ति-कल्प्य बातोंका बहिष्कार नहीं कर सके, फिर भी जो कुछ वे कर सके वह बहुत था। यदि आजसे डेढ़-दो हजार वर्ष पहले इन अतिशयोंका कुछ मूल्य नहीं था तो इस वैज्ञानिक युगमें तो इनका मूल्य क्या हो सकता है? इसलिये अगर इन अप्रामाणिक और अनावश्यक घटनाओंको अलग करके हम म० महावीरके पवित्र चरित्रपर विचार करें तो हमें अपूर्व सात्विक आनन्द मिलेगा। इन भक्ति-कल्प्य राजस घटनाओंके पढ़नेसे हमें वास्तविक आनन्द नहीं मिलता, बल्कि एक तरहका नशा चढ़ता है। इस नशेमें हम म० महावीरके नामकी पूजा कर सकते हैं किन्तु जैनधर्मकी पूजा नहीं कर सकते।

यदि हम जैनधर्मको वैज्ञानिक धर्मके रूपमें देखना चाहते हैं तो हमें उसके साहित्यमेंसे यह ' अद्भुत रस ' निकाल देना चाहिये। म० महावीरके जीवन-चरित्रमेंसे ही क्या, परन्तु जैनधर्मके अन्य अङ्गोंमें भी जो यह ' अद्भुत रस ' बढ़ गया है अथवा जो शिष्योंको समझानेके लिये उदाहरणार्थ आया था और आज वैज्ञानिक सत्यके

सिंहासनपर जा बैठा है, उसका विचार करना पड़ेगा। तभी हम म० महावीरको और जैनधर्मको सच्चे रूपमें समझ सकेंगे। यहाँ मैं म० महावीरके जीवनका परिचय संक्षेपमें दूँगा और उसमेंसे अद्भुत रसको निकाल दूँगा। इसके अतिरिक्त अपनी बुद्धिके अनुसार इन भक्ति-कल्प्य घटनाओंमें वास्तविक सत्य कितना और कैसा है, इसपर भी विचार करूँगा।

म० महावीरके जीवन-चरितके विषयमें दिगम्बर और श्वेताम्बर-सम्प्रदायोंकी मान्यतामें अन्तर है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि जैनधर्मके मर्मको खोजनेवाला इनमेंसे किसी भी सम्प्रदायके साथ पक्षपातका व्यवहार नहीं कर सकता। इसलिये जो घटना जिस सम्प्रदायकी युक्तियुक्त और सम्भव मालूम होगी वही मान ली जायगी। जहाँ युक्तियुक्ततासे भी निर्णय न होगा वहाँ उसकी जाँच शिक्षाप्रद-तासे की जायगी। यह नीति म० महावीरके जीवन-चरित लिखनेमें ही नहीं किन्तु जैनधर्मकी प्रत्येक विवादग्रस्त बातके निर्णयमें काममें ली जायगी।

म० महावीरका जन्म सिद्धार्थ नरेशके गृहमें हुआ था। सिद्धार्थ नरेश कुण्डलपुरके शासक और गण-राज्यके नेता थे। उस समयके राजघरानोंसे इनका वैवाहिक सम्बन्ध था। ये म० पार्श्वनाथके अनु-यायी थे। इनकी माता राजा चेटककी पुत्री थीं।

इसके बाद दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराका महावीर जीवनके विषयमें मत-भेद हो जाता है। श्वेताम्बरोंके अनुसार म० महा-वीरके बड़े भाई नन्दिवर्धन थे और म० महावीर ८२ दिन एक ब्राह्मणीके गर्भमें रहे थे; जब कि दिगम्बर सम्प्रदाय इस

विषयमें चुप है । यहाँ यह बात कह देना आवश्यक है कि दिगम्बर सम्प्रदायके ग्रंथोंमें म० महावीरका चरित इतना संक्षिप्त है कि मानो दिगम्बरोंको महावीरके व्यक्तित्वसे विशेष मतलब ही न रहा हो । श्वेताम्बर ग्रंथोंमें इस विषयका विस्तृत विवरण है । इसलिये महावीरका जीवन-चरित लिखनेमें श्वेताम्बर साहित्यसे विशेष सामग्री मिलती है । इसका कारण संभवतः यह भी हो सकता है कि प्राचीन सूत्र-ग्रंथ विकृत हो जानेसे जब दिगम्बरोंने अमान्य ठहरा दिये तब उसमेंकी बहुत-सी सामग्री इनके पास न रही और इस विषयमें साधारण सामग्रीसे ही इन्होंने संतोष माना । 'विशेष घटनाओंपर उपेक्षा करनेपर भी जैनधर्मको समझनेमें कुछ भी कठिनाई नहीं है' संभवतः यह समझकर विशेष विवरण उनने छोड़ दिया । यहाँ मैं दोनों सम्प्रदायोंकी घटनाओंको मान लूँगा और उनमेंसे युक्तिशून्य, असंभवनीय आदि घटनाओंका त्याग कर दूँगा। जो घटना साम्प्रदायिक बुद्धिसे कल्पित मालूम होगी वह छोड़ दी जायगी या उसका विरोध किया जायगा ।

'म० महावीरके बड़े भाई नन्दिवर्धन थे' इस मान्यतासे न तो दिगम्बर सम्प्रदायके किसी खास सिद्धान्तका विरोध होता है, न श्वेताम्बर सम्प्रदायके किसी खास सिद्धान्तका समर्थन, इसलिये इस बातको माननेमें कुछ आपत्ति नहीं है । परन्तु म० महावीरका ८२ दिन तक देवानन्दाके गर्भमें रहना, बादमें इन्द्रद्वारा गर्भापहरण होना, यह बात नहीं मानी जा सकती । यहाँ प्रश्न यह होता है कि इस घटनासे श्वेताम्बरत्वकी पुष्टि नहीं होती, न दिगम्बरत्वका खण्डन, तब क्या कारण है कि श्वेताम्बर साहित्यमें इस घटनाको स्थान मिला ? यह

घटना म० महावीरके व्यक्तित्वको बढ़ानेवाली भी नहीं है, इसलिये इस असत्य कल्पनाका कोई दूसरा कारण होना चाहिये ।

दो ही कारण समझमें आते हैं। एक तो यह कि म० कृष्णके जीवन चरित्रका म० महावीरके जीवन-चरित-लेखकपर प्रभाव पड़ा हो। म० कृष्ण और म० महावीरके जीवन-चारितमें कुछ ऐसी समानताएँ आ गई हैं जो सत्यतासे सम्बन्ध नहीं रखतीं। जैसे कृष्णका गोवर्धन उठाना, और महावीरका मेरुकम्पन, कृष्णद्वारा सर्परूपधारी अघासुरका और अश्वरूपधारी प्रलम्बासुरका वध तथा महावीरद्वारा इन रूपोंको धारण करनेवाले देवोंका पराजय। कृष्णद्वारा कालिय-दमन महावीरद्वारा चण्डकौशिक-वशीकरण, कृष्णद्वारा अग्नि-पान पूतनावध, महावीरद्वारा अग्नि-उपसर्ग-सहन, तथा कठपूतना व्यन्तरीका पराजित होना आदि।

इसी प्रकार यहाँ सम्भव है कि विष्णुके एक अंशका देवकीके गर्भसे रोहिणीके गर्भमें संक्रमण होनेके समान यहाँ भी गर्भापहरण हुआ हो। अथवा दूसरा भी कारण हो सकता है। इस विषयका वर्णन है कि—

‘ जिस समय देवानन्दाका गर्भ अपहरण कर लिया गया उस समय वह चिल्ला उठी कि मेरा गर्भ किसीने हर लिया। ’ इस वर्णनसे इतना तो मालूम होता है कि उस समय स्त्री-समाजमें यह मिथ्या मान्यता प्रचलित थी कि स्त्रियोंका गर्भ हरण किया जाता है। देवानन्दाका गर्भ ८२ दिवसमें किसी कारण गिर गया हो और स्त्री-सुलभ उक्त मान्यताके अनुसार यह प्रसिद्धि हो गई हो कि देवानन्दाका गर्भ किसीने हर लिया है; उधर त्रिसला देवीके गर्भ-वर्णनसे इस घटनाका सम्बन्ध कुछ ठीक

बैठता है। ' एक बार गर्भस्थ भगवान्‌ने यह सोचा कि मेरे हलन-चलनसे माताको कष्ट न हो इसलिये वे इस प्रकार निस्तब्ध हो गये कि त्रिसलादेवीको यह सन्देह होने लगा कि मेरा गर्भ किसीने हर तो नहीं लिया अथवा गल तो नहीं गया ? इस आशंकासे कुटुंबी जन भी बहुत दु:खी हुए, तब भगवान्‌ने अंग फरकाया जिससे गर्भका अस्तित्व मालूम हुआ। ' गर्भस्थ बालकके सोचनेकी भक्ति-कल्प्य बातको अगर हम अलग कर दें तो इस वर्णनसे इतना तो मालूम होता है कि कुछ समयके लिये त्रिसला देवीका गर्भ गूढ़ हो गया था। त्रिसला देवी और देवानन्दाकी इन घटनाओंको मिलाकर लोकमें यह प्रसिद्धि हो गई हो कि वास्तवमें त्रिसलादेवीके गर्भ था ही नहीं—वह तो देवानन्दाका गर्भ अपहृत होकर त्रिसलाकी कुक्षिमें आ गया है। पीछेसे यह प्रसिद्धि धर्म-ग्रन्थोंमें पहुँच कर इन्द्रको बुला लाई हो और इस तरह वह अपने वर्तमान रूपको पहुँची हो।

ब्राह्मणकुलको नीच कुल साबित करनेके लिये यह घटना कल्पित की गई हो, यह बात बिलकुल नहीं जँचती। यह कार्य अन्य अनेक उपायोंसे हो सकता था। उसके लिये ऐसी असंभव घटना कल्पित नहीं की जा सकती। हाँ, यह निश्चित है कि किसी कारण गर्भ-हरणकी प्रसिद्धि हो गई और पीछे ग्रन्थकारोंने ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेका बहाना ढूँढ़ लिया।

इस घटनाका मूल खोजनेके लिये यह सिर्फ दिङ्निर्देश है। सम्भव है इसका और कोई कारण हो, जिसे आज हम नहीं जानते।

म० महावीरका जन्मोत्सव अच्छी तरह मनाया गया था और वे बाल्यावस्थासे ही बलवान्, निर्भय, साहसी और बुद्धिमान् थे। उनकी

इस असाधारणताको भक्त लोगोंने अलौकिक और अविश्वसनीय रूप दे दिया है। कोई कहता है कि उनको जन्मसे तीन ज्ञान थे, इन्द्रने मेरुपर ले जाकर बड़े बड़े घड़ोंसे स्नान कराया था, प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्न बरसते थे, वे तीन लोकके गुरु थे इसलिये उन्हें पाठशालामें नहीं जाना पड़ा, किसीके मतसे गये भी तो इन्द्रने आकर उन्हें गुरुके आसनपर बिठलाया, उन्होंने उस समय ऐन्द्र व्याकरण बनाया। ये सब घटनाएँ भक्तिकल्प्य हैं, इसलिये इनपर विशेष विचार नहीं किया जाता। हाँ, कुछ घटनाएँ ऐसी हैं जिनको अगर वास्तविक रूपमें देखा जाय तो वे म० महावीरकी महत्ताकी सूचक हैं और सम्भव भी माल्रम होती हैं।

एक बार बालक महावीर अन्य बालकोंके साथ खेल रहे थे। वृक्ष-पर कौन कितना ऊँचा चढ़ सकता है, यह खेलका विषय था। जब महावीर वृक्षके ऊपर चढ़े थे उसी समय वहाँ एक सर्प आ गया और वृक्षके पास रुक रहा। सब लड़के उसे देखकर भागने लगे परन्तु महावीरने उसकी पूँछ पकड़कर रस्सीकी तरह उसे घुमाकर दूर फेंक दिया। इससे उनकी निर्भयता माल्रम होती है। परन्तु भक्त-हृदयको इतने महत्त्वसे सन्तोष नहीं हो सकता, इसलिये उसने यह कल्पना की कि वह सर्प नहीं था किन्तु देव था जो कि इन्द्रके मुखसे महावीरकी प्रशंसा सुनकर उनकी परीक्षा लेने आया था। भक्तोंका यह भोलापन विश्वासके योग्य नहीं, विनोदके योग्य है। महावीर-जीवनकी ऐसी बहुत-सी घटनाएँ दैवी बना दी गई हैं। मज़ा यह है कि इन्द्र महोदय बराबर भगवान्की प्रशंसा करते थे और फलस्वरूप महावीरपर एक न एक आपत्ति टूट पड़ती थी, परन्तु

इन्द्र अपने अधीन देवोंको इन उत्पातोंसे न रोकते थे। इसी प्रकार भगवान्‌की सेवा करनेवाले देव आपत्तिके समयपर सूरत भी न दिखलाते थे और अनावश्यक समय खूब हाज़िरी दिया करते थे। मतलब यह कि जब कोई भक्त ऐसी कल्पनाएँ करने लगता है तब उसे यह चिन्ता नहीं रहती कि ऐसी अविश्वसनीय कल्पनाओंसे घटनाका अस्तित्व भी अविश्वसनीय हो जायगा। उसे तर्क-वितर्कसे कुछ मतलब नहीं रहता। वह तो यह देखता है कि मेरा इष्टदेव बाहिरी बातोंमें भी किसीके इष्टदेवसे कम न रह जाय। सभी सम्प्रदायोंने अपने इष्टदेवका महत्त्व बढ़ानेके लिये बेचारे इन्द्रादि देवोंका इसी तरह प्रयोग किया है, क्योंकि साधारण लोग किसी आत्माकी महत्ता ऐसी ही बातोंमें समझते हैं। परन्तु धर्मका मर्म जाननेवालेके सामने ऐसी घटनाओंका कुछ भी महत्त्व नहीं है। वह उन घटनाओंके प्राकृतिक रूपमें ही वास्तविक महत्त्वके दर्शन करता है।

धर्मके नामपर उस समय जैसा अकाण्ड ताण्डव हो रहा था, निरपराध प्राणियोंकी जैसी हत्या हो रही थी, परलोक, आत्मा आदिके विषयमें जैसी कल्पनाएँ उड़ा करती थीं, समन्वय न होनेसे पारस्परिक विरोध जैसा भयङ्कर रूप धारण कर रहा था, स्त्रियों और शूद्रोंका जैसा अपमान और दमन हो रहा था, संयमकी जिस प्रकार हत्या हो रही थी, लोग चरित्र-बलसे जैसे शून्य हो रहे थे उसे देखकर महावीरका मन बहुत चिन्तित रहता था। यद्यपि महात्मा पार्श्वनाथका धर्म चल रहा था परन्तु उसमें बहुत शिथिलता आ चुकी थी और बहुत-सी त्रुटियाँ भी थीं। इन सबका सुधार करके युगान्तर उपस्थित करनेका विचार महावीरके मनमें सदा

आया करता था। परन्तु इस कामकी पूरी तैयारी न होनेके कारण तथा माता-पिता आदिके आग्रहके कारण वे शीघ्र ही प्रव्रज्या न ले सके। इस तरह उनकी तीस वर्षकी उमर हो गई। दिगम्बरोंके कथनानुसार उनने विवाह नहीं कराया, श्वेताम्बरोंके कथनानुसार उनका विवाह हुआ और एक पुत्री भी पैदा हुई। तीर्थंकर विवाह करावें या अविवाहित रहें, जैनधर्मका इनमेंसे किसी बातसे विरोध नहीं है। इसलिये यहाँ इस बातपर उपेक्षा की जाती है। जब महावीरकी उमर २८ वर्षकी थी तब उनके माता-पिताका देहान्त हो गया। तीस वर्षकी उमरमें उन्होंने गृह-त्याग किया।

मालूम होता है कि उनके पास किसी दिन कुछ पुरुष आये और उन्होंने समाजकी दुर्दशाकी बात कही और कहा कि आप किसी ऐसे तीर्थकी स्थापना कीजिये जिससे इन अत्याचारोंका अन्त हो—समाजकी एक बार कायापलट हो जाय। उनकी प्रार्थनाने काम किया, महावीरने इस कार्यके लिये गृह-त्याग किया। महावीरसे प्रार्थना करनेवाले इन लोगोंको जैनशास्त्रोंमें 'लौकान्तिक देव' कहा गया है। पीछेसे इन लौकान्तिक देवोंका स्थान हर-एक जैन तीर्थंकरके जीवन-चरितमें बन गया है। इसी प्रकार दीक्षाके लिये महावीरको जो समारोहके साथ विदाई दी गई थी उसको भक्तोंने इन्द्रके द्वारा किया गया 'तप कल्याणक' मान लिया है।

तीर्थकी रचनाके लिये महावीरको बहुत काम करना था। दूसरोंके दुःख दूर करनेके पहले, दुःख दूर करनेका उपाय क्या है, वह उपाय व्यवहारमें लाया जा सकता है कि नहीं, यदि लाया जा सकता है तो स्वयं उसे व्यवहारमें लाना, लोगोंकी सब शंकाओंका

समाधान करना, लोग उस मार्गमें अच्छी तरह चल सकें इसके लिये नियम बनाना, तथा उन सबको पहले अपने जीवनमें उतारना, अनुभव करना, पीछे दूसरोंसे कहना—यह विशाल कार्यक्षेत्र महावीरके सामने पड़ा था। इसको पार किये बिना वे एक शब्द भी किसीसे नहीं कहना चाहते थे। बारह वर्ष तपस्याके समय उन्होंने अनुभवपूर्वक जो प्रत्येक बातका निर्णय किया वह निर्णय पूर्णताको प्राप्त होनेपर 'केवलज्ञान' कहलाया। पीछेसे उन्होंने यह ज्ञान अपने शिष्योंको भी कराया परन्तु शिष्योंका वह ज्ञान अनुभवमूलक नहीं था किन्तु उनके मुँहसे सुना हुआ था, इसलिये 'श्रुतज्ञान' कहलाया। उनका ज्ञान अनुभवमूलक था इसलिये वह 'प्रत्यक्ष' कहलाया जब कि शिष्योंका श्रुतज्ञान 'परोक्ष' कहलाया। शिष्योंका यह श्रुतज्ञान भी जब तप करते करते (किसी वस्तुका विचार करना भी तप है) अनुभव-मूलक हो जाता था तब वह भी 'केवलज्ञान' कहलाता था।

म० महावीर अपनेको पवित्र और केवलज्ञानी बना लेना चाहते थे। जब तक उन्होंने इस पवित्रता और केवलज्ञानको प्राप्त न कर लिया तबतक किसीको कुछ उपदेश नहीं दिया। इसलिये जैन-शास्त्रोंमें यह लिखा हुआ है कि बारह वर्ष तक उन्होंने 'मौन' रक्खा। इसका अर्थ लोगोंने यह समझ लिया कि बारह वर्ष तक किसी तरहकी बातचीत ही नहीं की; परन्तु यह बात नहीं है। 'मौन' रखनेका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि उन्होंने धर्म-प्रचारका काम नहीं किया। आज भी किसी विशेष विषयमें न बोलने-वाले मनुष्यसे हम कहते हैं कि तुमने 'मौन' क्यों ले लिया है? भले ही वह अन्य बातें करता हो, परन्तु जिस विषयमें उसे बोलना चाहिये उस विषयमें न बोलनेसे वह 'मौनी' कहलाता है।

सत्य उपदेश देनेके लिये दो बातोंकी आवश्यकता है। एक तो वीतरागताकी, दूसरे सत्यज्ञानकी। कषाय और अज्ञान ये दो ही कारण मिथ्योपदेशके हो सकते हैं। जिसमें कषाय नहीं है, अज्ञान नहीं है, वह दुनियाका अकल्याण या वञ्चना नहीं कर सकता। जैनधर्मका सिद्धान्त है कि जब तक आत्मामें कषाय रहती है तब तक उसे सत्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि बिना वीत-रागताके हम अपने अनुभवोंसे वास्तविक सिद्धान्त निश्चित नहीं कर सकते। एक घटनाका रागीके ऊपर जो प्रभाव पड़ता है, उससे जुदा ही असर वीतरागके ऊपर पड़ता है। वह उसकी वास्तविकताको समझ जाता है—उसके ऊपर व्यापक दृष्टिसे विचार करता है। इसलिये सत्यज्ञान प्राप्त करनेके लिये वीतरागता पूर्ण आवश्यक है। वीतरा-गता जितनी अधिक होगी, ज्ञान उतना ही अधिक पूर्ण और सत्य होगा। जहाँ वीतरागताका अन्त है, वहाँ सत्यज्ञानका भी अन्त है। जो वीतरागता (निःकषायता) कठोरसे कठोर उपसर्गोंके आनेपर भी या बड़ेसे बड़े प्रलोभनके मिलनेपर भी चलित नहीं होती वही पूर्ण वीतरागता कहलाती है। उसे ही जैन-शास्त्रोंमें 'यथाख्यात चारित्र'के नामसे कहा गया है। यदि यह वीतरागता क्षणिक नहीं है तो नियमसे केवलज्ञान पैदा कर देती है। जैनशास्त्रोंके अनु-सार 'क्षायिक यथाख्यात' चारित्रके होनेपर केवलज्ञान प्राप्त करनेके लिये विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसका कारण यही है कि पहले जिस तत्त्वका कषाय होनेके कारण पूर्ण सत्यरूपमें अनुभव नहीं होता था, यथाख्यात चारित्रके प्राप्त होनेपर वह होने लगता है। यही केवलज्ञान है।

यों तो म० महावीरने जबसे घर छोड़ा तभीसे उनमें वीतरागता थी, परन्तु वह सच्ची और स्थिर है कि नहीं इस बातकी परीक्षा तभी हो सकती थी जब कठोरसे कठोर परीक्षा होनेपर भी वह टिकी रहती। इस प्रकार वीतरागताकी जाँचके लिये तथा उसमें जो कुछ छोटी-मोटी त्रुटि रह गई हो उसे दूर करनेके लिये भगवान्ने कठोरसे कठोर उपसर्गोंको विजय किया, परिषहें सहीं, तपस्याएँ कीं।

इन तपस्याओंसे उन्होंने यह भी जान लिया कि किन किन चिह्नोंसे किसी मनुष्यकी पूर्ण वीतरागताका पता लगाया जा सकता है। इसका फल यह हुआ कि बहुतसे मनुष्योंका, जो वास्तवमें पूर्ण वीतराग और केवली हो जाते थे, गौतम पता भी न लगा पाते थे, किन्तु म० महावीर तुरन्त जान जाते थे कि अमुक मनुष्य केवली हो गया है।

अनेक बार ऐसा हुआ है कि गौतम गणधरके शिष्य 'केवली' हो जाते थे, किन्तु गौतमको इस बातका पता भी न लगता था कि मेरे ये शिष्य केवली हो गये हैं, इसलिये वे अपने केवली शिष्योंको साधारण शिष्योंकी तरह आज्ञा देते थे और उस समय म० महावीर गौतमको यह कहकर रोक देते थे कि—"गौतम, केवलीका अपमान मत करो।" यह सुनकर गौतम पश्चात्ताप करते थे। इससे यह बात साफ़ मालूम होती है कि म० महावीरने बारह वर्षके तपोमय जीवनमें अपने जीवनके अनुभवसे इस बातका भी निर्णय किया था कि सच्ची और पूर्ण वीतरागता तथा पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेपर मनुष्यका जीवन कैसा हो जाता है और उसके चेहरेपर कौनसे सूक्ष्म चिह्न आ जाते हैं। उपसर्गादि-विजयसे मनुष्यकी वीतरागता परी-

क्षित हो जाती है; परन्तु अगर किसीको इस प्रकार परीक्षा देनेका अवसर प्राप्त न हो तो उसका कैवल्य रुक नहीं सकता। इस प्रकार कैवल्य प्राप्त करनेवालोंको भले ही उपसर्गादि विजय प्राप्त करनेका अवसर न मिले परन्तु उनमें सब प्रकारके उपसर्गोंको विजय करनेकी शक्ति अवश्य रहनी चाहिये।

तपस्याकी शक्ति न रहनेपर मनुष्य न तो पूर्ण वीतराग हो सकता है, न दुःखोंपर विजय प्राप्त कर सकता है। पहले कहा जा चुका है कि पूर्ण सुखी बननेके लिये हरएक प्रकारके दुःखोंके साथ लड़नेकी पूर्ण शक्ति होना चाहिये। अगर हम दो दिनकी भूखसे डरेंगे, किसी प्रकारके कष्टसे घबराएँगे तो हमारे पीछे भय लगा रहेगा। जहाँ भय है वहाँ न तो वीतरागता है, न सुख। यही कारण है कि हम म० महावीरके जीवनमें तपकी महत्ता पाते हैं। यह तप प्रशंसाके लिये नहीं था, दुखी होनेके लिए नहीं था, किन्तु दुःखको विजय करनेके लिये, सुखको पूर्ण और स्थिर बनानेके लिये था।

इस प्रकार म० महावीरने पूर्ण वीतराग और पूर्णज्ञानी (केवलज्ञानी) बननेके लिये बारह वर्ष तक सफल तपस्या की। परन्तु वीतराग और सर्वज्ञ हो जानेसे ही कोई तीर्थङ्कर नहीं हो जाता। इतनेसे वह सिर्फ़ 'अर्हन्त' बनता है। म० महावीरके शिष्योंमें ऐसे सात सौ 'अर्हन्त' थे, परन्तु वे तीर्थङ्कर नहीं थे। अर्हन्तोंमें जो धर्म-संस्थापक अर्हन्त होते हैं वे 'तीर्थङ्कर' कहलाते हैं। वे तत्त्वज्ञ ही नहीं होते—तत्त्वप्रदर्शक भी होते हैं। वे धर्मकी मूर्त्ति दुनियाके सामने रखते हैं। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावके अनुसार वे धर्मके नियमोपनियम बनाते हैं, उनका लोगोंसे पालन कराते हैं, संघका संस्थापन और संचालन करते हैं। इन सब

कार्योंको करते हुए भी वे निर्लिप्त रहते हैं। इस प्रकार तीर्थङ्कर बननेकी तैयारी उन्होंने बारह वर्षकी तपस्याके समय की थी। तपस्या करते समय उनको सैकड़ों प्रकारके अनुभव हुए थे। साधारण लोगोंको जिन अनुभवोंका कुछ भी मूल्य नहीं मालूम होता वे ही अनुभव, महात्मा लोगोंके युगान्तरकारी सुधार-कार्यमें, सहायक होते हैं। तीर्थ-प्रवृत्तिके लिये उन्होंने जो अनेक प्रकारके नियमोपनियम बनाये थे उनके पीछे उनका अनुभव था। महात्मा लोग जिन जिन घटनाओंसे शिक्षा लेकर नियम निर्माण करते हैं उन सबका पता इतिहासमें तो क्या, परन्तु उन महात्माओंके जीवन-समयमें भी नहीं मिलता। यही बात म० महावीरके विषयमें भी है। किन किन घटनाओंने उन्हें किन किन नियमोंको बनानेके लिये प्रेरित किया इसका पता आज नहीं लग सकता। फिर भी कुछ नियमोंके कारण हमें अवश्य मिल जायँगे, और उनसे हम बाकी नियमोंके कारणोंका थोड़ा बहुत अनुमान कर सकेंगे।

बारह वर्षकी तपस्यासे भगवान्‌को तीन चीज़ें मिलीं। पूर्ण वीतरागता, पूर्ण ज्ञान और तीर्थङ्करत्व। भक्त लोगोंने म० महावीरको जन्मसे ही तीर्थंकर मान लिया है; परन्तु जैनधर्मके कर्म-सिद्धान्तको जाननेवाला एक बालक भी इस बातको नहीं मान सकता। जन्मके समय किसी भी प्राणीको चतुर्थसे अधिक 'गुणस्थान' नहीं होता और जैन-धर्मके अनुसार तीर्थंकरत्व तेरहवें गुणस्थानमें होता है। यह वह समय है जब तपस्या करनेके बाद मनुष्य पूर्ण वीतरागता और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसलिये महावीर तपस्याके बाद ४२ वर्षकी उमरमें तीर्थङ्कर बने थे। कर्म-सिद्धान्तका इतना स्पष्ट विवेचन होनेपर

भी लोगोंने भक्तिके वश जन्मसे ही महावीरको तीर्थंकर मान लिया और अनेक तरहके अलौकिक तथा अविश्वसनीय अतिशयोंसे उनके जीवनके स्वाभाविक सौन्दर्यको ग्रामीण बना डाला।

मैं पहले ही कह चुका है कि जिस प्रकारके अतिशयोंसे भक्त लोग खुश हुआ करते हैं उनसे किसी भी महात्माका महत्त्व नहीं बढ़ता। विश्वके उद्धारके लिये ' महात्मा 'की आवश्यकता है, ' महर्द्धिक 'की नहीं। अलौकिक घटनाओंसे मढ़ा हुआ पहले तो अविश्वसनीय होता है। अगर किसीने विश्वास भी किया तो वह उसके नामपर सिर झुका सकता है, परन्तु उसका अनुकरण नहीं कर सकता। जो हमारे लिये अनुकरणीय नहीं है उसकी पूजा निरर्थक है।

इन अलौकिक और अविश्वसनीय घटनाओंको दूर करके भी म० महावीरके जीवनमें हम इतनी महत्ता देखते हैं कि हमारा मस्तक विनयसे झुक जाता है।

बारह वर्षका तप।

यह बारह वर्षका समय म० महावीरके जीवनका बहुत महत्त्वपूर्ण समय है। भक्त लोगोंकी मान्यताके अनुसार तो तीर्थंकरोंका मार्ग नियत रहता है। उनको सिर्फ़ उसपर चलनेका काम ही बाकी रहता है; परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह बात किसी साधारण सुधारकके विषयमें ही कही जा सकती है। तीर्थंकरको तो मार्गपर चलनेके साथ मार्ग खोजना पड़ता है और मार्ग बनाना पड़ता है। आज हम जैन-मुनिकी चर्या जैसी समझते हैं और म० महावीरने भी कैवल्य प्राप्त होनेके बाद जैसे नियमोपनियम बनाये थे वे सब उनको पहलेसे ही मालूम नहीं थे। परन्तु उनको जैसे जैसे

अनुभव होता गया वैसे वैसे वे नियम बनाते गये और उनका पालन करते गये। इन बारह वर्षके अनुभवोंका सार म० महावीरने जगत्को सुनाया और उस सुपथपर लोगोंको चलाया।

मार्गशीर्ष कृष्णा १० को दीक्षा लेनेके बाद म० महावीरने अपने पास सिर्फ एक वस्त्र रक्खा था। राजकुमार होनेसे वह वस्त्र बहुत मूल्यवान् था। एक गरीब ब्राह्मणने उनको राजपुत्र समझकर भिक्षा माँगी। उन्होंने कहा—'अब तो मैं त्यागी हो चुका हूँ, इसलिये तुम्हें क्या दे सकता हूँ, फिर भी मेरे पास जो वस्त्र है इसका आधा भाग तुम ले लो।' ब्राह्मण वस्त्र लेकर एक वस्त्र सुधारनेवालेके पास गया। उसने कहा—'तुम वह आधा वस्त्र और ले आओ तो इसका बहुत मूल्य मिलेगा।' वह ब्राह्मण महात्मा महावीरके पीछे पीछे फिरने लगा। एक बार वह वस्त्र रास्तेके किसी काँटेदार वृक्षसे फँसकर गिर पड़ा और उसे उस ब्राह्मणने उठा लिया। भगवान्ने भी ब्राह्मणको वस्त्रके लिये अपने पीछे आता देखकर तथा वस्त्रको एक झंझट समझकर उसका त्याग कर दिया। फिर उन्होंने जीवन-भर वस्त्र धारण नहीं कियो[1]। आज तो उनकी मूर्ति केवल वस्त्रोंसे ही नहीं किन्तु सोने, चाँदी, हीरे आदिके आभूषणोंसे भी सजाई जाती है! यह कैसी विडम्बना है!

एक बार कूर्मार ग्रामके बाहर महात्मा महावीर कायोत्सर्ग-स्थित थे। वहाँ एक ग्वाला आया, और अपने बैल वहाँपर छोड़कर ग्राममें गाय दुहनेके लिये चला गया। ग्वालाके चले जानेसे बैल इधर-उधर चरते

१—यह घटना दिगम्बर-साहित्यमें नहीं है। सम्भव है किसी और कारणसे उन्होंने कपड़ा छोड़ा हो, या प्रारम्भसे ही वे नग्न रहे हों।

चरते जंगलमें चले गये। ग्वालाने लौटकर महात्मासे पूछा कि बैल कहाँ हैं ? परन्तु वे ध्यानस्थ थे; कुछ न बोले। इसलिये उसने समझा कि इस मुनिको कुछ नहीं मालूम। वह इधर-उधर बैल ढूँढ़ने लगा। सारी रात्रि बैल खोजता रहा। अन्तमें निराश होकर प्रातः-कालके पहले ही वह वहाँ आया जहाँ महात्मा ध्यानस्थ थे। बैल भर-पेट घास चरकर वहाँ आ बैठे थे। ग्वालाने वहाँ आकर बैलोंको देखा तो उसने समझा कि इस मुनिने मेरे बैलोंको कहीं छुपा दिया था और अगर मैं थोड़ी देर यहाँ न आता तो प्रातःकाल होने-पर यह ज़रूर मेरे बैलोंको ले जाता। यह सोचकर वह महात्माको गाली देने लगा और मारनेके लिये दौड़ा। इतनेमें वहाँ एक भला आदमी (शास्त्रोंके शब्दोंमें इन्द्र) आया। उसने ग्वालाको डाँटकर कहा कि "अरे मूर्ख, ये तो महातपस्वी हैं, इनने राज्य छोड़ दिया है, ये तेरे बैलोंका क्या करेंगे ?" तब वह ग्वाला शान्त हो गया। आग-न्तुकने विनयसे कहा कि आज्ञा हो तो मैं आपकी सेवामें रहूँ। महात्माने कहा—"जो दूसरोंकी सेवाके बलपर रहेगा वह न तो जगत्‌का कल्याण कर सकता है न अपना कल्याण कर सकता है।" तब वह आदमी चला गया।

दीक्षाके बाद उन्होंने बेला (दो दिनका उपवास) किया और उसका पारणा एक बहुल नामके ब्राह्मणके घरपर किया। उस समय तक उनने भोजनके नियम नहीं बनाये थे। वे जिसके घरमें भोजन करते थे उसीके पात्रोंका उपयोग करते थे।

दीक्षाके चार मास बाद महात्मा महावीर मोराक नामके ग्रामके पास आये। वहाँ तापसोंके एक सम्प्रदाय (दुइज्जंतक) का आश्रम

था। तापसोंका आचार्य म० महावीरके पिता सिद्धार्थ नरेशका मित्र था। म० महावीर गृहस्थावस्थासे ही उसे पहिचानते थे। तापसके वयोवृद्ध होनेके कारण महावीरने उसका हाथ जोड़कर विनय किया। कुलपतिने वहाँ ठहरनेके लिये आग्रह किया और वे एक रात्रि वहाँ रहे। जाते समय कुलपतिने उनसे कहा कि यह स्थान बिलकुल एकान्त है; इसलिये चौमासा व्यतीत करनेके लिये आप यहीं आजाओ तो बहुत अच्छा हो। म० महावीरने यह बात स्वीकार की।

वर्षाऋतु प्रारम्भ होनेके पहले ही म० महावीर आश्रममें आ गये। कुलपति महावीरको भतीजेके समान समझता था। उसने वर्षा-कालमें रहनेके लिये एक घासकी झोपड़ी बनवा दी थी। वे उसमें ठहरे। उस समय वर्षा न होनेसे नवीन घास पैदा न हुआ था, इसलिये ग्रामकी गायें झोपड़ोंकी घास खाने लगीं। तापसोंने तो गायोंको डंडे मारकर भगा दिया, परन्तु महावीरने कुछ भी न किया और गायोंने उनका झोपड़ा चर लिया। तापस लोग मन-ही-मन विचारने लगे—"हम लोग तो अपनी झोपड़ियोंकी रक्षा करते हैं किन्तु यह मुनि तो अपनी झोपड़ीकी जरा भी पर्वाह नहीं करता! यह कैसा परोपकारी है! क्या करें, यह कुलपतिका प्यारा है इसलिये डरके मारे हम कठोर वचन भी नहीं कह सकते।" अन्तमें जाकर उन्होंने कुलपतिसे शिकायत की और महावीरको अकृतज्ञ, भोंदू, आलसी आदि कहा। यह भी कहा कि—"अगर वह मुनि होनेके कारण अपने झोपड़ेकी रक्षा नहीं करता तो क्या हम लोग मुनि नहीं हैं?" कुलपतिने देखा कि शिष्योंका कहना है तो सत्य, इसलिये उसने आकर प्रेमपूर्वक म० महावीरको उलहना दिया—

" वत्स, इस झोपड़ेकी रक्षा क्यों न की ? तुम्हारे पिताने तो यावज्जीवन सब आश्रमोंकी रक्षा की है * । दुष्टोंको दंड देना तो तुम्हारा व्रत होना चाहिये । पक्षी भी अपने घोंसलेकी रक्षा करते हैं । तुम तो विवेकी हो, तुमने आश्रमकी रक्षा क्यों न की ? तुम्हारे पिताकी मित्रताके कारण मैं मुलाहिजा कर रहा हूँ । आगेसे तुम्हें अपने कर्त्तव्यमें आलस न करना चाहिये । " म० महावीरने इन सब बातोंका कुछ भी उत्तर न दिया । उन्होंने सोचा कि अगर मैं यहाँ रहूँगा तो इन लोगोंको सदा क्लेश होगा, इसलिये मेरा यहाँ रहना उचित नहीं है । वर्षाऋतुके पन्द्रह दिन निकल गये थे, फिर भी उन्होंने दूसरी जगह चला जाना उचित समझा और उसी समय पाँच नियम बनाये—

(१) जहाँ रहनेसे क्लेश हो वहाँ न रहना ।

(२) जहाँ रहना, वहाँ कायोत्सर्ग करके रहना ।

(३) जहाँ तक हो सके मौन धारण करना ।

(४) भोजनके लिये पात्रका उपयोग न करना, अर्थात् हाथमें आहार लेना ।

(५) गृहस्थका विनय नहीं करना ।

---

*सिद्धार्थ नरेश म० पार्श्वनाथके अनुयायी थे, फिर भी उदार थे । सिद्धार्थकी तापस कुलपतिसे मित्रता होना, महावीरका तापस कुलपतिको नमस्कार करना और सिद्धार्थ नरेशका तापसाश्रमोंकी रक्षा करना और पहले ही चौमासेमें महावीरका तापसाश्रममें रहनेके लिये आना, इस बातको सिद्ध करता है कि सिद्धार्थ नरेश तापस-भक्त भी होंगे । इस प्रकार प्राचीन युगके उदार राजाओंके समान वे सभी धर्मोंको मानते होंगे और उनका विशेष सम्बन्ध इस कुलपतिसे होगा ।

चौथे नियमसे मालूम होता है कि इसके पहले वे पात्रमें भोजन लेते थे जैसा कि दिगम्बर सम्प्रदायमें ग्यारहवीं प्रतिमाधारी (क्षुल्लक) लिया करते हैं। पीछेसे पात्रमें भोजन लेना बन्द किया और हाथमें ही भोजन लेने लगे। दिगम्बर सम्प्रदायके मुनि इसी प्रकार आहार लेते हैं। परन्तु इस प्रकारके आहारसे उद्दिष्ट-त्यागका पालन कठिन हो जाता है। महावीर तो उग्र तपस्वी थे इसलिये वे इसका पालन कर सके, परन्तु जब संघ-रचना हो गई तब इसका पालन करना कठिन ही था। इसलिये अनेक पुष्पोंसे भ्रमरके समान अनेक गृहोंसे भिक्षा लेनेका नियम बनाया गया, जो कि आज श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित है। आहार लेनेकी ये दोनों प्रथायें म० महावीरके समयकी ही मालूम होती हैं।

इनमेंसे कुछ नियम ऐसे हैं जो महात्माने अपनी साधकावस्थाके लिये ही बनाये थे; पीछेसे संघके लिये अनुकूल समझकर समस्त संघके लिये बना दिये गये। और कुछ नियम ऐसे भी थे जो संघके लिये अनिवार्य नहीं समझे गये। दूसरा नियम इसी तरहका है। इस तरह जैनधर्मके वर्तमान ढाँचेके बीज हमें म० महावीरके जीवनमें मिलते हैं, यद्यपि सभी बीजोंका मिलना मुश्किल है।

तापसाश्रमसे निकलकर म० महावीर अस्थिक* ग्राम पहुँचे। वहाँके

*इस गाँवका दूसरा नाम वर्द्धमान बताया जाता है। काठियावाड़में बढ़वाण नामका शहर है, जहाँ शूलपाणि यक्षका मंदिर भी है, परन्तु इसका और अस्थिक ग्रामका कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। जिस तापसाश्रममें म० महावीरने चौमासा करनेका विचार किया था वह मगधमें ही था। किसी निराकुल स्थानकी खोजमें चौमासेमें भगवान काठियावाड़ तक जायँ यह असम्भव है। मगधसे काठियावाड़ तक जानेमें तो चौमासा ही व्यतीत हो जाता। चौमासेके बाद

लोगोंसे जगह माँगी। लोगोंने कहा—"यहाँ एक यक्ष रहता है; वह किसीको रहने नहीं देता। जो रहता है उसे मार डालता है। आपको रहना है तो आप अमुक जगह रह सकते हैं। परन्तु यक्षके यहाँ रहना तो किसी तरह ठीक नहीं।" परन्तु वे वहीं रहे। रात्रिमें म० महावीरको यक्षने अनेक प्रकारके कष्ट दिये। परन्तु वे न तो घबराये, न चिल्लाये, न उसपर क्रोध किया। इस बातका यक्षके ऊपर इतना असर हुआ कि वह पानी पानी हो गया और महात्मा महावीरके चरणोंपर गिरकर अपनी दुष्कृतिका पश्चात्ताप करने लगा। महात्माने उसको उपदेश दिया—"तू आत्माको पहिचान। अपने समान तू किसी प्राणीको कष्ट न दे। किये हुए पापोंकी निन्दा कर। क्योंकि किये हुए पापका फल करोड़ों गुणा मिलता है।" म० इस ग्राममें चार मास रहे। फिर कभी इस ग्राममें यक्षका उपद्रव नहीं हुआ। जब महात्मा यहाँसे जाने लगे तब यक्षने म० महावीरसे माफी माँगी और पश्चात्ताप प्रकट किया।

पुराने ज़मानेमें यक्ष आदिके नामसे लोग बहुत डरते थे। लोगोंकी इस कमजोरीका उपयोग अनेक लोग किया करते थे। कभी कभी ऐसा होता था कि किसी ग्रामके सब आदमी किसी एक व्यक्तिको बहुत तंग करते थे और जब वह सब तरहसे तंग हो जाता था या

हम म० महावीरको फिर मोराक गाँवमें देखते हैं। इसलिये काठियावाड़ तक जाना और भी अशक्य हो जाता है। मालूम होता है कि अस्थिक ग्रामके यक्षकी घटनाको वढवाणके शूलपाणि यक्षसे जोड़नेके लिए अस्थिक ग्रामका दूसरा नाम वढवाण बता दिया गया है। सम्भव है अस्थिक ग्रामके यक्षका नाम भी इसी कारण शूलपाणि रख दिया गया हो।

उसका सर्वस्व लुट जाता था तब वह चुपचाप भयङ्कर वेष बनाकर रात्रिमें लोगोंको डराने लगता था। लोग उसे यक्ष, भूत आदि मान लेते थे। इसलिये उसकी आवाज़ सुनते ही लोग भागते थे और कमज़ोर हृदयवाले तो घबराकर मर भी जाते थे। कभी कभी भूत बननेवाला व्यक्ति ही उसे मार डालता था। इस तरह उसका स्थायी आतंक जम जाता था। ऐसे भूतोंके लिये लोग कभी कभी पूजा भी चढ़ाते थे। यह यक्ष भी ऐसा ही सताया हुआ मनुष्य मालूम होता है। ये यक्ष—भूतवेषधारी मनुष्य—किसी न किसी रूपमें कोई ऐसी कथा प्रचलित कर देते थे जिससे ग्रामके लोग अपनेको अपराधी और वेषधारीको भूत समझने लगें। इस यक्षने भी इसी प्रकार एक बैलकी कथा प्रचलित कर दी थी। म० महावीरकी सहनशीलताका उसके ऊपर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसने अपना यक्षपन छोड़ दिया।

यक्षोपद्रवके बाद म० को निद्रा आ गई और निद्रामें उन्होंने दश स्वप्न देखे। जब वे सोकर उठे तब मन्दिरका पुजारी इन्द्रशर्मा और एक उत्पल नामका निमित्त-ज्ञानी तथा गाँवके लोग आये। महात्माको जीवित देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य और प्रसन्नता हुई। उत्पलने उनके स्वप्नोंका फल कहा परन्तु एक स्वप्नका फल वह न बता पाया। महात्माने कहा कि दो मालाओंका फल यह है कि मैं दो प्रकारका (गृहस्थका और मुनिका) धर्म कहूँगा। इससे मालूम होता है कि गृहस्थ और मुनिके संघ बनानेका निश्चय उन्होंने उस समय तक कर लिया था। म० महावीर संघ-संगठनके प्रारम्भसे हिमायती रहे हैं और उन्होंने गृहस्थोंको उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखा।

दीक्षा-कालके एक वर्ष बाद महात्मा महावीर फिर मोराक ग्रामके

पास आये। वहाँ एक ऐसी घटना हुई जो महात्माके जीवनमें थोड़ी-सी साधारणता ला देती हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें तो ऐसी घटनाओंका उल्लेख ही नहीं है; श्वेताम्बर सम्प्रदायमें है परन्तु वहाँ इसका ऐसा बचाव किया गया है कि इस घटनामें महावीरका हाथ जरा भी नहीं है। उनके शरीरमें सिद्धार्थ देव प्रविष्ट होकर ऐसे सब काम करता था। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस बचावमें कुछ भी दम नहीं है। असली बात तो यह है कि हम महावीरको जन्मसे ही भगवान् मान बैठे हैं। इसलिये उनके द्वारा जब कोई साधारण मनुष्योचित घटना होती है तब हम उसका लँगड़ा बचाव करने लगते हैं। अगर हम यह समझ लें कि वे जन्मसे मनुष्य ही थे, पूर्ण महात्मा तो वे ब्यालीस वर्षकी अवस्थामें हुए हैं तो इस बीचमें अगर उनसे कोई ऐसी घटना हो जाय जो उनके व्यक्तित्वपर न फबती हो तो उसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। आख़िर उनकी वह साधक अवस्था ही तो थी, इसलिये हमें ऐसी घटनाओंको किसी व्यन्तर वगैरहके नाम मढ़नेकी आवश्यकता नहीं है। महावीर-चरितमें सिद्धार्थ व्यन्तर अनेक बार आया है जिससे वह बहुत विकृत हो गया है। सिद्धार्थके आवरणको अलग करके हम महावीर-चरितको ठीक रूपमें देख सकेंगे।

म० महावीरकी यह घटना ज्योतिष विद्यासे सम्बन्ध रखती है। उस ज़मानेमें आत्म-ज्ञानके साथ ज्योतिष विद्या या अष्टांग निमित्त-ज्ञानका भी बड़ा महत्त्व था। निमित्त-ज्ञानकी विद्या उस समय बहुत तरक्की पर थी। लोगोंके चेहरे परसे उसके मनकी बातें बता देना अथवा लोगोंके मनके ऊपर प्रभाव डालकर उनसे सच्ची और छुपी

हुई बातें प्रकट करा लेना तथा प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षणद्वारा प्राकृतिक घटनाओंका पता लगा लेना आदि महत्त्वपूर्ण समझा जाता था। म० महावीर स्वभावसे ही इस विद्यामें अत्यन्त निपुण थे। परन्तु विशेषता यही थी कि इस विद्याका उपयोग उन्होंने कभी ऐहिक कार्यके लिये नहीं किया। जो लोग ऐहिक स्वार्थके लिये इस विद्याका या इस विद्याके नामका उपयोग करते थे उनके वे विरोधी थे। ऐसे लोगोंकी अक्ल ठिकाने लानेके लिये वे कभी कभी प्रयत्न भी करते थे जैसा कि उन्होंने इस बार मोराक ग्राममें किया।

इस ग्राममें एक अच्छन्दक नामक आदमी रहता था जो चोर और व्यभिचारी था। वह ज्योतिष विद्यासे अपनी आजीविका चलाया करता था। म० महावीरको यह बात अच्छी न लगी इसलिये उन्होंने उसकी अक्ल ठिकाने लानेका विचार किया।

ग्रामके बाहर जब वे एक बागमें स्थिर थे उस समय वहाँसे एक ग्वाला निकला। म० महावीरने ग्वालाको बुलाकर कहा—तू अपने बैलोंकी रक्षाके लिये जा रहा है और रास्तेमें तुझे एक सर्प मिला था। तूने सौवीरसहित कंगकूरका भोजन किया है। आज तू स्वप्नमें रोया है। जिसने मनुष्य-प्रकृति और मनुष्याकृतिका गहरा अभ्यास किया हो उसके लिए ऐसी बातें जानना कठिन नहीं है। ग्वाला यह सुनकर चकित हो गया। बातचीत करनेसे निमित्त-ज्ञानके लिये और भी मसाला मिल गया। तब उन्होंने और भी बातें बताईं। ग्वालाका आश्चर्य और बढ़ गया। वह शीघ्र ही गाँवमें गया और लोगोंसे बोला कि गाँवके बाहर एक त्रिकालवेत्ता महापुरुष आये हैं। उसने अपना सब हाल कहा। यह सुनकर गाँवके लोग पूजाकी सामग्री

लेकर गाँवके बाहर चले आये। सबको देखकर उन्होंने कहा— क्या तुम लोग मेरा अतिशय देखने आये हो? तब महावीरने उनको भी बहुत-सी बातें बतलाईं। लोग उनके पास अब प्रति दिन आने लगे।

एक दिन लोगोंने उसी अच्छन्दककी बात छेड़ी। म० महावीरने कहा—वह बेचारा कुछ नहीं जानता, वह तो पेटके लिये धंधा करता है। लोगोंने यह बात अच्छन्दकसे कही। वह अनेक चाल-बाजियोंसे महात्माको परास्त करने आया परन्तु जीत न सका। बल्कि उसकी चोरीकी बात महावीरने प्रकट कर दी। एक बात रह गई थी सो महावीरने लोगोंसे कहा कि उसे इसकी स्त्रीसे पूछो। उस दिन उसने अपनी स्त्रीको खूब मारा था। इससे उसने अपने पतिकी व्यभिचार-कथा लोगोंसे कह दी। अब बेचारे अच्छन्दकको रोटियाँ मिलना मुश्किल हो गया। इसलिये वह एकान्तमें आकर महावीरसे बोला कि आप यहाँसे चले जाओ तो अच्छा है, नहीं तो मैं भूखों मर जाऊँगा। क्योंकि जब तक आप यहाँ हैं तब तक मुझे कोई न पूछेगा। म० महावीरने पहले नियम लिया था कि क्लेशकर स्थानमें नहीं रहना, इसलिये वे वहाँसे चले गये।

इस घटनासे यह बात मालुम होती है कि महात्मा महावीर निमित्त-ज्ञानका उपयोग ऐसे लोगोंके हाथसे नहीं होने देना चाहते थे जो दुराचारी या स्वार्थी हैं। इसके लिये उन्होंने जरा कठोरतासे भी काम लिया, जोकि उनके स्वभावके विरुद्ध था। साधकावस्थामें ऐसी बातोंका हो जाना स्वाभाविक है।

यहाँसे बिहार करते हुए वे श्वेताम्बी नगरीकी तरफ चले। मार्गमें

ग्वाल-बालकोंने कहा कि यह मार्ग है तो सीधा परन्तु आगे ताप-साश्रमके पास एक सर्प रहता है, उसके डरसे कोई इस मार्गसे नहीं जाता इसलिये आप भी इस मार्गसे न जाओ। परन्तु म० महावीरको ऐसे ऐसे उपद्रवोंको जीतनेमें मज़ा आता था। मृत्युका भय तो उन्हें छू भी नहीं गया था। उनके खयालसे जो ऐसे उपसर्गोंसे डरता है, मृत्यु जिसके लिये खेल नहीं है वह दुनियाको अभय कैसे बना सकता है। इसके अतिरिक्त वे यह भी मानते थे कि प्रत्येक मनुष्य ही नहीं किन्तु प्रत्येक प्राणीके अन्तस्तलमें शुभ-वृत्ति छुपी रहती है। अशुभ-वृत्तियाँ जब निष्फल हो जाती हैं तब ये शुभवृत्तियाँ प्रकट हो जाती हैं। क्रूर प्राणियोंके लिये भी यही नियम है। अगर अपना हृदय पवित्र हो, निर्भय हो, तो ऐसे क्रूर प्राणी भी शान्त हो जाते हैं। इसलिये उन्होंने सर्पका उद्धार करना भी अपना कर्त्तव्य समझा।

इस सर्पको लोग चण्डकौशिक कहते थे। इसका कारण यह है कि इसी वनमें जो तापसाश्रम था उसके अधिपतिका नाम चण्डकौशिक था। वह अत्यन्त क्रूर और लोभी था। उसके बागका कोई पत्ता भी तोड़ता तो वह उसे मारनेको तैयार हो जाता था। इसी प्रकार मारनेके प्रयत्नमें वह एक दिन गड्ढेमें गिर पड़ा और चोट खाकर मर गया। उसकी मृत्युके कई दिन बाद उसी वनमें यह भयङ्कर सर्प प्रकट हुआ, इसलिये लोगोंने यही मान लिया कि चण्ड-कौशिक तापस ही मरकर यह सर्प हुआ है और तबसे सर्पका नाम भी चण्डकौशिक विख्यात हो गया।

म० महावीर उसी वनमें एक जगह ध्यानस्थ हो गये। घूमता

घूमता सर्प भी वहाँ पहुँचा और महात्माको देखकर चौंका। उसने घूर घूर कर देखा, फुफकारा, परन्तु जब उनको निश्चल ही पाया तो उसका क्रोध बढ़ा तथा कुछ भय भी हुआ। वह दौड़कर आया और उनके पैरमें फण मार कर भागा। इस प्रकार कई बार वह दौड़ दौड़ कर आया और फण मारकर तथा काटकर भागा, परन्तु उसके विषका कोई प्रभाव उनके ऊपर नहीं हुआ। इसके दो कारण हो सकते हैं—

१—सर्पका विष एक ऐसा विचित्र विष है कि तीव्र मनोबल-वालोंके ऊपर उसका असर नहीं पड़ता। आज भी मांत्रिक लोग मनोबलके आधारसे सर्पके विषको निष्फल कर देते हैं और मृतप्राय मनुष्योंको जीवित कर देते हैं। इसलिये म० महावीर सरीखे दृढ़मनस्वी व्यक्तिपर उसके विषका असर न होना स्वाभाविक है।

२—सर्प डरके मारे इतनी जल्दी फण मारकर भागता था कि उसके काटने पर भी उसका विष भगवानके शरीरके खून तक न पहुँच पाता था।

इन दो कारणोंमेंसे कोई कारण होगा जिससे सर्पका विष असर न डाल सका। अथवा जैसे कि पहले कहा जा चुका है कि यह घटना भी श्रीकृष्णके जीवनकी नकलके रूपमें लाई गई हो। खैर, इतना करनेपर भी जब म० महावीरके ऊपर कुछ असर न पड़ा, न म० महावीरने सर्पके ऊपर कुछ आक्रमण किया तब सर्पको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह स्थिर दृष्टिसे उनकी तरफ़ देखने लगा। तब महात्माने कहा—चण्डकौशिक, कुछ समझ। आत्माको मत भूल।

म० महावीरके इन शब्दोंको सर्पने समझा या नहीं, यह कौन कह सकता है? परन्तु इन शब्दोंको बोलते समय उनके मुखपर

जो अनन्त वात्सल्यके चिह्न थे उनको उसने जरूर समझा। आज भी हम किसी पशुपर जब कुछ भाव प्रकट करना चाहते हैं तब अपनी भाषाके शब्दोंका प्रयोग करते हैं। वह पशु हमारी भाषा भले ही न समझे, परन्तु हमारी मुख-मुद्राको जरूर समझता है। उस मुख-मुद्राके बननेमें शब्दोंका बोलना बहुत सहायता पहुँचाता है। इसलिये हम पशुके साथ भी बोलते हैं। वे भी बोले और सर्पके ऊपर उनके शब्दोंका आशातीत प्रभाव पड़ा। इसके बाद उस सर्पने कभी किसीको तंग नहीं किया और निराहार रहकर 'संल्लेखना'पूर्वक मर गया। इसमें सन्देह नहीं कि निर्भयतामें महावीरसे बढ़कर महात्मा मिलना मुश्किल है।

एक बार म० महावीर गंगा किनारे आये और नदी पार करनेके लिये नौकामें बैठे। जब नौका बीचमें पहुँची तो बहुत हवा चली। नौकाके अन्य यात्रियोंने जीवनकी आशा छोड़ दी। परन्तु भाग्यवश नौका डूबते डूबते बच गई। थोड़ी देर बाद हवा बन्द हो गई और सब लोग सकुशल पार हो गये। जैन शास्त्रोंमें यह घटना भी देवकृत बना दी गई है।

विहार करते हुए म० महावीर राजगृही नगरीमें पहुँचे और एक कपड़े बुननेवालेके यहाँ ठहरे। इसी समय आजीवक सम्प्रदायके संस्थापक मष्करी गोशालक भी म० महावीरके पास रहे। छः वर्ष तक इन दोनोंका सम्बन्ध रहा। मैं पहले कह चुका हूँ कि म० महावीर पक्के निमित्त-ज्ञानी थे। उन्हें प्राकृतिक और कृत्रिम घटनाओंके कार्य-कारणभावका और ज्ञाप्य-ज्ञापक भावका अच्छा अनुभव था, इसलिये वे बहुत-सी बातें पहले ही बता देते थे। उनका

कहना सत्य निकलता था। इसलिये गोशालकने यह सिद्धान्त निश्चित कर लिया कि जो कुछ होना है वह तो होता ही है, मनुष्यका किया कुछ नहीं हो सकता और वे घोर दैववादी बन गये। जब उन्होंने आजीवक सम्प्रदायकी स्थापनाकी तब उनका यह विचार आजीवक सम्प्रदायका मुख्य सिद्धान्त बन गया।

म० महावीरकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्तिने उन्हें भविष्यवेत्ता बना दिया था। इसका एक उदाहरण देखिये।

एक बार कुछ ग्वाले मिट्टीकी हंडीमें खीर पका रहे थे। गोशालकने महावीरसे कहा—चलिये, हम इस खीरका भोजन करें। म० महावीरने देखा कि बनानेवाले मूर्ख हैं, उन्होंने हंडीमें इतने अधिक चावल डाल दिये हैं कि पकनेपर वे हंडीमें न बनेंगे। जब वे बाहर निकलेंगे तो जरूर ये ग्वाले उसका मुँह बन्द करेंगे, इसलिये मिट्टीकी हंडी फूट जायगी। यह सोचकर उन्होंने गोशालकसे कहा कि वहाँ क्यों जाते हो, वह खीर बनेगी ही नहीं। गोशालकने जाकर ग्वालोंसे कहा कि तुम्हारी हंडी फूट जायगी और खीर न पकेगी। ग्वालोंने भयसे हंडीको चारों तरफ़से बाँध दिया परन्तु वह हंडी फूट गई। ऐसी ऐसी घटनाओंने गोशालकको घोर दैववादी बना दिया।

गोशालकके विषयमें जैनशास्त्रोंमें बहुत अधिक लिखा है, परन्तु वह बुरी तरह पल्लवित किया गया है। अनेक जगह निन्दा करनेके लिये बहुत अतिशयोक्तिसे काम लिया गया है। परन्तु उसमें सार इतना ही है कि—

(१) कैवल्य प्राप्त होनेके पहले ही म० महावीरको गोशालकने गुरु बना लिया था।

(२) म० महावीरकी भविष्यज्ञताने उन्हें निमित्तवादी बना दिया।

(३) म० महावीरसे उनने आचार-शास्त्र और मन्त्र-शास्त्रकी शिक्षा पाई थी ।

(४) म० महावीरकी उदासीनता गोशालकको पसन्द नहीं थी।

(५) पीछेसे उनमें मत-भेद हो गया और गोशालकने आजीवक सम्प्रदायकी नीव डाली जो अपने बाह्यरूपमें जैनधर्मसे मिलता-जुलता था। म० महावीरने अपने धर्मका प्रचार उससे भी छः वर्ष बाद किया।

एक बार गोशालकको म० पार्श्वनाथकी परम्पराके कुछ मुनि मिले। उनके सामने गोशालकने महावीरकी प्रशंसा की और उन मुनियोंकी निन्दा की। उन मुनियोंने कहा—तेरा गुरु भी तेरे ही समान होगा, क्यों कि वह अपने ही आप गुरु बना हुआ मालूम होता है। मुनियोंके इस वक्तव्यसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन लोगोंको यह नहीं मालूम था कि कोई तीर्थङ्कर पैदा होनेवाला है। म० महावीरका उन्होंने नाम भी नहीं सुना था। यदि गर्भ-जन्मके कल्याणकोंका वर्णन सत्य होता और उस समय जैनधर्म प्रचलित होता तो क्या जैन मुनि भी जैन-तीर्थंकरके विषयमें कुछ न जानते? क्या म० महावीर इतने अपरिचित रह सकते थे?

म० महावीर और गोशालककी प्रकृतिमें एक बड़ा भारी भेद था। म० महावीर किसीसे कुछ बात कहनेके पहले अवसर देखते थे। परन्तु गोशालक, परिणामकी पर्वाह किये बिना, जो मनमें आता था सो कह डालते थे। बुराईकी बुराई करनेमें कभी कभी गोशालक मात्रासे अधिक काम कर जाते थे। *यही कारण है कि कभी कभी* गोशालक दूसरे देवोंकी मूर्तिका अपमान कर जाते थे, इसलिये जन-

ताके शीघ्र ही कोप-भाजन हो जाते थे। उनका विरोध उचित होता था तो भी अवसरके कारण निष्फल या दुष्फल हो जाता था। जब कि म० महावीरमें वाक्-संयम बहुत था। वे बहुत कम बोलते थे और लोगोंके कार्यमें बहुत कम हस्तक्षेप करते थे। अप्रिय घटना-ओंको सहन करनेकी उनमें बहुत बड़ी क्षमता थी।

आये हुए कष्टोंको शान्ततासे सहन करनेमें म० महावीर अद्वितीय थे। मैं प्रथम अध्यायमें कह चुका हूँ कि दुःखोंको विजय करनेके लिये उनको सहनेकी आवश्यकता है। म० महावीर इस सिद्धान्तकी चरम सीमापर पहुँचे थे। यहाँ यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि दुःख भोगनेसे दुःख सहना बिलकुल जुदी बात है। दुःख भोगनेवाले दुःखसे घबराते हैं इसलिये वे दुःखपर विजय प्राप्त नहीं कर सकते। म० महावीर तो दुःखोंको आनन्दसे सहते थे और यह अनुभव करते थे कि जितना कष्ट सहा जायगा आत्मा उतना ही हलका होगा और सुख उतना ही अटल होगा। कहा जा सकता है कि इससे दुनियाँका क्या भला है। परन्तु अगर जरा विचार किया जाय तो ऐसी घटनाओंकी उपयोगिता मालूम होने लगेगी। अधिकसे अधिक कष्ट सहनेसे दुःखका प्रभाव नष्ट हो जाता है तथा दूसरे लोगोंको विपत्तिके समयमें बहुत मनोबल मिलता है। यही कारण है कि म० कभी कभी अनावश्यक कष्ट भी सहते थे।

एक बार म० महावीर मार्गके किनारे कायोत्सर्गसे खड़े थे। वहाँपर एक व्यापारी ठहरा। रात्रिमें ठंडसे बचनेके लिये उसने अग्नि जलाई परन्तु जाते समय बुझाई नहीं। अग्नि जलते जलते म० महावीरके पास

तक आई परन्तु वे वहाँसे न हटे। अग्नि-तापसे पैर काले पड़ गये परन्तु वे वहाँ खड़े ही रहे। कष्टसे डरना म० महावीर जानते ही न थे।

एकबार जंगलके रक्षक चोरोंकी खोजमें फिर रहे थे। म० महावीरसे उन्होंने पूछताछ की परन्तु इन्होंने कुछ उत्तर न दिया। फलतः वे गिरफ्तार कर लिये गये। पीछे दूसरे शैल-पालकने पहिचाना और क्षमा माँगकर छोड़ दिया।

यद्यपि म० महावीरने ऐसे अनेक कष्ट सहे परन्तु इतनेसे उन्हें सन्तोष न हुआ। वे और भी क्रूर मनुष्योंके परिचयमें आना चाहते थे और उनकी प्रकृतिका अभ्यास करना चाहते थे। इसलिये वे अनार्य देशमें गये। भारतवर्षके कई प्रदेश उस समय अनार्य समझे जाते थे। लाट देश भी उस समय अनार्य समझा जाता था। इस देशमें म० महावीरने मार-पीट, गाली-गलौज आदिके बहुत कष्ट सहे। इसके बाद वे फिर आर्य-देशमें लौट आये।

एक बार म० महावीर विशाला नगरीमें आये और एक लुहारकी शालामें, उसके कुटुम्बियोंकी आज्ञा लेकर, ठहरे। लुहार बीमार था। सुबह जब वह उठा तो एक नग्न साधुको देखकर अपशकुन मानने लगा और गुस्सामें आकर लोहेका घन उठाकर मारने दौड़ा। परन्तु कमजोरीके कारण घन हाथसे छूट पड़ा और वह उसीके ऊपर गिरा। शास्त्रमें लिखा है कि इन्द्रने अपनी शक्तिसे उसीके हाथसे उसीके सिरपर घन पटकवा दिया था। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इन्द्र महाराजकी वहाँ ज़रा भी ज़रूरत नहीं थी।

एक दिन म० महावीर शालिशीर्ष गाँवके बाहर एक बागमें प्रति-

मायोग धारण करके ठहरे। रात्रिमें एक तापसी आई और ठंडे जलमें स्नान करके वृक्षपर चढ़ गई। उसकी जटाओंसे पानीकी बूँदें टपक टपककर म० महावीरके ऊपर पड़ने लगीं। माघकी रात्रि थी और म० महावीर नग्न थे; इसलिये ये ठंडी बूँदें गज़ब ढा रही थीं, परन्तु म० महावीर सब सह गये। सुबह जब वह जाने लगी तो महात्माको भीगा देखकर उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ, वह क्षमा माँगकर चली गई। मालूम होता है कि तापसीको किसी मंत्र-सिद्धिके लिये यह क्रिया करनी पड़ी थी। परन्तु जैन लेखकोंने उस तापसीको एक व्यन्तरी देवी बता दिया है। क्योंकि शायद ऐसे ऊटपटाँग कामके लिये देवताओंको ही फुरसत हो सकती थी। तापसीको देवी बनानेका दूसरा कारण यह भी है कि माघकी रात्रिमें ठंडे पानीसे स्नान करनेका काम भी एक व्यन्तरीके ही योग्य समझा गया। एक तापसी भी उतनी ठंड सहे जितनी म० महावीरने सही थी, यह बात भक्त-हृदयको रुचिकर नहीं हो सकती।

एक बार म० महावीर कूर्म ग्राम आये। यहाँ गोशालकका एक तापसके साथ झगड़ा हो गया। गोशालकने जब तंग किया तो उसने तेजोलेश्या (एक तरहका मंत्र या तंत्र मालूम होता है कि जिसके कारण शरीरका पित्त कुपित हो जाता था तथा दाह होने लगता था और अंतमें मनुष्य मर जाता था) का प्रयोग किया, परन्तु म० महावीरने उससे विरुद्ध गुणवाली शीत-लेश्यासे गोशालककी रक्षा की। गोशालकके आग्रह करने पर म० महावीरने गोशालकको लेश्या सिद्ध करनेकी विधि बतला दी। इसके बाद पार्श्वनाथकी परम्पराके कुछ मुनियोंसे गोशालकने ज्योतिष विद्या

(अष्टाङ्ग निमित्त-विद्या) भी सीख ली। इसके बाद गोशालकने म० महावीरका साथ छोड़ दिया और आजीवक सम्प्रदायकी स्थापनाका काम शुरू किया।

जैन शास्त्रोंमें गोशालकके विषयमें जो कुछ लिखा है वह कहाँतक सत्य है कहा नहीं जा सकता, फिर भी उसमें थोड़ा बहुत सत्यका अंश अवश्य मालूम होता है।

एक बार म० महावीर दृढ़भूमि गये। यहाँ म्लेच्छोंकी बहुत बस्ती थी। इस जगह म० महावीरने बहुत कष्ट सहे। एक दिन इतनी धूल उड़ी कि उनके कान नाक आदिके छिद्र धूलसे भर गये। एक दिन कीड़ियोंने बहुत काटा। यहाँ उन्हें मच्छरोंका भी कष्ट सहना पड़ा। अन्य अनेक प्रकारके कीड़ोंने भी बहुत तंग किया। बन्दर आदिके उपद्रवोंको भी सहा। एक बार एक आदमीने उनके सिरपर चक्र रख दिया जिससे उन्हें घुटनेके बल हो जाना पड़ा। (शास्त्रोंमें लिखा गया कि भगवान घुटने तक पृथ्वीमें धँस गये।) यहाँपर कुछ स्त्रियोंने इन्हें अनेक प्रकारसे लुभानेकी भी चेष्टा की थी। ये उपसर्ग लगातार हुए इसलिये जैनशास्त्रोंमें इन्हें संगम-देवकृत उपसर्ग माना है। प्राकृतिक उपद्रवोंको देवकृत बता देनेका उन दिनों एक रिवाज़-सा पड़ गया था। यहाँ म० महावीरको आहार भी नहीं मिलता था। एक दिन एक ग्वालिनके यहाँ ही आहार मिला था।

मेढ़क गाँवमें एक ग्वाला बालोंकी रस्सी लेकर मारने आया, परन्तु किसी भले आदमीने उसे रोककर डाँटा जिससे वह रह गया। शास्त्रोंमें इस रोकनेवालेको भी इन्द्र मान लिया गया है।

यद्यपि छद्मस्थ अवस्थामें म० महावीरने धर्म-प्रचारका काम नहीं किया था, फिर भी आवश्यकता होनेपर वे ऐसी बातोंका जिकर करते थे जिनके निर्णय करनेका काम बाकी नहीं रहा था। एक बार चम्पा नगरीमें वे स्वादिदत्त नामक ब्राह्मणकी यज्ञशालामें ठहरे। वहाँ दो आदमी (शास्त्रोंके शब्दोंमें यक्ष) उनकी वन्दनाको प्रति दिन आते थे। उन्हें देखकर उस ब्राह्मणको विचार हुआ कि क्या ये तपस्वी ज्ञानी भी हैं जो ये आदमी इनकी पूजा करने आते हैं। इसलिये एक दिन उसने म० महावीरके साथ आत्माके विषयमें चर्चा की और पूछा कि आत्मा कैसा है, कहाँ है आदि। म० महावीरने सन्तोषजनक उत्तर दिया।

एक बार एक ग्रामके बाहर वे कायोत्सर्गसे ध्यानस्थ थे। वहाँ एक ग्वाला आया और बैलोंको छोड़कर कहीं चला गया। लौटकर आकर देखा तो वहाँ बैल नहीं थे। उसने महात्मासे पूछा परन्तु वे ध्यानस्थ थे, इस लिये कुछ न बोले। ग्वालाको गुस्सा आ गया। वह बोला—तू मेरी बातका जबाब क्यों नहीं देता? क्या तुझे सुन नहीं पड़ता? फिर ये बड़े बड़े छिद्र किसलिये हैं? जब वे कुछ न बोले तो उसने कानोंके छिद्रोंमें पतली और पैनी लकड़ियाँ ठोक दीं। इतना ही नहीं, किन्तु कोई इन लकड़ियोंको निकाल न दे इसलिये छिद्रोंसे बाहर निकला हुआ लकड़ियोंका भाग उसने काट डाला। इस विकट कष्टमें भी महात्मा घूमते रहे, और घूमते घूमते अपापा नगरीमें पहुँचे। वहाँ सिद्धार्थ नामक वैश्यके यहाँ भोजनार्थ पधारे। उस समय कान-की वेदनाके कारण उनका मुख कुछ फीका हो रहा था। उस वैश्यका एक खरक नामका वैद्य मित्र था। सौभाग्यवश वह उस समय

वैश्यके घरपर था। उसने उनके फीके मुखसे अनुमान किया कि इन्हें कोई न कोई घोर वेदना होना चाहिये। उसने शरीरकी जाँच की और कानमें दो लकड़ियाँ देखीं। दोनों इसका उपाय करनेके लिये विचार करने लगे। इतनेमें महात्मा वहाँसे चल दिये और एक बागमें ठहरे। वे दोनों वहाँ भी पहुँचे। वैद्यने म० महावीरको तेलकी कुंडीमें बिठलाया और पगचम्पी करनेवाले मनुष्यसे खूब चम्पी करवाई जिससे शरीर कुछ शिथिल हो जाय। (यह सब उस चिकित्सा-का एक अंग था।) पीछे एक साथ वे लकड़ियाँ खींचीं। लकड़ियाँ माँसमें चुभ गई थीं, इसलिये उनको निकालते समय इतनी अधिक वेदना हुई कि म० महावीर सरीखे दृढ-हृदय मनुष्यके मुखसे भी चीख निकल पड़ी।

एक बार म० महावीर सुसुमार नगरमें ध्यानस्थ थे। उस समय एक असुर राजा (उस समय आर्य लोग आर्येतर लोगोंको असुर आदि कहा करते थे।) किसी देव राजा (आर्य राजा) से युद्ध करनेके लिये जा रहा था। उस समय आर्य-सभ्यताने अनार्य सभ्यता-पर पूर्ण प्रभाव डाल दिया था। अनार्य लोगोंपर आर्य मुनियोंका बहुत प्रभाव पड़ गया था, इसलिये शुभ शकुनके रूपमें उसने म० महावीरकी वन्दना की। परन्तु लड़ाईमें वह हारकर भागा। आर्य नरेशने उसका पीछा किया। जब उसे कोई उपाय न सूझा तो वह भागता भागता म० महावीरके शरणमें आ गया और रक्षाके लिये प्रार्थना करने लगा। इतनेमें वह आर्य राजा भी वहीं आ पहुँचा। एक अनार्य नरेशको आर्य मुनिकी शरणमें आया देखकर आर्य नरेशको बहुत प्रसन्नता हुई। उसने इसको आर्यताकी विजय समझकर

उस अनार्य नरेशको क्षमा कर दिया। सम्भव है, उस समय म० महावीरने उस आर्य नरेशको कुछ समझाया हो परन्तु शास्त्रोंमें इस समझानेका उल्लेख नहीं मिलता।

इस घटनाको शास्त्रोंमें बड़ा विचित्ररूप दिया गया है। अनार्य राजाको असुरेन्द्र और आर्य राजाको देवेन्द्र मान लिया गया है—जैसा कि पहले भी होता रहा है। देवोंकी अकाल-मृत्यु नहीं होती, इस सिद्धान्तके कारण दिगम्बरोंको देवेन्द्र और असुरेन्द्रकी इस लड़ाईका रूपक पसन्द नहीं आया, इसलिये उन्होंने इस लड़ाईको नहीं माना है किन्तु इसके बदलेमें सिर्फ इतना स्वीकार किया है कि देवेन्द्र और असुरेन्द्रमें परस्पर ईर्षा रहती है। इस तरह या तो साधारण दो राजाओंकी लड़ाई सुरासुर-संग्रामके रूपमें परिणत कर दी गई है, अथवा वैदिक सम्प्रदायके सुरासुर-युद्धकी नकल करनेके लिये यह कल्पना की गई है। इसका उद्देश्य सिर्फ इतना ही है कि म० महावीरको सुरासुरपूजित बतलाया जाय और वैदिक सम्प्रदायकी तरह जैनसम्प्रदायमें भी सुरासुर-संग्रामका कुछ उल्लेख हो जाय। भक्तिकी दृष्टिसे ऐसी कल्पनाओंका होना न तो आश्चर्यजनक है न विशेष अनुचित।

म० महावीरके इस तपस्या-कालमें और भी अनेक छोटी-मोटी घटनाएँ हुई होंगीं और हुई हैं। दिगम्बर सम्प्रदायमें सात्यकि नामक रुद्र (रुद्र—भयङ्कर आकृति या प्रकृतिका आदमी) के द्वारा उपसर्ग होनेकी बातका उल्लेख है। बहुतसी घटनाएँ छोटी हैं। कुछ घटनाएँ पुनरुक्त सरीखी हैं या अनावश्यक होनेसे छोड़ दी गई हैं। फिर भी उपर्युक्त घटनाओंसे यह बात अच्छी तरह सिद्ध हो जाती

है कि म० महावीर किस स्वभावके और कैसे वीर थे, धर्मके उद्धार-के लिये इस बारह वर्षके अवसरमें उन्होंने किस तरह क्या क्या सामग्री एकत्रित की, वे नरसे नारायण कैसे बनें। जो जन्मसे ही म० महा-वीरको नारायण मान लेते हैं और देवताओंके रूपकोंसे उनके महत्त्व-को बढ़ाते हैं वे भक्तिके द्वारा पुण्यका संचय कर सकते हैं परन्तु सम्यक्त्व प्राप्त नहीं कर सकते, बल्कि दूसरोंको भी सम्यक्त्वसे वंचित रखते हैं।

म० महावीरका जीवन इतना महान् है कि उसे अलंकृत करनेके लिये देवताओंकी जरा भी आवश्यकता नहीं है। नकली रत्नोंको डाँक लगाकर चमकाया जाता है, असली हीरे तो बिना डाँकके ही चमकते हैं और उनकी परीक्षा तो डाँक लगाकर हो ही नहीं सकती। दुनियाके बाजारमें अगर जैनधर्मको और महावीरके व्यक्तित्वको रखना हो तो आगे-पीछेके सब आवरण अलग कर देना चाहिये। तभी जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म कहा जा सकता है और इस वैज्ञानिक युगमें उसका प्रचार हो सकता है।

कैवल्य और धर्मप्रचार

गणधर

बारह वर्षतक घोर तपश्चरण और पूर्ण मनन करनेके बाद म० महा-वीर पूर्ण समभावी और मर्मज्ञ हो गये। अब संसारकी कोई वस्तु उन्हें दुःखी नहीं कर सकती थी। जिस अज्ञानताके कारण प्राणी दुःखी होता है वह अज्ञानता उनकी नष्ट हो गई थी। आत्माको स्वतंत्र और सुखी बनानेका जो सच्चा मार्ग है, वह उन्हें प्रत्यक्ष झलकने लगा था। वे कृत-कृत्य हो गये थे—उनका कोई स्वार्थ बाकी न रह

था। फिर भी प्रत्येक मनुष्यको किसी न किसी तरह लोक-सेवा अवश्य करना चाहिये इसलिये उनने विचार किया कि जब तक जीवन है तब तक मन-वचन-काय कुछ न कुछ काम तो करेंगे ही तब उनसे विश्वकल्याणका ही काम क्यों न लिया जाय? इसलिए जिस अवस्थाको वे स्वयं प्राप्त हुए थे, दूसरोंको भी वही अवस्था प्राप्त करानेके लिये उनने संघ-रचनाका विचार किया और इसके लिये वे धर्मप्रचारक बने।

पिछले बारह वर्षोंमें हजारों भद्र जीवोंने उनके दर्शन प्राप्त किये थे, परन्तु उनको आश्चर्य होता था कि ये तपस्वी किसीको कुछ उपदेश क्यों नहीं देते। परन्तु लोगोंको आशा थी कि ये महर्षि कभी न कभी उपदेश देंगे। इसलिए जब उनने उपदेश देनेका विचार किया तब बहुतसे श्रोता एकत्रित हो गये। परन्तु ये सब ग्रामीण श्रोता भक्तिके कारण उपदेश सुननेको एकत्रित हुए थे, समझनेके लिए नहीं। इसलिए उनका पहिला व्याख्यान निरर्थक हो गया। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस बातको एक आश्चर्यमें गिना है; दिगम्बर सम्प्रदायमें इस घटनाका उल्लेख ही नहीं है।

पहिले व्याख्यानकी निष्फलतासे उनने विचार किया कि पहिले कुछ विद्वानोंको अपना तत्त्व समझाना चाहिए। उन विद्वानोंसे धर्मप्रचारमें बहुत सुविधा होगी। उनने जिन विद्वानोंको अपना तत्त्व समझाया वे उनके मुख्य शिष्य अर्थात् गणधर हुए। इसपरसे यह प्रसिद्धि हो गई कि तीर्थंकर बिना गणधरोंके व्याख्यान ही नहीं देते। इस प्रकार यह नियम सभी तीर्थंकरोंके लिये लगा दिया गया।

विद्वानोंको शिष्य बनानेके विचारसे वे अपापा नगरीमें आये।

यहाँ सोमिल नामके एक श्रीमन्त ब्राह्मणने बड़े भारी यज्ञका आयोजन किया था जिसमें देशके सैकड़ों बड़े बड़े विद्वान् अपने अपने शिष्य-परिवार सहित आये थे। वह ज़माना यज्ञोंका था। यज्ञके नामपर लाखों पशु स्वाहा कर दिये जाते थे। इस समय क्रियाकाण्डके आगे ज्ञानकाण्डका कुछ मूल्य नहीं था। क्रियाकाण्डियोंकी सब जगह तूती बोलती थी। परन्तु इस ज्ञानशून्य क्रियाकाण्डकी निःसत्त्वता कुछ विद्वानोंके हृदयमें खटकती भी थी। उन्हें क्रियाकाण्डमें विश्वास नहीं रहा था इसलिये उनके मनमें अनेक संशयोंने घर कर लिया था। इन संशयी विद्वानोंमेंसे ग्यारह विद्वान् म० महावीरके शिष्य हुए।

जब म० महावीर अपापा नगरीमें पहुँचे तब भी उनके पास बहुत भीड़ हुई। नगरीके बहुतसे लोग उनके पास पहुँचे। इन्द्रभूति गौतमने यह देखकर पूछताछ की—'लोग हमारे पास न आकर महावीरके पास क्यों जाते हैं?' इस विचारसे कुछ तो उन्हें रंज हुआ और, शुष्क यज्ञकाण्डोंसे उनका मन भीतर भीतर ही घबरा रहा था इसलिए, कुछ जिज्ञासा भी हुई। सोचा, देखूँ तो क्या मामला है? इन्द्रभूति वहाँ पहुँचे। म० महावीरने शब्दोंसे उनका स्वागत किया। दोनोंमें बात-चीत होने लगी। बातचीतमें म० महावीर सरीखे चतुर पुरुषसे यह बात छुपी न रह सकी कि इन्द्रभूतिको आत्मामें ही विश्वास नहीं है। बात यह है कि शुष्क क्रियाकाण्डोंसे उनकी निःसारता तो मालूम होती ही थी परन्तु जिस परलोकके नामपर यह क्रियाकाण्ड चल रहा था उस परलोकके ऊपर ही अश्रद्धा पैदा हो गई थी। परलोकके नामपर होनेवाले अन्याय, अत्याचार और दम्भोंने नास्तिकवादके प्रचारमें बहुत सहायता की है।

इन्द्रभूतिके संशयको म० महावीरने अपनी प्रबल युक्तियोंसे और अनुभवसे बिलकुल दूर कर दिया। उनके अनुभवपूर्ण गम्भीर ज्ञान, उनकी वक्तृत्वशक्ति, उनके अटूट विश्वास और दिव्यचरित्रका इन्द्रभूतिके ऊपर इतना प्रभाव पड़ा कि वे घर न लौटकर वहींके वहीं उनके शिष्य हो गये। इन्द्रभूतिके समान अन्य दस विद्वान् भी उनके शिष्य हो गये। इन विद्वानोंके पास जो शिष्य परिवार था उसने भी अपने गुरुओंका अनुकरण किया। इन विद्वानोंका संक्षिप्त परिचय निम्न-लिखित है—

नाम	ग्राम	पिता	माता	संशय का विषय—
(१) इन्द्रभूति	गोबर	वसुभूति	पृथ्वी	आत्मा है कि नहीं ?
(२) अग्निभूति	,,	,,	,,	कर्म है कि नहीं ?
(३) वायुभूति	,,	,,	,,	क्या जीव शरीरसे भिन्न है ?
(४) व्यक्त	कोल्लाक	धनुर्मित्र	वारुणी	जगत् शून्य है या कुछ है भी ?
(५) सुधर्मा	,,	धाम्मिल्ल	भद्दिला	जीव जैसा इस भवमें वैसा परभवमें ?
(६) मंडिक	मौर्य	धनदेव	विजयादवी	बंध मोक्ष कुछ है कि नहीं ?
(७) मौर्यपुत्र	,,	मौर्य	,,	देव गति है कि नहीं ?
(८) अकाम्पित	विमलापुरी	देव	जयन्ती	नरक कुछ है कि नहीं ? या यों ही डरानेके लिये मान लिया गया है ?
(९) अचल-भ्राता	कोशला	वसु	नन्दा	पुण्य पाप है कि नहीं ?
(१०) मेतार्य	तुंगिक	दत्त	करुणा	परलोक है कि नहीं ? आत्मा पञ्चभूतात्मक तो नहीं है ?
(११) प्रभास	राजगृह	बल	अतिभद्रा	मोक्ष है कि नहीं ?

यहाँ ध्यान देनेकी एक बात यह है कि मंडिक और मौर्यपुत्रकी माता एक है और पिता दो हैं। जिस समय मंडिक शैशव अवस्थामें

थे उस समय उनके पिता धनदेवका देहान्त हो गया। धनदेवकी मौसीके लड़के मौर्य थे। जब विजयादेवी विधवा हो गई तो उनका पुनर्विवाह मौर्यके साथ कर दिया गया। इस विवाहसे मौर्यपुत्र सरीखा पुत्ररत्न उत्पन्न हुआ। हम देखते हैं कि सोमिल ब्राह्मणके यज्ञमें ये सभी विद्वान् उपस्थित थे जिनमें विधवा-पुत्र ये मौर्यपुत्र भी थे। इससे मालूम होता है कि विधवाविवाहसे उस समय कुलीनतामें बाधा नहीं समझी जाती थी। हिन्दुओंके तो बहुतसे ऋषि इसी तरह पैदा हुए हैं। कौटलीय अर्थशास्त्रमें जो विधवाविवाहके कानून दिये गये हैं उनसे मालूम होता है कि उस समय चारों ही वर्णोंमें विधवाविवाहका आम रिवाज़ था। जैन शास्त्रोंमें इन सभी गणधरोंको महाकुलीन माना गया है।

दूसरी बात जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह मौर्यपुत्रका संदेह है। शास्त्रोंमें तो लिखा है कि उस समय गाँव-गाँवमें देवता लोग डेरा जमाये पड़े थे। यज्ञोंमें देवता आते थे, गाँवके लोगोंको तंग करनेके लिये देवता तैयार रहते थे, महावीरपर छोटे छोटे उपसर्ग करनेके लिये भी देवता आये थे, उनका सभामण्डप देवताओं-ने ही बनाया था, यहाँ तक कि वहाँ हज़ारों लाखों देवता बैठे थे। यज्ञमण्डपमें जब देवता न आये तब इन्द्रभूतिको बड़ा आश्चर्य हुआ था। अगर शास्त्रोंकी ये बातें ज्योंकी त्यों मान ली जायँ तो देवता लोग उस समय बरसाती मेंढकोंसे भी अधिक सुलभ हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें क्या मौर्यपुत्रको यह संदेह हो सकता था कि 'देवगति है कि नहीं'। यदि समवशरणमें देव और देवियोंका जमघट लगा था और अपापा नगरीका खाली मैदान यदि क्षणभरमें रत्ननिर्मित

समवशरणके रूपमें परिणत हो गया था तो क्या यह सब मौर्य-पुत्र नहीं देख सकते थे ? क्या ये सब देवगतिके अस्तित्वके प्रबल प्रमाण नहीं थे ? अकेले मौर्यपुत्र ही क्या, सभी गणधरोंके संदेह परलोकसे सम्बन्ध रखते हैं । निष्पक्ष विद्वानोंके लिए परलोकके स्वरूपकी समस्या जैसी आज जटिल है वैसी उस समय भी थी । यदि उस समय देव आते होते तो अनात्मवादका नाम भी सुनाई न देता । देवगति तो परलोककी जीती-जागती मूर्ति है । परंतु इतिहासके आदिकालसे अभीतक परलोक न माननेवाले, आत्मा न माननेवाले, दर्शन प्रचलित रहे हैं । स्वयं म० बुद्धने परलोकके विषयमें एक प्रकारसे मौन रक्खा था । सभी आस्तिक शास्त्रोंमें परलोक सिद्ध करनेके लिए एड़ीसे चोटी तक पसीना बहाया गया है । अगर देवता इस तरह आते होते तो इतना परिश्रम क्यों करना पड़ता ? क्या यह सम्भव था कि लाखों देवता किसीके पास आवें फिर भी परलोकके सुखके लिए लोग दूसरे धर्मोंका सहारा लेनेका साहस करें ? सभी धर्मोंके शास्त्रोंमें देवोंका जैसा वर्णन आता हैं, यदि उसका शतांश भी सत्य होता तो धार्मिक वाद-विवादोंका कमीका अन्त हो गया होता; पुण्य पापकी समस्या हल हो गई होती । अब हम देखते हैं कि हर-एक युगमें बड़े बड़े विद्वानोंके सामने भी परलोककी समस्या खड़ी रही है तब यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी युगमें परलोकके प्राणी, देव लोग, यहाँ आते थे ? वे हमारे महात्माओंकी पूजा करते थे तथा अन्य मनुष्योंसे मिलते-जुलते थे ? शास्त्रोंके वर्णनोंको अगर कोई जरा भी ध्यानसे पढ़ेगा तो उसे मालूम हो जायगा कि हर-एक सम्प्रदायमें देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाला सारा वर्णन भक्तिकल्प्य है, अथवा किसी विशेष प्रकारके

मनुष्योंको देव मान लिया गया है। जैनधर्म तो देवागमन आदिको जरा भी महत्त्व नहीं देता, यह बात मैं पहिले लिख चुका हूँ। हाँ, भक्तोंका हृदय तो सभी जगह एक सरीखा रहता है इसलिए जैनधर्ममें भी ऐसे वर्णन आये हैं।

परन्तु ऐसी घटनाओंको धर्ममें स्थान देनेसे इन घटनाओंके समान वह धर्म भी अविश्वसनीय हो जाता है। और जब हम इन घटनाओंको भगवान महावीरके मुँहसे कहला देते हैं तब तो जैनधर्मके ऊपर बड़ा अत्याचार करते हैं, उसकी वैज्ञानिकताको मिटा देना चाहते हैं। देवगति आदिके विषयमें मैं आगे लिखूँगा, जहाँ इन सब बातोंका समन्वय हो जायगा।

कहा जा सकता है कि 'ये लोग इतने बड़े विद्वान् थे फिर उनको इतनी ज़रा-ज़रा-सी बातें भी क्यों नहीं मालूम थीं!' केशी-गौतम संवादको पढ़ करके भी कोई कोई ऐसी शंका करेंगे 'कि ऐसी छोटी छोटी शंकाएँ इतने बड़े बड़े विद्वानोंको कैसे हो सकती हैं! इसलिए क्यों न इन सब बातोंको मिथ्या मान लिया जाय? ऐसी छोटी छोटी बातोंका उत्तर तो आज एक प्रवेशिकाका विद्यार्थी भी दे सकता है'। इस आक्षेपका उत्तर चार तरहसे दिया जा सकता है।

(१) प्रवेशिका और तीर्थके विषय जुदे जुदे नहीं होते, परन्तु प्रश्नकी गम्भीरतामें महत्त्व होता है। प्रमाणका लक्षण प्रवेशिकाके विद्यार्थीको भी पढ़ाया जाता है और तीर्थके विद्यार्थीको भी पढ़ाया जाता है परन्तु दोनोंमें अन्तर है। मैट्रिकके विषय एम० ए० में भी पढ़ाये जाते हैं परन्तु दोनोंमें महान अन्तर है।

(२) आज जिन बातोंको हम सरल समझते हैं एक दिन वे

कठिन ही नहीं दुर्लभ समझी जाती थीं। गुरुत्वाकर्षणके सिद्धान्तको आज एक मामूली विद्यार्थी भी समझता है परन्तु न्यूटन * के पहिले उसे बड़े बड़े विद्वान् भी नहीं समझते थे। इसलिए क्या यह कहा जा सकता है कि जिस बातको एक विद्यार्थी भी जानता हैं उसे कह कर न्यूटनने क्या बहादुरी की? आजके विद्यार्थी और प्रोफेसरके इस ज्ञानका स्रोत कहाँसे आया है इस बातका जब हम विचार करेंगे तब हमें न्यूटनका महत्त्व मालूम हो जायगा। आज जैनधर्मकी जिन बातोंका ज्ञान हमें बहुत सरल मालूम होता हैं वह कुछ हमारी मौलिक उपज नहीं है—पोथियोंका ज्ञान है। परन्तु उनका स्रोत तो हमें महावीर-गौतम संवाद या गौतम केशी-सम्वादमें मिलेगा। अगर हमें बाप-दादोंकी जायदादमेंसे एक लाख रुपया मिल जाय तो हम समझेंगे कि लाख रुपया प्राप्त करना क्या चीज़ है? परन्तु हमारे जिस पूर्वपुरुषने जन्म-भर पसीना बहाकर वह धन पैदा किया था वह एक-एक पैसेका मूल्य जानता था। इसी तरह आज हम भले ही कहें कि 'परलोककी बात तो एक बच्चा भी जानता है, कर्म-शत्रुओंको कैसे जीता जा सकता हैं—यह बच्चों कैसा सवाल है। ऐसा पूछनेवालेकी विद्वत्तामें बट्टा लगता है। 'बन्धनोंसे कैसे छूटा जा सकता है—यह तो पाठशालाका विद्यार्थी भी जानता है आदि'। परन्तु पहिले पहिले जिस महात्माने अपने अनुभवसे इस बातका निर्णय किया वह उसके एक एक शब्द का मूल्य जानता था। उस समय वह आचार्योंको भी दुर्लभ था।

---

* यूरोपमें सबसे पहिले न्यूटनने इस सिद्धान्तका पता लगाया था। भारतमें चौथी शताब्दीके ग्रन्थोंमें भी इस सिद्धान्तका उल्लेख मिलता है।

आज भले ही वह सुलभ हो गया है परन्तु वह उन्हींकी कृपासे सुलभ हुआ है जिनको कि बच्चा कहा जाता है। आज जिन बातोंको हम मामूली समझते हैं, सौ-पचास वर्ष पहिले अनेक वैज्ञानिकोंको उनकी कल्पना भी नहीं थी। क्या इसीलिये हम उनसे बड़े वैज्ञानिक हो गये। ऐसे वीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे मालूम होगा कि जो आज विद्यार्थियोंके लिये भी साधारण है वह एक दिन विद्वानोंके लिये भी असाधारण था।

(३) कुछ प्रश्न ऐसे हैं जो हजारों वर्षसे क़रीब क़रीब ज्योंकेत्यों बने हुए हैं और कब तक बने रहेंगे इसके विषयमें अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। जिसको जितनेमें संतोष हो जाता है वह उतनेको ही पूर्ण समाधान मान लेता है लेकिन पूर्ण समाधान बाक़ी रहता है। एक परलोकके ही प्रश्नको लीजिये। भक्त लोग और विद्यार्थी तो हर एक प्रश्नके विषयमें निःशंक होते हैं परन्तु विद्वानोंके सामने यह समस्या आज भी खड़ी है। बड़े बड़े विद्वानोंको परलोककी बात समझमें नहीं आती। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनकी अक़्ल उस विद्यार्थीसे भी कम है। दार्शनिक क्षेत्रमें और भी ऐसे प्रश्न हैं। एक मन-ही-का प्रश्न ले लीजिये। दिगम्बर सम्प्रदाय मनका स्थान हृदय मानता है और कमलाकार[1] कहता है, श्वेताम्बर सम्प्रदाय सर्वाङ्गव्यापी[2] मानता है, आधुनिक विद्वान् मस्तिष्कमें मानते हैं। वैशेषिक लोग

---

१ हिदि होदिहु दव्वमणं वियसियअट्ठच्छदारविंदं वा। गोम्मटसार जी०—४४३

२ मनसः शरीरव्यापिनः।—रत्नाकरावतारिका १—२
तत्राद्यं द्रव्यमनः।—स्वकायपरिमाणम्।—तत्त्वार्थ सिद्धसेनगणी टीका २—१७

मनको परमाणु बराबर मानकर उसे सर्व शरीरमें चलता-फिरता मानते हैं। एक कट्टर साम्प्रदायिक मनुष्यके लिये इस विषयमें कुछ भी विचारनेकी या पूछनेकी बात नहीं हो सकती परन्तु निःपक्ष और समर्थ विद्वानोंके लिये तो आज भी यह ज़रा-सी बात जीवन-भर विचारनेके लिये काफ़ी है। इससे हम समझ जायँगे कि गौतमादि विद्वानोंके और केशीजीके प्रश्न कितने महत्त्वपूर्ण थे, और जितने महत्त्वपूर्ण थे उससे भी अधिक उनके लिये आवश्यक थे। साधारण दृष्टिके मनुष्योंको जिस प्रश्नका कुछ महत्त्व नहीं मालूम होता या जिसमें वे अपने लायक ज्ञातव्य विषय नहीं समझते; बड़े बड़े विद्वानोंके लिये वे प्रश्न बड़े महत्त्वके होते हैं और उनका समाधान उनके जीवनको परिवर्तित कर देता है। हेतुके सच्चे लक्षणने एक समर्थ दार्शनिक (विद्यानन्द) को जैन बना दिया—यद्यपि जैन विद्यार्थीको यह कोई दुर्लभ ज्ञान नहीं है। यही कारण है कि जब म० महावीरने गौतमादि विद्वानोंके संदेहोंको दूर कर दिया तो वे तुरन्त उनके शिष्य हो गये और जैनधर्मके प्रचारमें लग गये।

(४) बहुतसे प्रश्न निर्णयकी दृष्टिसे महत्त्वके नहीं होते परन्तु व्यवहारमें लानेकी दृष्टिसे महत्त्वके होते हैं। जैसे कोई पूछे कि 'क्रोधको कैसे जीतें' तो उत्तर होगा 'क्षमासे'। उत्तर बिलकुल ठीक है, एक साधारण विद्यार्थी भी सौमेंसे सौ नम्बर प्राप्त कर सकता है, परन्तु जब इसे कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रश्न आता है तब लाखमें निन्यानवे हज़ार नौ सौ निन्यानवे मनुष्य फेल हो जाते हैं और इन फेल होनेवालोंमें बड़े बड़े विद्वानोंकी और मुनियोंकी संख्या कम नहीं होती। इसलिये जब हम किसीको इस विषयमें पास

होते देखते हैं तो, यह जानते हुए भी कि क्रोध क्षमासे वश किया जाता है, उससे पूछते हैं कि भाई ! तुम क्रोधको किस तरह वश कर लेते हो ? यह प्रश्न न तो असंगत है, न पूछनेवालेकी मूर्खताका द्योतक है। अगर कोई किसी महात्मासे पूछे कि 'आप इतने बड़े आदमी कैसे बन गये' तो वे उत्तर देंगे कि त्याग और सेवासे; इस बातको एक विद्यार्थी भी जानता है, फिर भी उस महात्माके सामने बड़े बड़े विद्वानोंके द्वारा भी यह प्रश्न पूछने लायक ही रहेगा। क्योंकि इस प्रश्नोत्तरके अन्तस्तलमें विद्यार्थी-सरीखी तोतारटौनी नहीं है किन्तु पूछनेवाले और उत्तर देनेवालेके जीवन-भरका अनुभव है। जब केशीजीने गौतम स्वामीसे पूछा कि 'सभी लोग बन्धनोंमें फँसे हुए हैं आप कैसे छूट आये' तब गौतम स्वामीने उत्तर दिया कि 'रागद्वेषको नष्ट करके'। इस प्रश्नोत्तरमें कोई जान नहीं मालूम होती—विद्यार्थी भी इसका यही उत्तर देगा। परन्तु पूछनेवालेके शब्दोंके भीतर पार्श्वापत्योंकी सारी कमज़ोरियोंका रेखाचित्र है और उत्तरदाताके शब्दोंमें उन कमज़ोरियोंको दूर करनेके या न आने देनेके जो उपाय म० महावीरने बताये हैं वे हैं। इस लिये प्रत्येक प्रश्नोत्तरके अन्तस्तलको देखकर उसके महत्त्वको समझना चाहिये। प्रश्नके बाह्यरूपसे उसके महत्त्वका माप करना ऐसा ही है जैसे किसी मनुष्यका महत्त्व उसके शरीरके मांसकी कीमतके अनुसार ठहराना।

इन चारों बातोंपर विचार करनेसे मालूम हो जायगा कि गौत-मादि विद्वानोंके सन्देह या केशी-गौतम संवाद न तो असंगत है न महत्त्वशून्य है। जैनधर्मके प्रचारमें और उसके रहस्यकी खोजमें ये बड़े कामकी चीज़ें हैं।

चतुर्विध संघ

म० महावीर की संघव्यवस्था एक अद्भुत वस्तु है। उनने प्रारम्भसे ही चार संघ बनाये थे—मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविका। चारों संघोंका स्वतन्त्र और दृढ़ संगठन था और उनके नेता भी जुदे जुदे थे। इस संघ-व्यवस्थाने ही आज जैनधर्मको भारतमें जीता रक्खा है। वैदिक धर्मोंके झपाटेमें बौद्धधर्म आ गया और जैनधर्म बच गया। इसका मुख्य श्रेय चतुर्विध संघ-व्यवस्थाको है। इस विषयमें हम देखते हैं कि महात्मा महावीरने प्रारम्भसे ही स्त्री और पुरुषोंकी समान कदर की है। उस ज़मानेमें स्त्रियोंको शास्त्र पढ़नेका भी अधिकार नहीं था। ऐसे समयमें म० महावीरने महिलाओंको सिर्फ शास्त्र पढ़नेका ही अधिकार नहीं दिया, किन्तु पुरुषोंके समान स्त्रियोंको उनने पूर्ण अधिकार—मोक्ष जाने तकका अधिकार—दिया। उनका संघ स्थापित किया जिसका प्रमुखपद एक महिला (चन्दना) को दिया। यही कारण है कि जैनधर्ममें स्त्री-पुरुषोंके सब जगह समान हक है। इस समानताका असर राजधर्ममें भी इतना पड़ा है कि जैनधर्मके अनुसार पुरुषकी सम्पत्तिका उत्तराधिकार उसकी पत्नीको दिया गया है न कि पुत्रको। स्त्री-पुरुषोंकी इस तरह समानताका प्रतिपादन करना म० महावीर सरीखे समदृष्टिके ही योग्य है।

श्रावक और श्राविका संघकी रचना करके उनने स्त्री-पुरुषकी समानताका समर्थन तो किया ही, साथ ही श्रावकों और मुनियोंको भी परस्पर सहायक बना दिया। श्रावकोंकी मुनियोंके ऊपर देखरेख रहनेसे तथा उनका संघमें पर्याप्त स्थान होनेसे मुनि लोग स्वच्छन्द

न होने पाये। फल यह हुआ कि अनेक आक्रमण आनेपर भी साधु-संस्था टिकी रही। इधर श्रावकोंके ऊपर साधुओंकी देखरेख रहनेसे श्रावक संघ भी टिका रहा। इस तरह एकपर एक ग्यारहकी तरह इनका बल कई गुणा हो गया।

म० महावीरके समयमें चौदह हज़ार (१४,०००) मुनि थे, छत्तीस हज़ार (३६,०००) आर्यिकाएँ थीं, एक लाख उनहत्तर हज़ार (१,६९,०००) श्रावक थे और तीन लाख अट्ठारह हजार (३,१८,०००) श्राविकाएँ थीं। मुनियोंका नेतृत्व गणधरोंके हाथमें था, आर्यिकाओंका नेतृत्व चन्दना, श्रावकोंका नेतृत्व शंख और शतक, तथा श्राविकाओंका नेतृत्व सुलसा और रेवतीके हाथमें था। श्रावक और श्राविकाओंकी यह गणना भी इस बातको साबित करती है कि उस समय श्रावक और श्राविकाओंपर जरा भी उपेक्षा नहीं रक्खी जाती थी। इतना ही नहीं, जब किसी श्रावकमें म० महावीर कोई अच्छी बात—कर्तव्यतत्परता, दृढ़ता आदि—देखते थे तो सर्व संघके सामने उसकी प्रशंसा करते थे और मुनियोंसे भी उस श्रावकका अनुकरण करनेकी बात कहते थे। इससे मालूम होता है कि म० महावीरने श्रावक संघको कैसा महत्त्व दिया था और कैसा सुव्यवस्थित बनाया था। चतुर्विध संघके इस वर्णनसे म० महावीरके प्रबन्धकौशलपर आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।

साधुसंघ जैसे अपनी मर्यादाके भीतर स्वतन्त्र था उसी तरह श्रावक संघ अपनी मर्यादाके भीतर स्वतन्त्र था। किन्तु जिन कार्योंका असर संघके बाहर होता था अथवा संघकी मर्यादाका जिनसे भंग होता था उनके विषयमें एक संघ दूसरे संघके कार्यमें हस्तक्षेप कर

सकता था। श्रावकोंकी अनुमतिके विरुद्ध कोई साधु किसीको दीक्षित नहीं कर सकता था। अगर किसी साधुसे किसी श्रावकका अपराध होता था तो उस साधुको श्रावकसे माफी माँगनी पड़ती थी। एक वार म० महावीरके मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतमको आनन्द श्रावकसे माफी माँगनी पड़ी थी। और माफी मांगनेके लिये म० महावीरने गौतमको आनन्दके घरपर भेजा था। मतलब यह कि म० महावीरका श्रावक संघ साधुओंकी दृष्टिमें मिट्टीका पुतला नहीं था। उसका स्थान साधु-संघके समान ही महत्त्वपूर्ण था। साधु महाव्रती होते हैं इसलिये श्रावक उनका सन्मान अवश्य करते थे किन्तु व्यवस्था और न्यायके विषयमें दोनोंका मूल्य बराबर था। श्रावक संस्थाके विरुद्ध होकरके किसी साधुको कुछ भी करनेका अधिकार न था।

श्रावक-संघका यह स्थान पीछे भी रहा है। श्रावकोंने साधुओंको, चरित्रहीन होनेपर, पदभ्रष्ट किया है, आचार्योंको पदसे उतारा है, दुराचारियोंका वेष तक छीन लिया है!—ये घटनाएँ शुरूसे लेकर आजतक होती रही हैं। सैकड़ों वर्षोंतक साधुओंके विना श्रावक संघने अपने धार्मिक जीवनको सुरक्षित रक्खा है।

महावीरने साध्वी-रूपमें ही स्त्रियोंके व्यक्तित्वका विकास नहीं किया, किन्तु श्राविकारूपमें भी किया। साध्वियाँ कौटुम्बिक बंधनसे छूट जाती हैं इसलिये उनके व्यक्तित्वका मूल्य होना उतना कठिन नहीं था जितना कि श्राविकाओंका था। आज इस सुधरे जमानेमें भी स्त्रियोंका प्रतिनिधित्व पुरुष ही कर लेते हैं। स्त्रियाँ अपना सुखदुःख अपने मुखसे कहें इससे अनेक धर्मध्वजियोंको अपना सख्त

अपमान माळूम होता है। धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रमें स्त्रियोंकी आवाज़ ही नहीं है। कुछ वर्ष पहिले तो सुधारक-सभाएँ भी स्त्रियोंकी आवाज़से शून्य रहतीं थीं। खैर, स्त्रियोंको हमने कितना कुचला है—यह तो एक लम्बा पुराण है परन्तु म० महावीरने स्त्रियोंको स्वतन्त्र कर दिया था। इसलिये वे साध्वी-संघ स्थापित करके ही सन्तुष्ट न हुए किन्तु श्राविकाओंका संघ भी बनाया। और उसकी प्रमुखाएँ भी रेवती और सुलसा सरीखीं श्राविकाएँ ही रहीं।

संघ-रचना तो किसी तरह की जा सकती है परन्तु उसके ऊपर देख-रेख रखना मुश्किल होता है। म० महावीर चारों संघोंके ऊपर अपनी दृष्टि रखते थे। उनकी गिनतीका हिसाब तक रक्खा जाता था। साथ ही इस बातपर भी दृष्टि रक्खी जाती थी कि कोई किसीपर अत्याचार आदि न कर पावे। अत्याचारके विरोधके लिये म० महावीर स्वयं सन्नद्ध रहते थे।

जब रानी मृगावतीके ऊपर चण्डप्रद्योतने आक्रमण किया और उसके साथ ज़बर्दस्ती शादी करना चाही तो रानीने तो किसी तरह आत्म-रक्षा की ही। किन्तु दोनोंके झगड़ेको सदाके लिये दूर करनेके लिये, दोनोंको निर्वैर बनानेके लिये और अत्याचार रोकनेके लिए म० महावीर स्वयं कोशाम्बी पधारे और उन्होंने दोनोंके झगड़ेको शान्त कर दिया। इतना ही नहीं किन्तु एक बार श्रेणिक राजा जब अपनी पत्नी चेलनादेवीपर क्रुद्ध हो गया तब म० महावीरने श्रेणिकको अपराधी बताया और श्रेणिकने पश्चात्ताप किया। मतलब यह कि म० महावीरने श्रावक और श्राविका-संघ कायम करके उनमें ऐसी सुव्यवस्था रक्खी

कि उनका संघ चिरस्थायी हुआ। और आज भी उसने अपना असर थोड़ा बहुत कायम रक्खा है।

इस प्रकार चार संघोंकी स्थापना और उनका संगठन म० महावीरकी अद्भुत कुशलता और लोकहितैषिताका परिचय देता है।

त्रिपदी

चतुर्विध संघकी स्थापना होनेके बाद म० महावीरने अपने मुख्य शिष्योंको त्रिपदी सुनाई, अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका उपदेश दिया। वस्तु प्रतिसमय पैदा होती है, नष्ट होती है और स्थिर भी रहती है, इससे नित्यवाद, क्षणिकवाद आदिका समन्वय किया। इसे सुनकर उनके शिष्योंने द्वादशांगकी रचना की। इससे इतना तो मालूम होता है कि म० महावीरके शिष्योंने उनके उपदेशोंको पल्लवित किया है। यद्यपि यह काम एक दिनमें नहीं हुआ था, इसे वर्षों लगे थे फिर भी यह निश्चित है कि ये उपदेश पल्लवित हुए हैं।

उनका उपदेश कुछ एक बातको लेकर न होता था। व्याख्यानमें वे कथा कहानी भी कहते थे, अन्य अनेक प्रकारके दृष्टान्तोंसे समझाते थे। उनके व्याख्यान तत्व-निर्णय और आचार सम्बन्धी होते थे और हर एक बातमें त्रिपदी या स्याद्वादका ख़याल रखा जाता था। अपने वक्तव्यको स्पष्ट करनेके लिये वे जो दृष्टान्तादि देते थे वे उनके शिष्योंद्वारा स्वतन्त्र अङ्ग बन गये। जो दृष्टान्त विषयको स्पष्ट करनेके लिए या आचारमें दृढ़ बनानेके लिये दिये जाते थे वे पीछे भौगोलिक और ऐतिहासिक रूपमें परिणत हो गये। यहाँ हमें इतनी बात ध्यानमें रख लेना चाहिये कि भूवृत्त (लोक-रचना) पुराण आदिके विषयमें जो सामग्री आज हमें जैन शास्त्रोंमें मिलती है

प्राय: वह सब विषयको स्पष्ट करनेके लिये और लोगोंके ऊपर प्रभाव डालनेके लिये थी। उसका आशय सत्य था। त्रिपदीके ऊपर द्वादशांग रचनाकी बात मेरे इस वक्तव्यकी पुष्टि करती है।

अतिशयादि

म० महावीरके जीवनको बहुतसे अतिशयोंने ढाँक रक्खा है। कुछ अतिशय ऐसे हैं जो उनकी असाधारणताके सूचक हैं। कुछ ऐसे हैं कि अतिशयोक्तिके कारण उनका रूप बदल गया है। और कुछ ऐसे हैं जो बिलकुल भक्तिकल्प्य हैं। मैं पहिले कह चुका हूँ कि भक्त लोगोंके द्वारा ऐसी कल्पना होना स्वाभाविक है। वर्तमानकालमें भी महात्मा गाँधीके विषयमें यदि अनेक अतिशयोंकी कहानियाँ प्रचलित हो सकती हैं तो ढाई हज़ार वर्ष पहिले यदि म० महावीर सरीखे लोकोत्तर व्यक्तिके विषयमें कुछ अतिशयोंकी कल्पना हुई तो इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? इसलिये इन अतिशयोंके नामपर चिढ़नेकी ज़रा भी ज़रूरत नहीं है; किन्तु निःपक्ष होकर उसकी मीमांसा करनेकी ज़रूरत है जिससे हम उनके वास्तविक महत्त्वको समझ सकें। इस समय भक्तिकल्प्य अतिशयोंको साथमें लगाये रहनेसे वास्तविक अतिशय भी उसी श्रेणीमें चले जाते हैं और सभी भक्ति-कल्प्य कहलाने लगते हैं। इसलिये आवश्यकता है कि इनका विश्लेषण कर दिया जाय और वास्तविक अतिशयोंको एक तरफ़ करके बाकीको अलग कर दिया जाय। ऐसा करके हम म० महावीरके वास्तविक महत्त्वको स्वयं भी समझेंगे और दुनियाँके सामने भी रख सकेंगे।

अतिशयोंके विषयमें भी दिगम्बर और श्वेताम्बरोंमें मतभेद है। कुछ अतिशय तो ऐसे हैं जिन्हें दोनों सम्प्रदायवाले मानते हैं और

कुछ दोनोंमें जुदे जुदे हैं । और कुछ ऐसे हैं जिनका उल्लेख श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हुआ है, परन्तु दिगम्बर सम्प्रदायमें नहीं हुआ किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायको उनके माननेमें विरोध नहीं है ।

म० महावीरके चौंतीस अतिशय माने जाते हैं । वे तीन भागोंमें विभक्त हैं—सहजातिशय (जन्मके अतिशय), कर्मक्षयजातिशय (केवलज्ञानके अतिशय) और देवकृत अतिशय । दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार सहजातिशय दश हैं और श्वेताम्बर-सम्प्रदायके अनुसार चार हैं ।

सहजातिशय

श्वेताम्बर मान्यता—

१—दुग्धके समान श्वेत रुधिर । २—पसीना-रहित शरीर । सुन्दर रूपवाला शरीर । सुगन्धित शरीर । मलरहित शरीर । रोगरहित शरीर । ३—आहार तथा नीहार चर्मचक्षुसे न दीखे । ४—श्वासोच्छ्वासमें कमल जैसी सुगन्ध हो ।

दिगम्बर मान्यता—

१—दुग्धके समान श्वेत रुधिर । २—पसीना रहित शरीर । ३—सुन्दर रूपवाला शरीर । ४—सुगन्धित शरीर । ५—मलरहित शरीर । ६—सुलक्षणता । ७—अनन्त बल । ८—प्रियहितवादित्व । ९—समचतस्र संस्थान । १०—वज्रर्षभ नाराच संहनन ।

दोनों सम्प्रदायोंमें पहिला अतिशय समान है। दूसरेसे पाँचवें नम्बर तकके चार अतिशय श्वेताम्बरोंके दूसरे अतिशयमें शामिल हो जाते हैं । अब दिगम्बरोंके पाँच अतिशय और श्वेताम्बरोंके दो अतिशय रह जाते हैं ।

छठे अतिशय (सुलक्षणता) को श्वेताम्बरोंने इसलिये नहीं माना कि ज्योतिषके लक्षण (चिन्ह) सभीके शरीरमें थोड़े-बहुत पाये जाते हैं इसलिये वह अतिशयरूपमें नहीं गिना जा सकता। परन्तु ज्योतिषके उस युगमें ज्योतिष-सम्बन्धी विशेषता बतलाना ज़रूरी समझकर दिगम्बरोंने उसे अतिशय कहा है। परन्तु वास्तवमें इस अतिशयमें कुछ महत्त्व नहीं है।

सातवें अनन्तबलको दिगम्बरोंने जन्मकृत अतिशय माना, यह ज़रा आश्चर्यकी बात है। क्योंकि अरहंतके ४६ गुणोंमें अनन्त-बलकी गणना अनन्तचतुष्टयमें की गई है। एक ही गुणको दो जगह गिनाना कहाँ तक उचित कहा जा सकता है तथा जन्मसे ही किसी बालकमें अनन्तबल हो यह भक्त हृदयकी ही सम्पत्ति हो सकती है। इसलिये इसे जन्मका अतिशय नहीं माना जा सकता।

प्रियहितवादित्व भी जन्मका अतिशय नहीं हो सकता क्योंकि पैदा होते समय बच्चा बोलता नहीं है। बच्चोंका रोना, हँसना, तुत-लाना आदि सभी कुछ प्यारा लगता है इसलिये यह अतिशय माना जाय तो यह संभव तो हो सकता है, परन्तु इसमें कोई अतिशयता नहीं रह जाती। इस अतिशयको तो केवलज्ञानका ही अतिशय कहा जा सकता है, क्योंकि केवलज्ञानके होनेपर ही वे संसारको प्रिय और हितकारी उपदेश देते हैं।

'समचतस्रसंस्थान' शरीरका एक सुडौल आकार है। यद्यपि यह हरएक आदमीके तो नहीं होता फिर भी बहुतसे स्त्री-पुरुषोंके होता है। इसे किसी तरह अतिशय तो कह सकते हैं, परन्तु यह तीर्थङ्करके अतिशयोंमें गिनाने लायक़ नहीं है। यही बात वज्रर्षभनाराच-

संहननके विषयमें है । यह शरीरकी मज़बूतीका उत्कृष्ट भेद है । यह भी बहुतसे मनुष्य-तिर्यञ्चोंके पाया जाता है ।

श्वेताम्बरोंने जो तीसरा अतिशय माना है उसे दिगम्बर नहीं मानते । उनके मतसे भगवान्‌के नीहार नहीं होता है । 'मलरहित शरीर' नामक पाँचवें अतिशयका उनने यही अर्थ किया है । यह अतिशय अत्युत्कट भक्ति और लोगोंके भोलेपनका परिणाम है । बाल्यावस्थामें—जब कि मैं पद्मपुराणका खूब स्वाध्याय करता था और संसारका सारा लौकिक और पारलौकिक ज्ञान उसीमें समझता था—मेरी यह मान्यता थी कि संतान उत्पन्न करनेके लिये संभोग करना अनिवार्य नहीं है । मेरी इस मान्यताके दो कारण थे । एक तो यह कि मैं राम और सीताजीको इतना पवित्र समझता था कि मैं यह माननेको कदापि तैयार न था कि दोनों संभोग करते होंगे; फिर भी पद्मपुराणमें यह लिखा था कि सीताके दो पुत्र हुए थे । इसलिये मेरी यह मान्यता हो गई थी कि विना संभोगके भी संतान हो सकती है । दूसरा कारण यह था कि पद्मपुराणमें राम-सीता-संभोगका कहीं स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख नहीं था । इसलिये भी मेरी यह मान्यता थी । एक मित्रने, जिसे मैं अपनी अपेक्षा मूर्ख और संसारी समझता था, मुझे मेरी ग़लती बतलाई तो मैं उससे शास्त्रार्थ करने लगा अर्थात् लड़ने लगा । करीब चौदह वर्षकी उमर तक मेरी यही मान्यता थी । मेरे गाँवमें एक युवक भाईजी तो ऐसे थे जो विवाह और गौनाके बाद तक इसी मान्यतापर दृढ़ थे । मेरा यह भोलापन अनेक अतिशयोंके मूलकी खोजमें उपमान प्रमाणका काम कर सकता है । अधिक भक्तिका ऐसा ही परिणाम होता है । अरहन्त सरीखे

लोकोत्तर पुरुष टट्टी जाएँ या पेशाब करें यह कल्पना भक्तोंको पसन्द नहीं आई। उधर अङ्गपूर्वों और अङ्गबाह्योंमें ऐसी घटनाओंका उल्लेख—अनावश्यक होनेसे—न मिला। फल यह हुआ कि यह अतिशय मान लिया गया। श्वेताम्बरोंको भी भक्तिके कारण इस अतिशयकी आवश्यकता तो मालूम हुई, परन्तु उसमें उन्होंने जरा सुधार कर लिया। इसलिये उनने यह कहा कि तीर्थंकरका नीहार दिखलाई नहीं देता; परन्तु यह अतिशय भी भक्तिकल्प्यके सिवाय कुछ नहीं है।

आहारका दिखलाई न देना भी सहजातिशय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि दीक्षाके बाद म० महावीरको जिन जिन लोगोंने आहार दिया है और पाणिपात्रमें दिया है, क्या उन्हें दीखता नहीं होगा कि वे आहार कर रहे हैं? हाँ, केवलज्ञान होनेके बाद यह बात कही जा सकती है। दिगम्बर सम्प्रदायमें ऐसा अतिशय केवलज्ञानका ही माना है। परन्तु उनके मतानुसार अरहंत आहार ही नहीं करते। नीहारके विषयमें जो बात मैं ऊपर लिख चुका हूँ वही यहाँ आहारके विषयमें भी कही जा सकती है। दूसरी बात यह है कि जब अरहन्तको बिलकुल देव साबित करनेकी आवश्यकता हुई तब उनके आहार-नीहार न माननेकी मान्यता भी प्रचलित हुई। भक्त हृदय जिसे देवोंका देव मानता है उसके विषयमें वह ऐसी कल्पना करे इसमें आश्चर्य नहीं है। जब सामान्य देवोंके आहार-नीहार नहीं माना जाता तब देवोंके देवके कैसे होगा इस भोली मान्यताके अनुसार दिगम्बरोंने आहार-नीहार नहीं माना और श्वेताम्बरोंने उसे चर्मचक्षुसे अदृश्य मानकर सन्तोष किया। परन्तु ये दोनों बातें भक्तिकल्प्य हैं। हाँ, अदृश्य माननेके पक्षमें इतना कहा जा सकता है

कि अरहन्त अवस्थामें उनके ये कार्य एकान्तमें होते थे जिसे सर्वसाधारण नहीं देख सकते थे। हाँ उनके शिष्य देखते होंगे।

श्वेताम्बर सम्प्रदायका चौथा अतिशय श्वासोछासमें कमल जैसी सुगन्धका होना है। ऐसा अतिशय तो प्रत्येक काव्यके नायक-नायिकामें माना जाता है, फिर महावीर तो एक तीर्थंकर थे अगर जैन लेखकोंने अतिशयके नामपर ऐसा वर्णन किया तो वे क्षन्तव्य ही नहीं सर्वथा क्षन्तव्य हैं।

श्वेताम्बरोंके दूसरे अतिशयमें रोगरहित शरीर भी एक अतिशय है। यह भी भक्तिकल्प्य है। जो आदमी तीर्थङ्कर होनेवाला है उसे जन्मभर कभी बीमार न होना चाहिये यह बात भक्तके सिवाय और कौन कह सकता है? आश्चर्यकी बात यह है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें यह अतिशय नहीं माना गया है, यद्यपि दिगम्बर लोग अरहन्तको बीमार नहीं मानते। श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार इतना तो माना जाता है कि म० महावीर गोशालककी तेजोलेश्यासे कई महीने बीमार रहे थे। दिगम्बर सम्प्रदायने इस अतिशयको नहीं माना फिर भी वे इस अतिशयको मलरहित शरीरमें अन्तर्गत किये विना नहीं रह सकते। श्वेताम्बरोंने इस अतिशयको माना परन्तु म० महावीरकी बीमारी इस अतिशयका स्पष्ट विरोध है। अन्य अतिशयोंके विषयमें जो कुछ मैंने कहा है वही इस अतिशयके विषयमें कहा जा सकता है।

जो अतिशय दोनों सम्प्रदायोंमें समान हैं, वे भी इसीलिये माने गये हैं कि अरहन्त देवोंके भी देव हैं इस लिये उनका शरीर देवोंके शरीरसे कम पवित्र नहीं मानना चाहिये। भक्तिकी दृष्टिसे यह अनुचित नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें वास्तविक सत्य

कुछ भी नहीं है। शरीरके पवित्र होनेसे या अपवित्र होनेसे किसी आत्माका महत्त्व या अमहत्त्व नहीं है। सुन्दरी स्त्रियाँ भी दुराचारिणी देखी जाती हैं, अच्छे शरीरवाले मनुष्य भी पापी देखे जाते हैं और असुन्दर तथा रुग्ण मनुष्य भी सदाचारी महात्मा होते हैं। जैन-धर्मने तो हुण्डक संस्थानी तथा कुबड़े मनुष्योंको भी केवली माना है। (तेरहवें गुणस्थानमें न्यग्रो धपरिमंडल आदि अशुभ संस्थानोंका तथा अन्य अनेक अशुभ प्रकृतियोंका उदय रहता है) जब कुरूप रुग्ण आदि मनुष्य केवली तक हो जाते हैं तब किसीका महत्त्व बतलानेके लिये उसके शरीरको सर्वगुणसम्पन्न बतलाना अनावश्यक ही है। शरीरकी पवित्रता तो एकेन्द्रिय वृक्षोंमें भी पाई जाती है। जिस कमलकी भगवानको उपमा दी जाती है वह बेचारा स्वयं एकेन्द्रिय है। इसलिये शारीरिक अतिशयोंका कुछ भी महत्त्व नहीं है। ऐसी अनावश्यक वस्तुके लिये म० महावीरके व्यक्तित्वको अस्वाभाविक और असंभव कोटिमें डालनेकी ज़रूरत नहीं है। म० महावीरके शरीरमें कुछ न कुछ असाधारणता अवश्य थी इसीसे वे इतने उपसर्गोंको सह सके, परन्तु इसके लिये इतनी असम्भव कल्पनाओंकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि शारीरिक महत्त्वके कम होनेसे आत्मिक महत्त्वको कम मानना जैनधर्मके विरुद्ध है। अगर म० महावीरमें उपर्युक्त सहजातिशय न हों तो उनके तीर्थङ्करत्वमें ज़रा भी बाधा नहीं आती। जैनधर्म शरीरका धर्म नहीं, आत्माका धर्म है।

कर्मक्षयजातिशय।

जो अतिशय घातिक कर्मोंके क्षयसे मिलते हैं वे कर्मक्षयजातिशय कहलाते हैं। परन्तु इनमेंसे बहुतसे अतिशय सामान्यकेवलियोंके नहीं

पाये जाते इसलिये इन्हें तीर्थङ्करत्वातिशय ही कहना चाहिये। इन अतिशयोंके विषयमें भी दोनों सम्प्रदायोंमें मतभेद है।

दिगम्बरमान्यता	श्वेताम्बरमान्यता
१—सौ योजन सुभिक्ष।	१—दुर्भिक्ष न पड़े।
२—गगन-गमन।	२—समवशरणमें देव मनुष्य और तिर्यंचोंकी कोड़ाकोड़ी समा जाय।
३—प्राणिवधाभाव।	३—वैर न हो, वैर चला जाय।
४—कवलाहार न होना।	४—पच्चीस योजन दूर तक चारों तरफ़ रोग न हो, हो तो चला जाय।
५—उपसर्ग न होना।	५—स्वचक्र परचक्र का भय न हो।
६—चार मुख दिखना।	६—मरी न फैले।
७—सर्वविद्याप्रभुत्व।	७—अतिवृष्टि न हो।
८—प्रतिबिम्ब-रहितता।	८—अनावृष्टि न हो।
९—पलकोंकी स्थिरता।	९—भगवानकी वाणी मनुष्य तिर्यंच और देव अपनी अपनी भाषामें समझें।
१०—नख, केश न बढ़ना।	१०—भगवानकी वाणी एक योजन तक एक समान फैले।
	११—सूर्यसे बारहगुणा तेजवाला भामंडल प्रभुके पीछे मस्तकके पास हो।

पहिला, तीसरा और पाँचवाँ अतिशय दोनों सम्प्रदायोंमें करीब करीब समान है। पहिले अतिशयके विषयमें यह कहना सुसंगत होगा कि जहाँ दुर्भिक्ष होता है वहाँ अरहंतका विहार नहीं होता;

अगर विहार होता है तो उनके भक्त श्रावक, अन्नादि लेजाकर दुर्भिक्षका दुःख दूर करते हैं। इसलिये इसे कर्मक्षयजातिशयके स्थानमें देवकृतातिशय कहना चाहिये। तीसरा अतिशय साधारण दृष्टिसे ठीक है। ऐसे महात्माओंके पास लोग अपना वैर भूलजायँ और प्राणियोंका वध न किया जाय, यह बिलकुल स्वाभाविक है। मालूम होता है कि म० महावीर जहाँ गये होंगे वहाँके कसाइयोंने उस दिन जीववध करना छोड़ दिया होगा, या वहाँके शासकोंकी तरफ़से ऐसी आज्ञा निकली होगी। जैनमुनि आज कल भी ऐसा कराते हैं। पाँचवाँ अतिशय भी स्वाभाविक है। उनका बाह्य प्रभाव और शान्तमुद्रा देखकर राजाओंके भी मस्तक नत होजाते थे। पुराने समयमें साधुवर्गका योंही बड़े बड़े सम्राटोंके ऊपर पूर्ण प्रभाव रहता था। बड़े बड़े सम्राटोंका एक अकिञ्चन साधुके चरणोंपर झुक पड़ना भारतीय सभ्यताका एक अंग है। उस ज़मानेमें यह अंग पूर्ण विकसित अवस्थामें था। ऐसे युगमें म० महावीर सरीखे लोकोत्तर तपस्वी साधुके समक्ष स्वचक्र परचक्रका भय कैसे हो सकता था?

फिर भी अतिशयोंके विषयमें यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि ये कुछ प्रकृतिके अकाट्य नियम नहीं हैं। थोड़े बहुत अपवाद इन अतिशयोंके मिल ही जाते हैं। जैसे गोशालकके द्वारा किया गया उपद्रव। कुछ अतिशय तो ऐसे हैं कि एकाधवार हुए हैं और सदाके लिये मानलिये गये हैं। उदाहरणार्थ-आगे देवकृत अतिशयोंमें गन्धोदककी वृष्टि नामका अतिशय है। म० महावीरके आने पर कभी किसी नरेशने सुगंधित जलका छिड़काव कराया होगा जोकि सदाके लिये

अतिशय मान लिया गया। यह बात पुराने ज़मानेमें ही हुई हो सो बात नहीं है। आज भी ऐसा होता है। अगर किसी महात्माके दर्शनोंके लिये कभी कोई राजा जाता हे तो साधारण लोग यही कहते हैं कि उस महात्माका क्या कहना ? उस की सेवामें बड़े बड़े राजा बने रहते हैं। महावीर जीवनमें अनेक बार जो घटनाएँ हुईं वे अगर सदाके लिये अतिशय मानली गईं तो इसमें कौन आश्चर्य है ? परन्तु जो लोग ठीक ठीक वस्तुस्थितिको जानना चाहते हैं उन्हें इतनी बात ध्यानमें रखना चाहिये ये घटनाएँ सत्य तो हैं परन्तु कादाचित्क हैं, तथा वे महावीर जीवनके ही अतिशय कहे जासकते हैं, न कि हरएक तीर्थंकरके। तीर्थंकरका जीवनचरित्र किसी मशीनके द्वारा तैयार नहीं किया जाता जो कि सबका एक सरीखा जीवन ढलता जावे। महावीर जीवनमें जो अतिशय पाये जाते थे वे पार्श्वनाथ जीवनमें हो भी सकते और नहीं भी होसकते। इसी तरह म० पार्श्वनाथके अतिशय म० महावीरके जीवनमें होभी सकते और नहीं भी होसकते। सभी तीर्थंकरोंके एकसे अतिशय मानकरके हम तीर्थंकरके जीवनको बनावटी और अविश्वसनीय बना देते हैं।

कर्मक्षयजातिशयोंमें उपर्युक्त तीन अतिशय तो समान हैं। बाकी के अतिशयोंपर संक्षिप्त आलोचनाकी जाती है। दिगम्बर सम्प्रदायने दूसरा अतिशय गगन गमन माना है, परन्तु अगर म० महावीर गगन गमन करते हों तो पैरोंके नीचे कमल बिछनेका जो देवकृत अतिशय है, वह निरर्थक पड़ जाता है। यह अतिशय कैसे कल्पित हुआ, इसका ठीक ठीक कारण नहीं माळूम होता। अभी तो सिर्फ़

यही कहा जा सकता है कि म० महावीरमें दिव्यता बतलानेके लिये भक्तों द्वारा यह कल्पना की गई है। इस कल्पनाका दूसरा कारण भी कहा जा सकता है। श्वेताम्बरोंके महावीर चरित्रमें महावीर बात करते हैं, किसीको कहीं भेजते हैं, किसीको बुलाते हैं, किसीके अनुरोधसे कहीं जाते हैं। दिगम्बरोंके महावीर चरित्रमें ऐसी बातें नहीं पाई जातीं। आजकल भी दिगम्बरोंकी यही मान्यता है कि अगर भगवान ऐसा करें तो उनमें इच्छा साबित हो जायगी जो कि मोहका परिणाम है। इसलिये दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार तीर्थंकरके कार्य यंत्रवत् होते हैं। इसलिये उनका गमन भी यंत्रवत् होना चाहिये। ऐसा गमन तो आकाश गमन ही हो सकता है, क्योंकि ज़मीन पर चलनेमें तो पैरोंके उठाने रखनेमें इच्छा होगी। इसलिये जहाँके भव्योंका पुण्य आकर्षण करता है वहीं पर तीर्थंकर आपसे आप पहुँच जाते हैं। निर्मोहताकी इस सूक्ष्म किन्तु अस्वाभाविक परिभाषाने ऐसे ऐसे अतिशयोंकी कल्पना करनेके लिये भक्तोंके हृदयको बाध्य किया है।

कवलाहारके विषयमें कह चुका हूँ। दिव्यता साबित करनेके लिये इसकी कल्पना हुई है। दूसरा कारण निर्मोहताकी सूक्ष्म किन्तु अस्वाभाविक परिभाषा है। केवलज्ञान पैदा हो जानेसे तीर्थंकरको जीवनभर भूख नहीं लगती यह मान्यता भी भक्तिका फल है। तीर्थंकर कवलाहार नहीं करते इस बातको साबित करनेके लिये दिगम्बरोंने अनेक युक्तियाँ दी हैं जैसे-"अरहंत तो केवली हैं, वे अशुचि वस्तुओंको देखते हुए कैसे भोजन करेंगे?" सर्वज्ञताके स्वरूपमें जो भ्रम पैदा हुआ है उसने इसी प्रकारके अन्य अनेक भ्रम पैदा

किये हैं। सर्वज्ञताका यह अर्थ नहीं है कि वह एक साथ सब वस्तुओं पर नज़र रक्खे। अगर ऐसी बात होती तो भी भोजनमें कोई बाधा नहीं थी, क्योंकि जिसके रति, अरति, जुगुप्सा (घृणा ग्लानि) आदि भाव ही नहीं हैं उसे इन बातोंके देखनेसे अन्तराय नहीं आता। दूसरी बात यह कही जाती है कि अगर अरहन्तके आहार माना जायगा तो भूखका कष्ट भी मानना पड़ेगा जिससे अनन्त सुखमें बाधा आ जायगी! इसके उत्तरमें सीधी बात यही कही जा सकती है कि अरहंतमें अनन्तसुख साबित करनेके लिये एक असम्भव कल्पना नहीं की जा सकती। अगर सुखमें बाधा आती है तो हमें स्वीकार कर लेना चाहिये कि अरहंतका सुख, संसारके समस्त प्राणियोंसे अधिक होने पर भी वह पूर्ण नहीं है। यदि असातावेदनीयका उदय सुखमें बाधा डाल सकता है तो यह क्या बात है कि हम अरहंतके असातावेदनीयका उदय तो मानें, क्षुधा परीषह भी स्वीकार करें, परन्तु सुखमें न्यूनता न स्वीकार करें। अगर मोहनीय कर्म न होनेसे असातावेदनीयका उदय और क्षुधा परीषह दुःख नहीं दे सकती तो क्षुधाके होनेपर अनन्त सुखमें बाधा पहुँचती है, यह मानना अनुचित है। अनन्त सुखमें बाधा पहुँचे या न पहुँचे—प्राकृतिक नियमोंको इसकी पर्वाह नहीं है—परन्तु यह बात निश्चित है कि अरहंतको भूख लगती है और इस बातको दिगम्बर सम्प्रदाय भी स्वीकार करता है। दिगम्बर सम्प्रदाय जब अरहंतके असाता वेदनीय और उसका फल क्षुधा परिषह स्वीकार करता है तब यह तो सिद्ध हुआ कि अरहंतको भूख है। भूखा रहकर कोई मनुष्य वर्षों जीवित रहे यह बात असम्भव है। आज हमारे पास ऐसी कोई भी युक्ति

नहीं है जिससे हम निःपक्ष विद्वान्के सामने केवलीके कवलाहारका निषेध सिद्ध कर सकें। केवलीके आहारके विषयमें श्वेताम्बर लोग भी अतिशयके इच्छुक हैं इसीलिये उनने उसे अदृश्य माना है। अगर केवली कवलाहार न करते तो इस अतिशयको माननेमें श्वेताम्बर कभी आनाकानी न करते। वे तो आहारको अदृश्य माननेके झगड़ेसे बच जाते। एक बात और है। दिगम्बर लोग सिर्फ कवलाहारका निषेध करते हैं, वे आहार-मात्रका निषेध नहीं करते। औदारिक शरीरके लिये आहारकी आवश्यकता तो उनने भी स्वीकार की है। इसलिये यहाँ विचार उठता है कि वह कौनसा आहार है और किस द्वारसे किया जाता है। जिस शरीरके लिये जिस आहारकी आवश्यकता है और वह आहार जिस द्वारसे मिलता है उसमें इकदम इतना विचित्र परिवर्तन कैसे हो सकता है? नई वर्गणाएँ भले ही शुभ और सूक्ष्म हों परन्तु पुरानी वर्गणाएँ तो जीवनके अन्त तक बदली नहीं जा सकतीं। इस विषयपर जितना ही विचार किया जायगा उतनी ही उसकी अवैज्ञानिकता सिद्ध होती जायगी। इसलिये केवली भोजन ही नहीं करते उनका भोजन करना अदृश्य है, ये अतिशय भाक्तिकल्प्य ही हैं।

हाँ, अगर भोजन न करनेकी कल्पना दोनों सम्प्रदायोंमें होती तो इतना अनुमान किया जा सकता था कि शायद उनने कवलाहार छोड़ दिया हो और सिर्फ दुग्धपानाद्याहार रक्खा हो? क्योंकि यदि सर्वथा भोजनका त्याग अभीष्ट होता तो कवलाहार-त्यागकी जगह चतुराहार-त्याग बताया जाता, क्योंकि पूर्ण भोजन-त्यागके लिये चतुराहार-त्याग शब्दका उपयोग अधिक उचित है। कुछ भी हो, यह बात निश्चित है कि दोनों ही सम्प्रदायोंमें यह अतिशय भाक्तिकल्प्य ही है।

चार मुख दीखनेका अतिशय भी भक्तिकल्प्य है। सम्भव है म० महावीरको जैन ब्रह्माका रूप देनेके लिये यह कल्पना की गई हो। इस भक्तिकल्प्य अतिशयके लिये पीछेसे वैज्ञानिकता भी खूब बघारी गई है। कल्पना या की जाती है कि केवलज्ञानके बाद तीर्थंकरका शरीर स्फटिकसे भी अधिक निर्मल हो जाता है। इसलिये पारदर्शक होनेके कारण पीछेसे अगला भाग भी दिखलाई देता है। यद्यपि यह पारदर्शकता भी कल्पित ही है फिर भी अगर इसे सत्य मान लिया जाय तो भी यह बात ठीक नहीं बैठती क्योंकि भगवानकी पीठमें पारदर्शकता हो और अगले भागमें न हो यह नहीं कहा जा सकता, इसलिये नेत्रोंकी किरणें (वर्तमानके वैज्ञानिकोंके अनुसार पदार्थकी किरणें) पृष्ठभागके समान अग्रभागको भी पार कर जायँगीं। फल यह होगा कि भगवान तो न दिखेंगे किन्तु उनके आगेकी कोई दूसरी चीज़ अशोकवृक्ष आदि दीखने लगेगा, जिस प्रकार स्फटिककी मूर्तिके पीछे जवाकुसुम वगैरह लगा देनेसे स्फटिकके बदले जवाकुसुम की ललाई दिखलाई देने लगती है। इस अतिशयके लिये वैज्ञानिकताका सहारा लेना भूल है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस ढंगका एक देवकृत अतिशय माना जाता है कि जिससे लोगोंको माळूम हो कि तीर्थंकर चार मुखसे उपदेश देते हैं जिसका खुलासा यों किया जाता है कि पूर्व दिशामें तीर्थंकर बैठें और बाकी तीन दिशाओंमें तीन प्रातिबिम्ब व्यन्तरदेव स्थापें।

इस अतिशयपर विचार करके निम्नलिखित बातोंमेंसे कोई एक कही जा सकती है:—

१—व्याख्यानके समय तीर्थंकर चारों तरफ़ देखते हैं जिससे चारों दिशाओंके दर्शकोंको उनका मुँह दिखलाई दे।

२—व्याख्यान मंडपमें उनके सामने तथा आजूबाजू बड़े बड़े दर्पण लगाये जाते थे जिसमें सामने न बैठनेवालोंको भी उनका मुख (दर्पणमें) दिखलाई देता था।

३—उनके भक्त श्रीमान् लोग उनकी तीन मूर्तियाँ या तीन चित्रपट अन्य तीन दिशाओंमें स्थापित करते थे।

सर्वविद्याप्रभुत्व नामका अतिशय ठीक है। अगर केवलज्ञानका अर्थ त्रिकालकी समस्त पर्यायोंका युगपत्प्रत्यक्ष किया जाय तो यह अतिशय बिलकुल निकम्मा होजाता है। किसी करोड़पति आदमीसे यह कहना कि इसके पास एक पैसा है, उसका अपमान करना है। इसी प्रकार केवलज्ञानके वर्तमान लक्षणके आगे सर्वविद्याप्रभुत्वकी बात है। सर्वविद्याप्रभुत्व विशेषणसे माळूम होता है कि सर्वज्ञत्वका अर्थ सर्वविद्यासर्वज्ञत्व था। वास्तवमें यही महान् अतिशय है।

प्रतिबिम्बरहितता, पलकोंकी स्थिरता, नखकेशोंका न बढ़ना, ये तीनों अतिशय तो अरहंतमें देवोंकी बाह्य विशेषताएँ बतलानेके लिये कल्पित किये गये हैं क्योंकि अरहंत तो देवोंके देव हैं। जैनधर्ममें ईश्वरका अलग अस्तित्व नहीं है। उनके लिये तो तीर्थंकर ही ईश्वर हैं, देव हैं, महात्मा हैं, परमात्मा हैं। उनमें अगर सामान्य देवोंकी विशेषता न हो तो भक्तोंको अवश्य ही असन्तोष रहे। साथ ही दूसरे लोगोंके सामने अरहंतदेवको देव कहनेमें उन्हें सङ्कोच हो। साधारण श्रेणीके लोगोंमें ऐसी चर्चा होती होगी कि तुम्हारे देव, कैसे देव हैं ? देवोंके शरीरकी तो छाया नहीं पड़ती, पलकें

नहीं मिचतीं, आहार-नीहार नहीं होता, दाढ़ी-मूछ नहीं होती, रोग नहीं होता, शरीरमें खून नहीं होता, वे आकाशमें चलते हैं। तुम्हारे देवमें ये सब बातें कहाँ हैं? इसलिये वे तो मनुष्य हैं, तुम उन्हें देव क्यों कहते हो? साधारण लोग आत्माके महत्त्वको नहीं समझते—वे दिव्य गुणोंमें देवत्वका दर्शन नहीं करते, इसलिये उनके लिये बाह्य देवत्वकी आवश्यकता हुई। इसीलिये तीर्थंकरके अतिशयोंमें देवोंके बाहिरी चिन्ह भी लाये गये हैं। जैनधर्म ऐसे देवत्वकी पर्वाह नहीं करता। उसके अनुसार तो देव वही है जो पूर्ण सत्यज्ञानी है, पूर्ण वतिराग है और पूर्ण हितोपदेशी अर्थात् जगत्कल्याणकर्ता है।

श्वेताम्वरोंमें जो पच्चीस योजन तक रोग न होने, मरी न फैलने, अतिवृष्टि-अनावृष्टि न होनेके अतिशय कहे जाते हैं, वे भी भक्ति-कल्प्य हैं और उनका कारण वही है जो ऊपर कहा गया है।

समवशरणमें देव-मनुष्य-तिर्यंचोंकी कोड़ाकोड़ी समानेकी जो बात लिखी है उसका मतलब यह है कि तीर्थंकरका सभामंडप इतना विशाल बनाया जाता था कि उसमें बैठनेवालोंको कभी स्थानकी कमी न हो। दोनों सम्प्रदायवाले समवशरणका विस्तार एक योजन बताते हैं। एक योजनका परिमाण उस समयमें क्या माना जाता था या उस समय योजन कितने तरहका चलता था यह अभी अनिश्चित है परन्तु इससे स्थानकी विशालता अवश्य माल्म होती है। यही कारण है कि समवशरण नगरमें नहीं बनाया जाता था किन्तु नगरके बाहर किसी बड़े उपवनमें या पर्वतपर बनाया जाता था।

तीर्थंकरकी वाणी एक योजन तक एक समान फैले और सब लोग अपनी अपनी भाषामें समझें—श्वेताम्बर सम्प्रदायमें यह कर्म-

क्षयजातिशय माना गया है जब कि दिगम्बर सम्प्रदायमें इसी ढंगका अतिशय देवकृत माना गया है। वास्तवमें यह अतिशय देवकृत अर्थात् तीर्थंकरके भक्तोंके द्वारा किया गया अतिशय मानना चाहिये।

मस्तकके पास सूर्यसे बारह गुणें तेजवाला भामण्डल हो। यह एक प्रसिद्ध बात है कि महात्मा पुरुषोंके सिरके चारों तरफ एक तेजोमण्डल होता है। कोई कोई वैज्ञानिक भी इस बातको स्वीकार करते हैं। इसलिये म० महावीरके चारों ओर भामण्डल होना उचित ही है। दिगम्बर सम्प्रदायने इसे प्रतिहार्योंमें माना है। श्वेताम्बर सम्प्रदायने दो भामण्डल माने हैं। एक तो यही सूर्यसे बारह गुणें तेजवाला और दूसरा अष्टप्रतिहार्योंमें उल्लिखित। दूसरा भामण्डल देवकृत है। जो भामण्डल सूर्यसे बारह गुणें तेजवाला हो उसकी तरफ़ लोग दृष्टि कैसे कर सकते हैं? इसलिये उसके तेजको हरण करनेवाला यह देवकृत भामण्डल माना गया है। प्रभामण्डलको सूर्यसे बारहगुणा कहनेका मतलब यह माल्म होता है कि प्रलयकालमें सूर्य जब अत्यधिकतेजस्वी होता है तब उसका तेज वर्तमान तेजसे बारह गुणा हो जाता है। इससे अधिक तेजका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। तीर्थंकरको सबसे अधिक तेजस्वी बतलानेके लिये यह उपमा दी गई है।

दिगम्बर सम्प्रदायमें कहीं कहीं इस भामण्डलको सूर्यसे हज़ार गुणा * कहा है। यह भी कवित्व है। पहिले इसके वर्णनमें यह कहा गया होगा कि यह भामण्डल सूर्योंका भी सूर्य है, आकाश-

---

* आकस्मिकमिव युगपद्दिवसकरसहस्रमपगतव्यवधानम्।
भामण्डलमविभावितरात्रिंदिवभेदमतितरामाभाति। —दशभक्ति॥

का सूर्य तो उसकी एक किरणके बराबर है। सूर्यमें हज़ार किरणें मानी जाती हैं इसलिये वह हज़ार सूर्यके बराबर हुआ। इन सब अतिशयोक्तियोंको दूर करके सिर्फ़ इतना कहा जा सकता है कि किसी भक्त नरेशने एक चमकदार प्रभामण्डल म० महावीरके बैठनेके आसनमें इस प्रकार लगवाया होगा जिससे वह उनके सिरके चारों तरफ़ दिखाई देता होगा, जैसा कि आजकल भी मन्दिरोंमें मूर्तियोंके पीछे लगाया जाता है।

सिरमेंसे जो स्वभावतः किरणें निकलती हैं उन्हें श्वेताम्बरोंने एक अतिशय माना और दिगम्बरोंने उसे नहीं माना क्योंकि वे किरणें आँखोंसे नहीं दीखतीं।

देवकृत अतिशय

देवकृतातिशयका अर्थ है भक्तोंके द्वारा किये गये अतिशय। इस विषयमें भी दोनों सम्प्रदायोंमें मतभेद है।

दिगम्बर मान्यता	श्वेताम्बर मान्यता
१—सर्वार्धमागधी भाषा।	१—चौबीस चमर।
२—पारस्परिक मित्रता।	२—पादपीठसहित सिंहासन।
३—सब ऋतुओंके फलफूल उत्पन्न हों।	३—सब ऋतुएँ अनुकूल रहें।
४—दर्पणसदृशभूमि।	४—तीन छत्र।
५—सब लोग प्रसन्न(संतुष्ट) हों।	५—रत्नमय धर्मध्वज।
६—वायु अनुकूल बहे।	६—एक योजनतक अनुकूल वायु हो।
७—गन्धोदककी वृष्टि।	७—सुगंधित जलवृष्टि।
८—चरणोंके नीचे कमल रचना।	८—सुवर्ण कमल ऊपर चलें।

९—भूमि कण्टकरहित हो।	९—कंटक अधोमुख हो जाय।
१०—अठारह तरहका धान्य पैदा हो।	१०—मणि, सुवर्ण और चाँदीके तीन कोट हों।
११—दिशा और आकाश निर्मल हो।	११—चार मुखसे उपदेश देते हैं यों दिखलाई दें।
१२—आगे आगे धर्मचक्र चले।	१२—आकाशमें धर्मचक्र हो।
१३—अष्ट मंगल द्रव्योंका साथ रहना।	१३—शरीरसे बारह गुणा ऊँचा अशोक वृक्ष।
१४-इन्द्रकी आज्ञासे सब देवोंको निमन्त्रण दिया जाय।	१४—सर्व वृक्ष झुककर प्रणाम करें।
	१५—आकाश-दुंदुभि बजे।
	१६—मयूर आदि पक्षी प्रदक्षिणा करें।
	१७—पुष्प-वृष्टि।
	१८—नखकेश नहीं बढ़ें।
	१९—कमसे कम एक करोड़ देव पास रहें।

दिगम्बर सम्प्रदायमें देवकृत अतिशयके अनेक पाठ × हैं। दूसरे॰ पाठमें १४ वाँ अतिशय नहीं है और ग्यारहवें अतिशयके दो अतिशय बना दिये गये हैं (दिशाका निर्मल होना और आकाशका

× उपर्युक्त पाठ दर्शनप्राभृतकी टीकामेंसे लिया गया है।

॰ आजकल पाठशालाओंमें यही पाठ पढ़ाया जाता है।

निर्मल होना)। इसके अतिरिक्त इस पाठमें १० वाँ अतिशय भी नहीं है और ' जय जय शब्द होनेका ' नया अतिशय बना दिया गया है। दर्शन प्राभृत टीकामें अनुकूल वायु बहनेका अर्थ ' वायुका पीछेसे आना ' है और दूसरे पाठमें ' मन्द सुगन्ध पवनका चलना ' है। इसके अतिरिक्त दशभक्तिका तीसरा*पाठ भी है जिसमें कुछ अतिशय प्रथम पाठके और कुछ दूसरे पाठके हैं। दूसरे अतिशय के विषयमें प्रथम तृतीय पाठमें विशेषता यह है कि सब लोग मागध और प्रीतिंकर देवकी कृपासे मागधी भाषामें बातचीत करते हैं।

म० महावीरकी भाषाके विषयमें अनेक प्रामाणिक और अप्रामाणिक मान्यताएँ प्रचलित हैं। एक मान्यता यह है कि उनकी वाणी सर्वांगसे खिरती है परन्तु इसमें कुछ दम नहीं है। अरहंत भी मनुष्य हैं और वे मुखसे बोलते हैं। बोलते समय उनके ओंठ कैसे चलते हैं और उनके दाँत कैसे चमकते हैं इत्यादि वर्णन शास्त्रोंमें अनेक जगह आता है। इसलिये भाषाका प्रश्न ही विचारणीय है। भाषाके विषयमें निम्नलिखित मत मुझे मिले हैं: —

१—सामान्य मान्यता यह है कि म० महावीरकी भाषा आधी मागधी है और आधी महाराष्ट्री आदि। इसका नाम अर्ध-मागधी है।

२—अरहंतकी भाषा सार्वार्धमागधीया है। ' सर्वेभ्यो हिता सार्वा, सा चासौ अर्धमागधीया, अर्धं मगधदेशभाषात्मकं अर्धं च सर्व भाषात्मकं....तथा परिणतया भाषया सकलजनानां भाषणसामर्थ्य-संभवात् (दशभक्तिटीका) अर्थात् उनकी भाषा ऐसी अर्धमागधी थी जिसे सब समझ सकें।

३—समवशरणभूमौ भगवद्भाषया व्याप्तं, परतो मगधदेवैस्तद्भाषाया अध मागधभाषया संस्कृतभाषया च प्रवर्त्यते । अर्थात् समवशरणके बाहर मागधदेव (मगधके दुभाषिया) आधी मागधी और आधी संस्कृतमें उसका विस्तार करते हैं । (दशभक्तिटीका)

४—अर्द्धं भगवद्भाषया मगधदेशभाषात्मकं अर्द्धं च सर्वभाषात्मकं । अर्थात् आधी मागधी और आधी सर्व भाषा । (दर्शनप्राभृत टीका)

५—सयोगकेवलिदिव्यध्वनेःकथं सत्यानुभयवाग्योगत्वमिति चेन्न, तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृश्रोत्रप्रदेशप्राप्तिसमयपर्यंतमनुभयभाषात्वसिद्धेः । तदनंतरं च श्रोतृजनाभिप्रेतार्थेषु संशयादिनिराकरणेन सम्यग्ज्ञानजनकत्वेन सत्यवाग्योगत्वसिद्धेश्च । अर्थात् अरहंतकी दिव्यध्वनि अनक्षरात्मक होनेसे अनुभय है परन्तु श्रोतालोगोंके कानमें पहुँच कर सम्यग्ज्ञान पैदा करती है इसलिये सत्यरूप है । (गोम्मटसार जीवकांड टीका २२७)

इससे माळूम होता है कि अरहंत भगवानकी वाणी मूलमें अनक्षरात्मक है अर्थात् किसी भाषारूप नहीं है, पीछे सर्व भाषात्मक हो जाती है ।

६—मगध और शूरसेनके बीचकी भाषा अर्धमागधी* कहलाती है ।

---

* ये सब पाठ-भेद भी इस बातके सूचक हैं कि ज्यों ज्यों समय जाता है त्यों त्यों शास्त्रोंकी बातें कुछकी कुछ होती जाती हैं । वर्तमानके शास्त्रोंको शुद्ध जिनवाणी समझना भूल है । वे सिर्फ शुद्ध जैनधर्मके खोजकी सामग्री हैं ।

द्वादशांगका विकृत और अवशिष्टांश जो श्वेताम्बरोंमें प्रचलित है उसकी भाषा अर्धमागधी कही जाती है। कोई कोई उसे आर्ष प्राकृत कहते हैं और कोई उसे महाराष्ट्री प्राकृत कहते हैं। वास्तवमें उस प्राकृतपर महाराष्ट्री प्राकृतका इतना अधिक प्रभाव पड़ा है कि उसे महाराष्ट्री प्राकृत कहा जा सकता है। इसका कारण यह मालूम होता है कि एक दिन समस्त भारतवर्षमें महाराष्ट्री प्राकृतका बोलबाला था। परन्तु वह शुद्ध महाराष्ट्री नहीं है, उसमें मागधीकी भी विशेषता पाई जाती है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रयोग ऐसे हैं जो सीधे संस्कृतसे आये हैं और जिनका प्राकृतमें प्रयोग नहीं होता। परन्तु वे मेरे ख़यालसे पालीके प्रयोग हैं। पाली प्रयोगोंसे मिलान करनेपर यह बात बहुत-कुछ ठीक बैठती है।

दिगम्बर शास्त्रोंकी प्राकृत प्रायः शौरसेनी है। यद्यपि मूलाचार वगैरहमें महाराष्ट्री पद्य भी मिलते हैं परन्तु इसका कारण यह है कि ऐसा प्राचीन साहित्य श्वेताम्बर-दिगम्बरोंका मिलता-जुलता है। ऐसी सैकड़ों गाथाएँ हैं जो श्वेताम्बर-दिगम्बर ग्रंथोंमें एक-सी हैं। ये सब प्राचीन गाथाएँ हैं जिन्हें दोनों सम्प्रदायोंने अपना लिया है। ऐसा मालूम होता है कि म० महावीरकी भाषा थी तो मागधी, परन्तु उसमें महाराष्ट्री, पाली आदिका खूब मिश्रण हुआ था। पीछेसे वह साहित्य उच्चारणभेदसे कुछ परिवर्तित होता रहा। ऊपर जो मैंने छः उद्धरण दिये हैं उनमेंसे प्रथम द्वितीय और चतुर्थसे यही बात साबित होती है। जिस प्रकार आज हिन्दी और उर्दूको मिलाकर हिन्दुस्थानीके एक नये रूपपर ज़ोर दिया जाता है जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों समझ सकें उसी प्रकार उस समय सर्वभाषात्मक

प्राकृत भाषापर ज़ोर दिया गया था। फिर भी बहुतसे लोगोंको म० महावीरकी भाषामें संदेह रह जाता होगा इसलिये दुभाषिया लोग उनके वक्तव्यका अनुवाद करते जाते होंगे। अथवा कभी एकाधवार बहुत भीड़ होने पर तथा अनेक प्रान्तोंके लोग एकत्रित होनेपर दुभाषियोंसे काम लिया गया होगा। मालूम होता है कि यह काम मागधोंसे लिया गया था। मागध शब्दका अर्थ भाट, चारण या नकीब है। इन्हीं मागधोंको पीछेसे मागध देव कहने लगे। किसी विशेष काम करनेवालोंको देव कहना उस ज़मानेमें रिवाज़ था। तीसरे उद्धरणसे दुभाषियोंके सद्भावकी पुष्टि होती है। पाँचवें उद्धरणसे भी यही ध्वनि निकलती है। जब तक समझमें नहीं आई तब तक अनक्षरात्मक कहलाई; जब दुभाषिया मागधोंने उसे अनेक भाषाओंमें अनुवादित कर दिया तब वह सर्वभाषात्मक कहलाने लगी। छठे मतके विषयमें मैंने अभी पूरा विचार तो नहीं किया है परन्तु अभी वह जँचता नहीं है, क्योंकि मगध और शूरसेन के बीचमें अगर कोई अर्धमागध नामका देश होता तो वहाँकी भाषा अर्धमागधी कहलाती। परन्तु अर्धमागध नामका देश कहीं पढ़नेमें नहीं आया।

उपर्युक्त उद्धरणसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि म० महावीरने भाषाके रूपमें कुछ ऐसा परिवर्तन किया था जिसे सब लोग समझ सकें तथा दुभाषियोंका भी प्रबन्ध किया गया था। ये दोनों ही प्रबन्ध ज्ञानको सर्वसाधारणकी सम्पत्ति बना देनेके लिये थे। इसीलिये यह अतिशय कहलाया। जिस युगमें प्राकृत-भाषा स्त्रिया तथा अपढ़ोंकी भाषा कहलाती थी, पढ़े लिखे आदमी प्राकृतमें बात कर-

नेमें अपमान समझते थे, सारा काम संस्कृतमें होता था उस युगमें म० महावीर सरीखे असाधारण विद्वानका प्राकृत भाषामें व्याख्यान देना अतिशय ही था। सर्वसाधारणके हृदयपर इस बातका जितना प्रभाव पड़ा होगा उतना अन्य अनेक अतिशयोंका न पड़ा होगा। आप्तके जो तीन विशेषण हैं उनमेंसे तीसरे विशेषण (हितोपदेशकत्व) के साथ इसका बहुत सम्बन्ध है इसलिये इसे मुख्य अतिशयोंमें मानना चाहिये।

दूसरा अतिशय 'पारस्परिक मित्रता'का है। इसका अगर साधारण अर्थ किया जाय तो वह देवकृत अतिशय नहीं कहा जा सकता। इसलिये दिगम्बर लेखकोंने इसका अर्थ किया है—सब लोग मागधी बोलें। उपर्युक्त विवेचनसे माळूम होता है कि म० महावीरने अर्धमागधीका अपने विहार-क्षेत्रमें खूब प्रचार कर दिया था। इससे यह बात माळूम होती है कि सर्वसाधारणकी एक भाषा बनानेके लिये उनने प्रयत्न किया था और उसमें उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली थी। एक-दूसरेकी भाषा समझनेसे मित्रता बढ़ती है इसलिये इस अतिशयका दूसरा नाम 'पारस्परिक मित्रता' हो गया।

तीसरा, छट्ठा, दसवाँ और ग्यारहवाँ आतिशय कादाचित्क प्राकृतिक घटनाओंका भक्तियुक्त वर्णन है। आज भी हम देखते हैं कि जब हमारे यहाँ कोई महापुरुष आता है तो हम प्राकृतिक घटनाओंको उसके प्रभावका फल बतलाने लगते हैं। अगर पानी बरसने लगता है तो कहते हैं कि गर्मी ज्यादः पड़ती थी इसलिये पानी बरसने लगा। अगर रुक जाता है तो कहते हैं कि पानी बरसनेसे लोग भीगते थे इसलिये रुक गया; यदि बादल आ जाते हैं तो कहते हैं

छाया हो गई; यदि हट जाते हैं तो कहते हैं आकाश और दिशाएँ निर्मल हो गई। आज भी लोग इस प्रकारकी कल्पना किया करते हैं, फिर उस ज़मानेकी तो बात ही क्या कहना !

चौथे, सातवें और नवमें अतिशयसे मालूम होता है कि उनके आनेपर भक्त लोगोंने ज़मीन साफ़ कराई होगी और धूल न उड़े इसके लिये पानी छिड़काया होगा। आज भी किसी नगरमान्य व्यक्तिके स्वागतमें ऐसा कार्य किया जाता है।

पाँचवें अतिशयसे मालूम होता है कि उनका व्यवहार लोगोंके साथमें इतना अच्छा था कि सब लोग संतुष्ट हो जाते थे। उनके व्यवहारमें रूक्षता और लापर्वाही नहीं थी।

आठवें अतिशयसे मालूम होता है कि कभी किसी भक्त नरेशने उनके आनेपर सड़कपर सुनहरी रंगके कमलचित्र बनवाये थे। अथवा व्याख्यान-मंडप (समवशरण) में स्वागत करते समय उनके पैरोंके नीचे ऐसा कपड़ा बिछवाया होगा जिसमें सुनहरी रंगके कमलचित्र बने होंगे। यह प्रथा आज भी अनेक प्रान्तोंमें पाई जाती * है।

जिस प्रकार राजाओंकी सवारीके आगे अनेक तरहके निशान चलते हैं मालूम होता है कि भक्त लोग म० महावीरके विहारके समय चक्र और अष्ट मंगल-द्रव्य (छत्र, चमर, दर्पण, भृंगार, मंजीरा, कलश, ध्वजा, सुप्रीतिका) लेकर चलते थे।

चौदहवें अतिशयसे मालूम होता है कि जिस नगरमें म० महा-

---

* मेरे प्रान्तमें इसे 'पाँवडे डालना' कहते हैं। बारातका स्वागत करते समय बीचमें एक लम्बा कपड़ा बिछाया जाता है जिसपरसे निकलकर भेंट की जाती है।

वीर पधारते थे उस नगरका राजा नगरमें डौंड़ी (डिंडिम) पिटवा कर या और किसी प्रकारसे नगरनिवासियोंको इस बात की सूचना देता था तथा दर्शनोंके लिये अनुरोध भी करता था।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो देवकृत अतिशय हैं उनमें प्रातिहार्योंके नाम भी आये हैं। दोनोंमें अंतर यह माॡम होता है कि समवशरण-की रचना न होनेपर भी जो साधारण चिन्हके तौरपर रहते थे वे प्रातिहार्य कहलाते थे और जब समवशरणकी रचना होती थी और जब वे ही चिह्न कुछ अधिक मात्रा में होते थे तो अतिशय कहलाने लगते थे। जैसे अतिशयोंमें चौवीस चमर हैं जब कि प्राति-हार्योंमें आठ। प्रातिहार्यमें साधारण अशोक वृक्ष है परन्तु अतिशयों-में घंटा, पताका आदि अष्ट मङ्गल द्रव्योंसे शोभित है। अतिशयों-का जो विवेचन हो चुका है उससे श्वेताम्बराभिमत देवकृत अतिशयों-का विवेचन हो जाता है। जिस अतिशयके विषयमें कुछ विशेष रूपमें कहना है वह यहाँ कहा जाता है।

दशवें अतिशयसे माॡम होता है कि म० महावीरके व्याख्यान-के स्थानको किसी श्रीमन्तने या राजाने तीन तरहकी कपड़ेकी दीवालोंसे घेरा होगा। पहिलेमें अनेक तरहके बेल-बूटे होंगे, दूसरीका रंग पीला होगा और तीसरी बिल्कुल सफेद होगी।

चौदहवें अतिशयसे माॡम होता है कि उनके स्वागतमें नगर निवासियोंने वृक्षोंमें भी बन्दनवार आदि लटकाई होंगीं। पीछेसे कवियोंने बन्दनवार लटकतीं देखकर कल्पना की होगी कि मानो वृक्ष झुक कर प्रणाम करते हैं।

आकाशमें दुंदुभि बजनेका अर्थ यह है कि समवशरणके द्वार पर ऊँचे स्थानपर बाजे बजते थे। आजकल भी हाथी-द्वारके ऊपर

बाजे बजानेवालोंके स्थान पाये जाते हैं और कहीं कहीं इतने ऊँचे बैठकर बाजा बजानेका रिवाज है। सफरमें बाजे ऊँटोंपर रखकर बजाये जाते थे। जहाँ मनुष्यसे अधिक ऊँचाई हुई कि आकाशकी ऊँचाईसे तुलना होने लगी।

अठारहवें अतिशयको दिगम्बर सम्प्रदायने कर्मक्षयजातिशय माना है परन्तु इसे देवकृत अतिशय कहना ही उपयुक्त मालूम होता है। क्योंकि घातियाकर्मके क्षय हो जानेसे शरीर अपने स्वभावको छोड़ दे यह बात सिर्फ श्रद्धागम्य है। इसलिये केवलज्ञान होनेपर भी नख, केश तो बढ़ते होंगे परन्तु भक्त लोग शीघ्र काट देते होंगे और बालोंका क्षौर कर्म अथवा लोंच कर देते होंगे। साधक अवस्थामें नियमोंका कड़ाईसे पालन करना पड़ता है परन्तु जीवन-मुक्त अवस्थामें तो उस अपायके कारण ही नहीं रहते जिनसे बचनेके लिये उन नियमोंका पालन करना पड़ता था। इसलिये जो कार्य एक मुनिके लिये निषिद्ध है, वह एक अरहंतको वर्ज्य नहीं भी हो सकता है।

उन्नीसवें अतिशयसे मालूम होता है कि किसी परिमित संख्यामें उनके भक्त साथ बने रहते ही होंगे।

ये जो अतिशय बताये हैं उनमेंसे बहुतसे अतिशय ऐसे हैं जो कभी कभी होते थे और जो सदाके लिये मान लिये गये। म० महावीरके आने पर कभी किसी नगरमें सड़कोंपर पानी छिड़का गया तो यह अतिशय सदाके लिये मान लिया गया। इसी प्रकार चमर आदिके अतिशय हैं। एक कादाचित्क घटनाको सार्वकालिक रूप देनेका आज भी रिवाज़ है।

आठ प्रातिहार्य

प्रातिहार्योंके नाम दोनों ही सम्प्रदायोंमें एक सरीखे हैं। उनके नाम ये हैं।

(१) अशोक वृक्ष—म० महावीरके शरीरसे बारह गुणा ऊँचा। म० महावीर विहारमें प्रायः उपवनोंमें ठहरते थे। उनका आसन अशोक वृक्षके नीचे शिलापट्टपर होता था।

(२) सुरपुष्प-वृष्टि—भक्तोंके द्वारा पुष्प बरसाये जाते थे।

(३) दिव्यध्वनि—म० महावीरकी वाणीको मालवकोश राग, बीणा, बाँसुरी आदिके स्वरसे देवता (बाजा बजानेवाले लोग) पूरते हैं। इससे मालूम होता है कि म० महावीर उपदेशमें कभी कभी अच्छे स्वरमें कविता पढ़ा करते थे और भक्त लोग संगीतका मिश्रण करके उसे सुश्राव्य बनाते थे।

(४) चामर—भक्तोंके द्वारा कभी कभी चमर ढुराये जाते थे।

(५) आसन—सुन्दर सिंहासन।

(६) भामण्डल—इस विषयमें पहिले कहा जा चुका है।

(७) दुंदुभि—एक तरह के बाजे।

(८) छत्र—भक्तों के द्वारा की गई छत्ररचना॥

मूलातिशय

ऊपर जो अतिशय आदि बताये गये हैं वह सब मूलातिशयोंका विस्तार है जो कि कल्पित अकल्पित घटनाओंके सम्मिश्रणसे भक्त लोगोंने किया है। वास्तवमें म० महावीरके मूल अतिशय चार हैं—

१—अपायापगमातिशय—संसारके प्राणी अज्ञानादिसे अपना नाश (अपाय) कर रहे हैं उस अपायको म० महावीरने दूर किया अर्थात् पतनके मार्गसे स्वयं भी बचे और दूसरोंको भी बचाया। तीर्थंकरका सबसे बड़ा और सत्य अतिशय हो सकता है तो यही हो सकता है।

२—ज्ञानातिशय—आत्माको स्वतंत्र और सुखी बनानेका पूर्ण सत्य ज्ञान उनको था।

३—पूजातिशय—बड़े बड़े आदमी भी उनकी पूजा करते थे।

४—वचनातिशय—उनकी व्याख्यानशैली बहुत रोचक थी और उनका उपदेश सबको हितकारी था। माल्रूम होता है कि पुराने समयमें वचनके ३५ गुण माने जाते थे, और जिसके वचनकी प्रशंसा करना पड़ती थी उसके पीछे ये गुण विशेषण रूपमें कहे जाते थे। श्वेताम्बर साहित्यमें नगर, देश, राजा, रानी, उपवन, चैत्य, शरीर और उसके अंगोपांग आदि सबके वर्णन मिलते हैं। जहाँ किसीका उल्लेख हुआ कि उक्त वर्णन उसके साथ लगा दिया गया। इसी तरह वचनातिशयके साथ हुआ है अन्यथा सत्यता और हितकरताकी दृष्टिसे जो वचन सर्वोत्तम है वह कलाकी दृष्टिसे भी सर्वोत्तम होना चाहिये यह नियम नहीं है। वचनातिशय हितकरतामें है, कलापूर्णतामें नहीं। फिर भी जैन शास्त्रोंमें अरहंत-वचनके ३५ गुण माने गये हैं:—

१—सब जगह समझा जा सके। २—योजन तक (बहुत दूर तक) सुनाई दे सके। ३—प्रौढ ४—मेघके समान गंभीर। ५—स्पष्ट शब्दवाला ६—संतोषप्रद। ७—हर-एक मनुष्य ऐसा समझे कि

मुझे लक्ष्य करके अरहंत बोल रहे हैं। ८—पुष्ट अर्थ वाला। ९—पूर्वापरविरोध-रहित। १०—महापुरुषोचित। ११—संदेह-रहित १२—दूषण-रहित अर्थवाला। १३—कठिन विषयको सरल करनेवाला १४—जहाँ जो शोभाप्रद हो वहाँ वैसा बोलना १५—षट् द्रव्य नव तत्त्वको पुष्ट करनेवाला। १६—प्रयोजन-सहित। १७—पद-रचना-सहित। १८—पटुता-सहित। १९—मधुर। २०—मर्मपीड़क न हो। २१—धर्मार्थ-प्रतिबद्ध। २२—स्पष्ट अर्थवाला। २३—परनिंदा-आत्म-प्रशंसा-रहित। २४—व्याकरण-शुद्ध। २५—आश्चर्यजनक। २६—जिसे सुनकर यह मालूम हो कि वक्ता सर्वगुणसम्पन्न है। २७—धैर्ययुक्त। २८—विलंब-रहित। २९—भ्रम-रहित। ३०—सब अपनी भाषामें समझें-ऐसा। ३१—शिष्ट बुद्धि उत्पन्न करनेवाला। ३२—पदके अर्थको अनेक रूप विशेष आरोपण करनेवाला। ३३—साहसिकपनसे कहा गया। ३४—पुनरुक्तदोषरहित। ३५—सुननेवालेको खेद न उत्पन्न करने वाला।

वर्णनको छोड़कर ये चारों अतिशय ही वास्तवमें अतिशय हैं। पहिले जो अतिशयादि बताए गये हैं उनमें कुछ तो कल्पित हैं और कुछ रूपान्तरित हो गये हैं। गम्भीर और निःपक्ष दृष्टिसे अगर बिचार किया जाय तो हमें म० महावीरके जीवनके विषयमें निम्न लिखित बातें मालूम होंगीं।

(१) उनका शरीर सुन्दर और सुडौल था।

(२) वे कठोर परिश्रमसे थकते नहीं थे और न जोशमें आकर उत्तेजनापूर्वक कोई काम करते थे जिससे बहुत पसीना आ जाय।

(३) उनका आहार इतना अल्प और नियमित था कि उन्हें शारीरिक विकारोंके कारण बीमारीका शिकार नहीं होना पड़ा।

(४) उनका शरीर बहुत दृढ़ और सहनशील था।

(५) जहाँ उनका विहार होता था वहाँ कोई पशु आदिकी हत्या न करता था।

(६) वे उपद्रवों, कलहों और अन्यायोंको दूर करा देते थे।

(७) उनको उस समयके सभी दर्शनोंका पूर्ण ज्ञान था और उनने उचित शब्दोंमें उनकी आलोचना भी की थी।

(८) उनका व्याख्यान प्रायः ऐसे विशाल स्थानमें होता था जहाँ लोगोंको बैठनेमें तकलीफ़ न हो।

(९) व्याख्यान सरल भाषामें दिया जाता था और उसका भी अनेक भाषाओंमें अनुवाद कराया जाता था।

(१०) कभी कभी और कहीं कहीं लोग उनका स्वागत महाराजों-सरीखा करते थे। उनके बैठनेके स्थानको छत्र-चमर, भामण्डल आदिसे सजाते थे।

(११) जहाँ उनका विहार होता था वहाँके श्रावक खूब दान करते थे जिससे अतिवृष्टि, बीमारी आदिके कष्ट दूर हो जाते थे।

(१२) कभी कभी उनके आगमनपर ग्रामवासी लोग ज़मीन साफ़ कराते थे, पानी छिड़काते थे, सड़कपर कमलोंके चित्र बनाते थे, वृक्षोंको तोरणोंसे सजाते थे, बाजे बजवाते थे, पुष्प बरसाते थे। तथा और भी अनेक काम करते थे।

(१३) कहीं कहीं उनके आगमनपर राजा लोग नागरिकोंको दर्शनोंका निमन्त्रण देते थे।

(१४) उनके विहारमें आगे आगे धर्मचक्रका निशान और उसके पीछे अष्ट-मंगल-द्रव्य लेकर लोग चलते थे। यह सब भक्तोंकी भक्तिका फल था।

(१५) उनके साथ एक जनसमूह प्रायः रहा ही करता था।

इन पन्द्रह कलमोंमें अतिशयोंका निष्कर्ष दिया गया है। इनके पढ़नेसे म० महावीरका बाहिरी चित्र हमारी आँखोंके सामने घूमने लगता है। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि ये अतिशय वास्तविक अतिशय नहीं हैं। वास्तविक अतिशय तो चार मूलातिशय हैं जो पहिले बताए जा चुके हैं अथवा पूर्ण सत्य-ज्ञान, पूर्ण वीतरागता, और पूर्ण हितोपदेशता ही उनके सच्चे अतिशय हैं।

महावीर-निर्वाण।

महावीर-जीवनके ऊपर इस प्रकार निःपक्ष वैज्ञानिक दृष्टि डालनेसे हम म० महावीरके वास्तविक महत्त्वको समझ लेते हैं तथा इससे जैन-धर्मके वास्तविक रूपको समझनेमें, विवादग्रस्त विषयोंके निर्णय करनेमें और साम्प्रदायिकताको नष्ट करनेमें बड़ी मदद मिलती है।

मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि म० महावीरके समयमें जैन-धर्मका जो रूप था यदि वही रूप फिर खोज लिया जाय, करीब ढाई हजार वर्षोंमें जो विकार जम गया है वह हटा दिया जाय, तो जैनधर्म विज्ञानके आगे टिकने लायक और समाज-सुधारकी सभी समस्याओंको हल करनेवाला बन सकता है। फिर भी अगर उसमें कुछ त्रुटि माळूम हो तो हमें उसके पूर्ण करनेका अधिकार है। अन्तरंग रूपमें तो परिवर्तन होना नहीं है, परिवर्तन होना है बाह्य-रूपमें; सो बाह्यरूपमें परिवर्तन होनेसे जैनधर्मकी कोई भी क्षति

नहीं है। म० महावीरके जीवनसे हमें ऐसे परिवर्तनोंकी आवश्यकताका अनुभव होता है। म० महावीरका जीवन-चरित अनेक समस्याओंको हल करनेवाला है।

कैवल्य प्राप्त करनेके बाद करीब तीस वर्ष तक म० महावीर जीवित रहे और प्राणियोंकी नैतिक उन्नतिके लिये उनने बहुत काम किया। २४६२ वर्ष पूर्व पावामें उनका निर्वाण हुआ। अनेक राजाओंने और श्रावक-श्राविकाओंने मिलकर उनका दाहसंस्कार किया। मुनिलोग भी इस समारम्भमें शामिल हुए थे। अनेक प्रकारके चन्दनोंसे चिता तैयार की गई थी और जब अस्थियाँ रह गईं तब बुझा दी गई थी। अस्थियोंको राजाओंने बाँट लिया था। शास्त्रोंमें इस उत्सवको देवकृत बना दिया गया है। अग्नि लगानेवालोंको अग्निकुमारदेव, वायु चलानेवालोंको वायुकुमारदेव, पानीसे चिता बुझानेवालोंको मेघकुमारदेव; अस्थियाँ ले जानेवालोंको इन्द्र कहा गया है जो कि उस समयकी प्रथाके अनुसार ठीक है।

कुछ लोगोंकी (खासकर दिगम्बरोंकी) ऐसी मान्यता है कि निर्वाण होनेके बाद केवलीका शरीर बिजली या कर्पूरकी तरह उड़ जाता है, सिर्फ नख और केश रह जाते हैं तब इन्द्र मायामय शरीर बनाता है और उसका दाहसंस्कार करता* है। परन्तु जब

---

*तनुपरमाणू दामिनिवत् सब खिर गये। रहे सेस नखकेस रूप जे परिणये॥
तब हरिप्रमुख चतुरविध सुरगण सुभसच्यौ। मायामइ नखकेसरहित जिनतनु रच्यौ॥
रचि अगर चन्दनप्रमुखपरिमलद्रव्य जिनजयकारियौ।
पदपतित अग्निकुमार मुकुटानल सुविधि संस्कारियौ॥
—जिनेन्द्रपंचकल्याणक।

स्वभावोऽयं जिनादीनां शरीर-परमाणवः।
मुंचंति स्कंधतामन्ते क्षणात्क्षणरुचामिव॥ हरिवंश पु० ६५-१३

देवोंका वर्णन भक्तिकल्प्य है तब उनके द्वारा बनाये गये मायामय शरीरका वर्णन भी मायामय है। 'देवोंका शरीर मरनेपर उड़ जाता है तब देवोंके देवका शरीर भी उड़ जाना चाहिये' इस विचारसे यह कल्पना की गई है। परन्तु यह अस्वाभाविक तो है ही, साथ ही अनावश्यक भी है। यदि केवलज्ञानके होनेसे शरीरमें इतनी विशुद्धि आ जाती है कि वह कर्पूरकी तरह उड़ जाता है तो अन्य केवलियोंका शरीर भी उड़ना चाहिये, परन्तु अन्य केवलियोंका शरीर निर्वाणके बाद उड़ नहीं जाता इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं।

'आराधना-कथाकोष' में सञ्जयन्त मुनिकी एक कथा है। एक विद्युद्दंष्ट्र विद्याधरने इन्हें मरवा डाला था। उपसर्गके समय इन्हें केवलज्ञान पैदा हुआ और इनने मुक्तिलाभ किया। निर्वाणोत्सवके समय इनका छोटा भाई जयन्त भी आया। उसे अपने भाईकी (संजयन्त केवलीकी) मृत देहको देखकर क्रोध आ गया। उसने विद्युद्दंष्ट्रको पकड़ लिया........आदि। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संजयन्त केवलीकी मृत देह उड़ नहीं गई थी। इसी प्रकारका एक उल्लेख पद्मपुराणमें भी है। वहाँ निर्वाण हो जानेके बाद उनके शरीरकी पूजा देवोंने की है+। इससे यह बात स्पष्ट है कि केवलज्ञानके होनेसे शरीरका उड़ जाना दिगम्बर सम्प्रदायको भी मान्य नहीं है। यह कल्पना तो है ही परन्तु पीछेकी है यह बात

+ततो मेरुस्थिरस्यास्य शुक्लध्यानावगाहिनः। उत्पन्नं केवलज्ञानं देहमुक्तेरनन्तरं ॥
आगत्य च सहेन्द्रेण प्रमोदेन सुरासुराः। चक्रुर्देहार्चनं तस्य दिव्यपुष्पादिसम्पदा ॥

प० पु० २२ वाँ पर्व ९५–९६

भी निश्चित होती है। म० महावीरके शरीरका अग्निसंस्कार किया गया इससे उनके गौरवमें कुछ भी बट्टा नहीं लगता। इसलिये हमें इस अवैज्ञानिक कल्पनाका त्याग कर देना चाहिये।

दिगम्बर–श्वेताम्बर।

यह बात असम्भवसम है कि किसी लोकोत्तर महात्माके विरोधी न हों। म० महावीरके विरोधी भी बहुत थे। परन्तु जो विरोधी अन्त तक विरोधी रहे वे जैनसंघसे बाहिर ही समझे गये। इसीलिये गोशालक, जमालि आदि जैनसंघसे बाहिर रहे। परन्तु पीछे यह बात नहीं हो सकती थी। पीछे जिन लोगोंमें मतभेद हुआ वे म० महावीरको बराबर मानते रहे और अपनेको म० महावीरके सच्चे अनुयायी कहते रहे। इसलिये पीछेके मतभेद जैनधर्ममें विविध सम्प्रदायोंके कारण हुए।

धैनधर्ममें सम्प्रदाय अनेक हुए हैं परन्तु मुख्य सम्प्रदाय दो हैं— दिगम्बर और श्वेताम्बर। ये दोनों सम्प्रदाय कब और कैसे हुए इसका प्रामाणिक इतिहास लुप्त है। दिगम्बर सम्प्रदायने श्वेताम्बर सम्प्रदायकी उत्पत्तिकी एक कथा बना ली है और श्वेताम्बर सम्प्रदायने दिगम्बर सम्प्रदायकी एक कथा बना ली है। दोनों ही द्वेषमूलक और अप्रामाणिक हैं।

मेरे खयालसे ये दोनों सम्प्रदाय किसी एक घटनाके परिणाम नहीं हैं किन्तु बहुत दिनोंके मतभेदके परिणाम हैं। सम्भवतः वह मतभेद म० महावीरके समयमें भी होगा। यह बात तो निश्चित है कि म० महावीर दिगम्बर वेशमें रहते थे। इसलिये उनके संघके

अधिकांश मुनि भी दिगम्बर वेशमें ही रहते थे परन्तु सवस्त्रवेशका इकदम निषेध नहीं हो गया था। थोड़े बहुत मुनि वस्त्र भी धारण करते थे। आर्यिकाएँ तो अवश्य ही वस्त्र धारण करती थीं और मोक्षका मार्ग तो दोनोंको समान रूपसे खुला था, इसलिये वस्त्र-त्यागपर बहुत अधिक ज़ोर नहीं दिया जा सकता था। फिर भी उनके शिष्य दिगम्बरत्वका अनुकरण जरूर करते थे और म० महावीरके पीछे तो प्रायः सभी दिगम्बरवेशी हो गये होंगे। परन्तु मुनियोंमें एक दल ऐसा भी था जो दिगम्बरत्वको अच्छा समझता हुआ भी उसपर इतना ज़ोर देना उचित नहीं समझता था। एक दल म० महावीरके बाह्य तपका भी पूरा अनुकरण करना चाहता था और दूसरा उसको उचित समझता हुआ भी अनिवार्य नहीं मानता था। परन्तु म० महावीरकी दृष्टिमें अन्तर न था। वे दोनोंको समान समझते थे। अर्थात् सबको मुनि मानते थे। मुनियोंके दस भेदोंमें कोई विशेष तपस्वी होते हैं, कोई अध्ययनप्रिय होते हैं और कोई साधारण होते हैं परन्तु मुनि सभी कहलाते हैं। इसी तरह उस समय भी मुनि सभी कहलाते थे।

म० महावीर के ६२ वर्ष पीछे तक यह मतभेद रुचिभेदके ही रूपमें रहा। इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मास्वामी और जम्बूस्वामी तक संघभेदका कोई चिह्न नज़र नहीं आता। बादमें संघभेद भले ही न हुआ हो परन्तु एक ही संघके भीतर दलबन्दी अवश्य मालूम होती है। क्योंकि जंबूस्वामीके बाद दिगम्बर और श्वेताम्बरोंकी आचार्यपरम्परा जुदी पड़ जाती है। दिगम्बरोंके कथनानुसार जम्बू-स्वामीके पीछे जो पाँच श्रुतकेवली (पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता) हुए

उनके नाम हैं–विष्णु, नन्दी, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु *; जब कि श्वेताम्बरोंके कथनानुसार जम्बूस्वामी के पीछे प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, आर्यसंभूतविजय और भद्रबाहु श्रुतकेवली हुए हैं। भद्रबाहुको दोनों संघ श्रुतकेवली मानते हैं इससे यह तो मालूम होता है कि भद्रबाहुके समय तक संघभेद नहीं हुआ था। बीच के चार नामोंमें जो मतभेद है उसका कारण यह मालूम होता है कि जो जिस दलके विचारोंका पोषक था उसीका नाम उस दलने श्रुतकेवलियोंमें रखा, और विरोधी विचारवालोंको छोड़ दिया। इन चारोंके पीछे जो भद्रबाहु श्रुतकेवली हुए वे बहुत प्रभावशाली थे। पूर्ण जैनश्रुतके ये अंतिम आचार्य थे। ये आचारमें उग्र तपस्वी थे तथा दिगम्बर वेषमें रहते थे इसलिये दिगम्बरत्वके पोषक इन्हें मानते थे। साथ ही ये विचारमें इतने उदार थे कि सवस्त्रवेषपोषकोंको ये हीनदृष्टिसे न देखते थे। इस तरह दोनों दलवाले इन्हें अपना ही समझते थे। भद्रबाहुके बाद दोनों दलोंको सन्तुष्ट रख सकनेवाला कोई न मिला। इधर कारणवश दोनों दलके लोग एक दूसरेसे दूर भी हो गये। उग्र विचारवाले दक्षिण चले गये और नरम विचारवाले उत्तरमें ही रहे। इस घटनाने एक-दूसरेकी मुख-लज्जाका अंकुश भी हटा दिया। उत्तरवालोंने सोचा कि "उग्रविचारवाले बात-बातमें रोक-टोक किया करते हैं और द्रव्यक्षेत्रकालभावका विचार ही नहीं करते इसीलिये हमें स्पष्ट रूपमें मध्यम मार्ग स्वीकार

---

* जम्बूनामा मुक्तिं प्रापयदासौ तथैव विष्णुमुनिः। पूर्वाङ्गभेदभिन्नाशेषश्रुतपारगो जातः। एवमनुबद्धसकलश्रुतसागरपारगामिनोऽभासन्। नन्द्यपराजितगोवर्धनाह्वया भद्रबाहुश्च॥ नीतिसार।

कर लेना चाहिये। म० महावीरने जब जिनकल्प और स्थविरकल्प दोनों ही बताये हैं तब यह क्या बात है कि जिनकल्पपर ही इतना अधिक ज़ोर दिया जाता है? आज वह ज़माना कहाँ है कि जिन-कल्पका पालन हो सके? जिनकल्प तो म० महावीरके साथ ही गया। हमें तो स्पष्ट घोषणा कर देना चाहिये कि जिनकल्प तो 'व्युच्छिन्न' हो गया है। जिनकल्पके बिना मोक्ष रुकता नहीं है और केवल दिगम्बरत्वसे ही जिनकल्पका पालन नहीं होता।"

इन विचारोंका फल यह हुआ कि उत्तरप्रान्तवालोंमें जो दिगम्बर वेषमें रहते थे उनने भी उस वेषका त्याग कर दिया और नरम नीतिका पोषक संगठित संघ बन गया। इस दलके नेता स्थूलि-भद्र थे।

यहाँ यह सब बात कहना आवश्यक है कि नरम नीतिका पोषक यह दल न तो भ्रष्ट था न शिथिलाचारी था। उग्रदल और नरमदलके दृष्टिबिन्दुमें ही अन्तर था। उग्रदलवाले यह सोचते थे कि अगर 'हम महावीरके जीवनका पूरा अनुकरण न करेंगे तो धीरे धीरे इतना शिथिलाचार बढ़ जायगा कि कुछ समय बाद मुनि और श्रावकोंमें कुछ अन्तर ही न रहेगा। जब हम बाह्य नियमोंका कठोरतासे पालन करेंगे तब थोड़ी-बहुत आत्मशुद्धि भी रह जायगी। अगर हम बाहरसे बिलकुल ढीले हो गये तो भीतरसे कुछ भी न रहेंगे।' इसके विपरीत नरमदलवाले यह सोचते थे कि 'बाहिरी बातोंपर अधिक ज़ोर देनेसे भीतरी बातोंको लोग भूलने लगते हैं–वे लोक-सेवाके कामके नहीं रहते। साथ ही ज्ञानोपार्जनपर भी उपेक्षा करने लगते हैं। उग्रनीतिसे धर्मप्रचार और धर्म-प्रभावनामें भी

बाधा आती है। नग्न रहकर हम राजसभाओंमें कैसे आ सकते हैं? जनताका समागम भी हमें पर्याप्त रूपमें नहीं मिल सकता। उस अवस्थामें तो हमें बिलकुल वनवासी रहना पड़ेगा इसलिये हम जन-सेवा बहुत कम कर सकेंगे।'

यह भी सम्भव है कि बौद्ध साधुओंके धर्मप्रचारका भी असर पड़ा हो, और जैनमुनियोंको यह आवश्यकता मालूम हुई हो कि जंगलमें पड़े रहनेसे शासनकी उन्नति और लोककल्याण न होगा। इसलिये मध्यम-वेषको धारण करके समाज-सेवामें भाग लेना चाहिये। कुछ भी हो परन्तु यह निश्चित है कि ये दोनों सम्प्रदाय दृष्टिबिन्दुके अन्तरके ही परिणाम थे—नरम-दलकी आचारभ्रष्टताके परिणाम नहीं थे। यदि ऐसा होता तो स्थूलिभद्र सरीखे कामजयी + चरित्रवान् विद्वान् नेता इस दलको न मिलते।

संघके इस प्रकार अनेक भागोंमें बट जानेसे तथा लापर्वाही आदि अनेक कारणोंसे श्रुत लुप्त हो चला था इसलिए उत्तर-प्रान्तवालोंने पटनामें संघकी बैठक की, और जितना बन सका प्राचीन श्रुतका संग्रह किया। इससे उनको दो लाभ थे। पहिला तो यही कि श्रुतकी (शास्त्रकी) रक्षा हो, दूसरा यह कि दक्षिण प्रान्तवालोंको यह बतलाया जाय कि हम लोग शास्त्राज्ञाके बाहर नहीं हैं।

जब दक्षिणवाले उत्तरको लौटे तो उनने इनका अधिक विरोध किया। एक तो ये पहिलेसे ही विरोध करते थे, दूसरे दक्षिण-प्रान्तमें

+ भूतो न कोऽपि न भविष्यति भूतलेऽस्मिन् श्रीस्थूलिभद्रसदृशो मुनिपुङ्गवेषु।
येनैष रागभवनेऽपि जितो हि कामः पण्याङ्गनावरगृहे वसता निकामम्॥
खरतरगच्छसूरिपरम्परा-प्रशस्ति।

रहनेसे इनके विरोधी भाव कुछ और बढ़े, तीसरे उत्तर-प्रान्तवालोंने जिनकल्पके विच्छेदकी घोषणा करके स्थविर-कल्पको ही आदर्शरूप देकर अपने विचारोंमें कट्टरता प्राप्त कर ली थी। अब ये दिगम्बरवेषियोंको पहलेके समान अधिक तपस्वी भी माननेको तैयार न थे।

इन सब कारणोंने मिलकर दोनों संघोंको पूर्ण विभक्त कर दिया। फिर भी यह भेद इतना अधिक न हुआ कि ये दो सम्प्रदाय हो जाते। विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें ये दोनों संघ दो सम्प्रदायके रूपमें प्रकट हुए। श्वेताम्बरोंके कथनानुसार इस समय दिगम्बर सम्प्रदाय उत्पन्न हुआ, और दिगम्बरोंके कथनानुसार इस समय श्वेताम्बर सम्प्रदाय पैदा हुआ। मेरे विचारसे उस समय ये दोनों सम्प्रदाय उत्पन्न हुए क्योंकि ये दोनों ही एक वृक्षकी दो शाखाएँ हैं। जिन बातोंमें इनमें मतभेद है उनमें अनेकान्त-दृष्टिको दूर कर दिया गया है और एकान्तको अपनाया गया है।

दोनों सम्प्रदाय इस बातको स्वीकार करते हैं कि उस समय प्राचीन श्रुत लुप्त हो गया था—थोड़े थोड़े भग्न अंश बच रहे थे। मेरे खयालसे यह द्रव्यश्रुतका लोप था। भावश्रुत तो द्रव्यश्रुतकी अपेक्षा अधिक बचा था। हाँ, कई कारणोंसे द्रव्यश्रुतका रक्षण आवश्यक था। द्रव्यश्रुत जिस प्रकार लुप्त हो रहा था अगर उसी प्रकार लुप्त होता जाता तो इसका फल बहुत बुरा होता। इसलिये वीर संवत् ९८० में देवर्द्धिगणीकी अध्यक्षतामें वल्लभीपुरमें (गुजरातमें) श्वेताम्बर संघकी एक बैठक हुई। उसमें जितना श्रुत उस समय उपलब्ध था उसका लिपिबद्ध संग्रह किया गया। श्वेताम्बरोंमें आज उसी श्रुतका प्रचार है। इसमें संदेह नहीं कि

यह श्रुत अधूरा है तथा भाषा और भावकी दृष्टिसे थोड़ा बहुत विकृत भी है और उसमें पीछेकी बातें भी मिल गई हैं तथा बौद्ध साहित्यका भी उसपर प्रभाव पड़ा है। फिर भी वह बहुत कामकी चीज़ है। अगर यह संग्रह न होता तो आज तक पंद्रह सौ वर्षमें जो विकार पैदा होता वह भी शास्त्रके नामपर प्रचलित हो जाता।

यह आश्चर्य है कि दिगम्बर-सम्प्रदायने इस प्रकारका संग्रह नहीं किया, बल्कि वे नवीन रचना ही करते आये हैं। इसके ठीक ठीक कारण समझमें नहीं आते परन्तु निम्नलिखित कारण यहाँ कहे जा सकते हैं—

१—दिगम्बर सम्प्रदाय चरित्रके नियमोंका कड़ाईसे पालन करना चाहता था, जब कि प्राचीन श्रुतमें कठिन और शिथिल सभी तरहके नियमोंका उल्लेख था। इसलिये दिगम्बरोंने प्राचीन श्रुतकी रक्षा करने की अपेक्षा नये श्रुतकी रचना करना ही उचित समझा।

२—प्राचीन श्रुत विकृत हो जानेके कारण कुछ असम्बद्ध था तथा प्राचीन होनेके कारण कुछ असुंदर भी था इसलिये उनने उस-पर उपेक्षा की। भग्नावशेषकी मरम्मत करनेकी अपेक्षा उसी सामग्रीसे इनने नई इमारत खड़ी करना अच्छा समझा।

इनमेंसे पहिला कारण ही अधिक ज़ोरदार मालूम होता है। अन्यथा यह बात नहीं हो सकती कि दिगम्बर लोग प्राचीन श्रुतका थोड़ा-बहुत भी संग्रह नहीं कर सकते। यदि दिगम्बरोंके मतानुसार श्वेताम्बरोंने प्राचीन श्रुतमें बहुत-सी मिलावट कर दी थी तो दिग-म्बरोंको चाहिये था कि उस मिलावटको दूर करके जो कुछ श्रुत

बचता उसीका संग्रह करते। इससे उपर्युक्त कारणोंमेंसे प्रथम कारण ही जोरदार माल्म होता है।

दिगम्बर-सम्प्रदायने श्रुतका संग्रह न करके बहुत हानि उठाई है, क्योंकि प्राचीन श्रुतका कोई नाम-निशान न होनेसे जिस किसी दिगम्बरका बनाया हुआ ग्रन्थ महावीरकी वाणी कहलाता है। अमुक आचार्यकी रचना शास्त्र है और अमुक आचार्यकी रचना शास्त्र नहीं है इस विषयमें कोई जोरदार हेतु नहीं दिया जाता। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें यह सुविधा है कि कोई कितना ही बड़ा आचार्य क्यों न हो हम उसकी रचनाको श्रुत माननेके लिए बाध्य नहीं हैं; किन्तु दिगम्बरोंमें यह सुविधा नहीं है। वहाँ तो आचार्योंकी रचना ही श्रुत है। किसकी रचनासे किसकी रचनाका माप किया जाय इसका कोई साधन नहीं है। अगर कोई संग्रह होता तो उसको कसौटी बनाकर हम सब शास्त्रोंकी जाँच कर सकते थे। जो उसमें न मिलता उसे उस आचार्यके मत्थे मढ़ते; आजकलके समान महावीरके मत्थे न मढ़ते। खैर! जो हो गया सो हो गया। अब हमारा कर्तव्य है कि दोनों सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंको अर्ध-प्रामाणिक स्वीकार कर लें और उनमेंसे जो जो बात परीक्षामें कच्ची उतरती जाय उसे छोड़कर बाकीको प्रमाण मान लें। दोनों ही सम्प्रदायोंके ग्रन्थोंमें सत्य और असत्यका मिश्रण हो गया है। इसके अतिरिक्त दोनोंके साहित्यमें ऐसी त्रुटियाँ भी हैं जिनकी पूर्ति एक-दूसरेके साहित्यसे हो सकती है। उदाहरणार्थ कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंसे आध्यात्मिकताकी पूर्ति हो सकती है और श्वेताम्बर साहित्यसे अछूतोद्धार, स्त्री-पुरुष-समानाधिकार, विधवाविवाह आदि समाज-सुधारक साहित्यका निर्माण किया जा सकता है।

यद्यपि इन विषयोंकी सामान्य सामग्री दोनोंमें है तथा मौलिक तत्त्वोंमें कुछ भेद नहीं है, फिर भी अगर हम एक-दूसरेके ग्रन्थोंको आदरकी दृष्टिसे देखने लगें और अपने अपने गीत न गाते रहें तो हम अनेकान्त दृष्टिको प्राप्त करके पूर्ण जैनत्वको प्राप्त कर सकेंगे।

साम्प्रदायिकताका साहित्यके ऊपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। इस साम्प्रदायिकताने ही श्वेताम्बर-साहित्यमें जिनकल्पविच्छेद आदि विचारोंका प्रवेश कराया और इसीने दिगम्बर-साहित्यमें स्त्रीमुक्ति-निषेध आदिका विधान किया।

दिगम्बरोंने नग्नत्वपर ज़ोर देकर मुनिधर्मको कलुषित न होने देनेके लिये बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु उसका निर्वाह न हो पाया। श्वेताम्बरोंमे यतियोंकी सृष्टि हुई तो इस सम्प्रदायमें भट्टारक गुरुओंकी सृष्टि हो गई। स्त्रीमुक्तिनिषेधकी बातोंने भी दिगम्बरत्वकी रक्षा न कर पायी। आज तो स्त्रीमुक्ति-निषेध आदि भी मतभेदके विषय बन गये हैं जब कि ये बातें तो दिगम्बरत्व और श्वेताम्बरत्व सम्बन्धी मतभेदके फल हैं। दिगम्बरत्वकी रक्षाके लिये स्त्रीमुक्तिका निषेध करना पड़ा, स्त्रीमुक्तिके निषेधके कारण बहुत-सा कथा-साहित्य भी परिवर्तित हो गया। सबसे बुरी बात तो यह हुई कि जिस जैन-धर्मने स्त्रियोंको मनुष्योचित सभी अधिकार दिये थे वे इस छोटेसे मतभेदके कारण छिन गये और म० महावीरके धर्ममें भी वही बीमारी आ गई जिस बीमारीको दूर करनेके लिये म० महावीरने जैन-धर्मका प्रचार किया था। परन्तु यह प्रसन्नताकी बात है कि बीमारी-का निदान और चिकित्सा अज्ञात नहीं है। जिन लोगोंने इन सम्प्रदायोंकी नींव डाली उनने अपनी समझके अनुसार अच्छा ही

किया होगा और यह तो निश्चित है कि उन लोगोंकी मंशा जैन-शासनको पवित्र और प्रभावशाली बनाये रखनेकी थी। इस तरह उनकी भावना भले ही पवित्र हो परन्तु साम्प्रदायिकता अच्छी नहीं थी। और आज तो उससे कुछ लाभ नहीं है। पवित्र जैनधर्मको हम तभी समझ सकते हैं जब हम साम्प्रदायिकताका त्याग कर दें।

जैनधर्ममें यों तो अनेक सम्प्रदाय हैं परन्तु दिगम्बर-श्वेताम्बर ये दोनों सम्प्रदाय ही मुख्य हैं। इनके समन्वय हो जानेसे साम्प्रदायिकताका बहुत-कुछ विनाश शीघ्र हो सकता है।

मतभेद और उपसम्प्रदाय

जैनधर्मके उपर्युक्त दो सम्प्रदाय ही हुए हों सो बात नहीं है। म० महावीरके समयसे आज तक छोटे छोटे मतभेदोंको लेकर अनेक उपसम्प्रदाय हुए हैं। आवश्यकतावश लोगोंने कुछ परिवर्तन करना चाहा और प्राचीन परम्पराने उसका विरोध किया इससे उपसम्प्रदाय बनते गये। समन्वय-दृष्टि एक तरहसे नष्ट ही हो गई थी इसलिये मतभेदोंने सम्प्रदायभेदोंका रूप पकड़ लिया। यहाँ मैं कतिपय मतभेदों और उपसम्प्रदायोंका परिचय दूँगा जिससे मालूम होगा कि जैनधर्ममें समय-समयपर लोगोंको परिवर्तनकी आवश्यकता मालूम हुई है। हमें उन मतभेदों और उपसम्प्रदायोंसे न तो राग करना चाहिए, न द्वेष करना चाहिए, किन्तु उन्हें असली जैनधर्मकी खोजकी सामग्री बना लेना चाहिये। ये उपसम्प्रदाय अनुदारता और भोलेपनके परिणाम हैं। आज तो वे उपेक्षणीय ही हैं।

निह्नव—जैन शास्त्रोंमें अनेक निह्नवोंका वर्णन आता है। 'निह्नव'का अर्थ किसी वस्तुका लोप करना, छुपा देना आदि है। जैन धर्मकी प्रचलित मान्यताओंमें जिन लोगोंने कुछ संदेह उपस्थित किया या दूसरा मत चलाया उन्हें निह्नव कहते हैं। तदनुसार श्वेताम्बरोंने दिगम्बरोंको निह्नव कह दिया है जब कि दिगम्बरोंने श्वेताम्बरोंको जैनाभास कहा है। जैसे छोटे छोटे मत-भेदोंपर इन्हें निह्नव कहा गया है उन्हें देखकर आश्चर्य होता है। अधिकांश प्रश्न तो बिलकुल दार्शनिक हैं और उनका धर्मपर या बाह्याचारके ऊपर भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। निह्नव होनेके और भी कई कारण हैं।

जमालि—निह्नवोंमें सबसे पाहिले जमालिका नाम लिया गया है। ये एक राजकुमार थे म० महावीरकी पुत्री सुदर्शनाके साथ इनका विवाह हुआ था। और जब म० महावीरने तीर्थ-रचना की तब पति-पत्नी म० महावीरके शिष्य हो गये। जमालिके पास भी पांच सौ शिष्य साधु थे और सुदर्शनाके पास एक हजार शिष्या साध्वियाँ थीं। परन्तु ऐसा मालूम होता है कि जमालि म० महावीरसे असन्तुष्टसे रहते थे और इसमें इन्हींका अपराध था।

म० महावीर तो निःपक्ष थे। न उन्हें कुल-जातिका विचार था न नातेदारी का। परन्तु जमालि अपनेको म० महावीरका जमाई समझकर अपनेको अपनी योग्यतासे कुछ अधिक समझते थे। और म० महावीरसे यहाँतक कह बैठते थे कि जैसे आप अन्य अनेक मुनियोंको अर्हत् या केवली कहते हो वैसे ही मुझे भी कहो। परन्तु केवली कहलानेके लिये जिस वीतरागताकी, समभावकी, गम्भी-

रताकी और अनुभवकी आवश्यकता थी वह जमालिमें नहीं थी तब जमालिको म० महावीर केवली कैसे मान लेते ?

खैर ! इन सब कारणोंसे या प्रचारके बहानेसे जमालिने अपने साधु-साध्वियोंके साथ प्रवास किया। घूमते हुए श्रावस्तीके तैन्दुक उद्यानके कोष्टक चैत्यमें ठहरे। वहाँ जमालि बीमार हुए। उस समय इनने मुनियोंसे कहा कि घासकी शय्या बिछा दो। मुनि शय्या तैयार करने लगे। इतनेमें जमालिने फिर पूछा—क्या शय्या तैयार हो गई ? उस समय कुछ काम बाकी था परन्तु बोलचालके रिवाजके अनुसार मुनियोंने कह दिया कि 'हो गई'। जमालि तुरन्त लेटनेको आये परन्तु कुछ काम बाकी था, इसलिये क्रुद्ध होकर बोले कि जो काम हो रहा है उसे 'हो गया है' क्यों बोले। मुनियोंने कहा क्रियमाणको भी कृत कहा जाता है ऐसा महावीर-वचन है। जमालिको और भी क्रोध आ गया और उनने कहा कि यह ठीक नहीं है। बस इसीपर मतभेद हो गया। कुछ मुनि इसीसे चिढ़कर म० महावीरके पास लौट गये। 'क्रियमाणको कृत कहा जा सकता है' और 'क्रियमाणको कृत नहीं कहा जा सकता' इस प्रकार म० महावीर और जमालिके दो मत बन गये।

इसमें संदेह नहीं कि जिस अवसरपर साधुओंने क्रियमाणको कृत कहा था उस अवसरपर वैसा नहीं कहना चाहिये था। उन्हें जानना चाहिये था कि बीमार आदमी शय्याके पास आकर खड़ा नहीं रह सकता। इसलिये काम पूरा होनेपर ही 'हो गया' कहना चाहिये था। किसी भी नय-वाक्यका प्रयोग करते समय परिस्थितिका ख्याल रखना चाहिये। दूसरी भूल जमालिकी है। अगर रिवाजके अनुसार मुनियोंने

क्रियमाणको कृत कह दिया तो इसमें जमालिको चिढ़ना न चाहिये था, न दुराग्रह धारण करना चाहिये था परन्तु सच बात तो यह है कि जमालिको पहलेसेही कुछ चिढ़सी थी मौका पाकर वह अभी उठी।

म० महावीरकी पुत्री सुदर्शनाको मुनियोंका विचार पसन्द नहीं आया इसलिये उनने भी जमालिका पक्ष लिया परन्तु पीछे ढंक नामक एक श्रावकने उन्हें उनकी भूल बताई। भूल मालूम होनेपर उनने जमालिका पक्ष छोड़ दिया और फिर म० महावीरकी शिष्या होगई। फिर कोई जमालिका अनुयायी न रहा।

म० महावीरको कैवल्योत्पत्तिके चौदह वर्ष बाद, अर्थात् महावीर-निर्वाणके १६ वर्ष पहिले, जमालिने यह विरोध किया था।

तिष्यगुप्त—इसके दो वर्ष बाद ऋषभपुर अर्थात् राजगृह नगरके गुणशिलक चैत्यमें आचार्य वसुके शिष्य तिष्यगुप्तने आत्माके विषयमें एक नया वाद खड़ा किया। आत्मप्रवादपूर्वका अध्यापन करते समय इन्हें शंका हुई कि जीवका एक प्रदेश भी जीव नहीं हैं, दो प्रदेश भी जीव नहीं है, एक प्रदेश भी कम रहे तब तक जीव नहीं है, इससे मालूम होता है कि कोई अंतिम प्रदेश ही ऐसा है जिसे जीव कह सकते हैं। बाकीके प्रदेशोंको जीव नहीं कह सकते। गुरुने बहुत समझाया कि जैसा अन्तिम प्रदेश जीव है उसी प्रकार अन्य प्रदेश भी। प्रदेशोंमें कोई अन्तर नहीं है। परन्तु तिष्यगुप्तको बात समझमें न आई। बस! इनका बहिष्कार कर दिया गया। ये भी आमलकल्पा नगरीके आम्रवनमें चले गये। वहाँ मित्रश्री श्रावकको इनकी निह्नवताका पता लगा। उसने इन्हें

निमन्त्रण दिया और भिक्षामें अच्छे अच्छे भोज्य पदार्थोंका जरा-जरासा अंतिम कण भिक्षामें दिया। जब इनने पूछा तो उसने कहा कि आपके सिद्धान्तके अनुसार तो अंतिम अंशमें पूर्ण वस्तु रहती है इस लिये लड्डूका अंतिम कण ही पूरा लड्डू कहलाया। बस तिष्यगुप्तको अपनी भूल समझमें आ गई और वे अपने गुरुके पास लौट गये।

अव्यक्त दृष्टि—वीर निर्वाणके २१४ वर्ष बाद श्वेतविका नगरीमें आर्याषाढ़भूति नामक आचार्यका रात्रिमें देहान्त हो गया। जैन शास्त्रोंमें लिखा है कि वे सौधर्म स्वर्गके नलिनीगुल्म विमानमें पैदा हुए परन्तु वे अपनी पूर्व मृतदेहमें प्रविष्ट होकर आचार्य की तरह बात करने लगे और थोड़ी देर बाद शरीर छोड़ते समय कह गये कि मैं तो आचार्य नहीं हूँ किन्तु देव हुआ है। इससे उनके कुछ शिष्य अव्यक्तवादी हो गये। कोई साधु साधु है या देव, यह नहीं जाना जा सकता इसलिये किसीको साधु समझकर वन्दना न करना चाहिये। इसलिये उन्होंने पारस्परिक शिष्टाचार ही छोड़ दिया। अंतमें वे संघबाह्य किये गये। वे राजगृह पहुँचे वहाँके राजा बलभद्रने उनको समझानेके लिये एक तरीका निकलवाया। उसने सेवकोंको आज्ञा दी कि उनको पकड़कर मार डाला जाय। उन मुनियोंने राजासे कहा कि "तुम एक जैन श्रावक हो और जैन मुनियोंके साथ ऐसा व्यवहार करते हो"। राजाने कहा—आप लोग तो अव्यक्तवादी हैं इसलिये न तो आप यह जान सकते हैं कि मैं श्रावक हूँ और न मैं यह जानता हूँ कि आप लोग साधु हैं। इसपर उन मुनियोंने अव्यक्तवाद छोड़ दिया।

इस घटनाका प्रारम्भिक अंश कल्पित है। आचार्यका अमुक

विमानमें पैदा होना और मृत शरीरमें प्रविष्ट होना इन बातोंका ऐतिहासिक तथा दार्शनिक दृष्टिसे कुछ भी मूल्य नहीं है। इतना ही नहीं बल्कि जैन सिद्धान्तसे भी यह एक तरहसे मेल नहीं खाता। वीर निर्वाणके २१४ वर्ष बाद जैन शास्त्रोंके अनुसार भी न तो यहाँ कोई केवली था और न अवधि ज्ञानी आदि। तब यह बात किसने बतलाई कि आचार्य मरकर अमुक स्वर्गके अमुक विमानमें देव हुए हैं। इसलिये देवकी बातका कुछ मूल्य नहीं है। फिर भी इस घटनाका कुछ मूलरूप तो होना ही चाहिये। जिसका परिवर्तित रूप इस प्रकार बना और एक निह्नवकी संख्या बढ़ी। सम्भव है उसका निम्नलिखित रूप हो:—

कभी कभी ऐसा होता है कि कोई आदमी मरनेके पहले मृतवत् मूर्च्छित हो जाता है। उसकी नाड़ी और हृदयकी गति भी रुक जाती है। लोग समझते हैं कि वह मर गया किन्तु वह मूर्च्छित होता है। थोड़ी देर बाद वह होशमें आता है तो लोग समझते हैं कि मरा हुआ आदमी जीवित हो गया। परन्तु यह होश थोड़ी देरके लिये आया करता है; अन्तमें वह बिलकुल मर जाता है। ऐसी घटनाएँ अनेक बार हुआ करती हैं। एक बार इन्दौरमें मेरे सामने एक ऐसी ही घटना हुई थी। एक चूड़ीवाला चूड़ी पहिनाते पहिनाते मर गया (बेहोश हो गया)। उसके घरवाले उस मुर्देको ले गये, पुलिसकी जाँच भी हो गई; परन्तु पीछेसे वह जी गया (होशमें आ गया)। उसने सबसे बातचीत की और फिर मर गया। जिन लोगोंके यहाँ मुर्देको पेटीमें बन्द करके गाड़ देनेकी प्रथा है उनके यहाँ कभी कभी जीवित समाधि हो जाती है। वे पेटीमें जी उठते हैं, और निकलनेके

लिये तड़फड़ाते हैं; अन्तमें मर जाते* हैं। बेहोशीमें मृतकताका भ्रम हो जानेसे ऐसी घटनाएँ सब जगह हुआ करती हैं। साधारण श्रेणीके लोग इसे भूतावेश मान लेते हैं। मध्यकालमें जैन मुनियों तकको यह डर रहता था कि मृतक शरीरमें कहीं भूत न घुस जायँ। 'भगवती आराधना' में* आराधक मुनिके मृतक संस्कारके वर्णनमें लिखा है "मुनिके मृतक शरीरके पैरके अँगूठेको बाँधना चाहिये और छेदना चाहिये। यदि ऐसा न किया जायगा तो कोई देवता उस मुर्दे शरीरमें प्रवेश कर जायगा, इससे मुर्दा उठकर क्रीड़ा करेगा और बाधा देगा"।

इससे यह बात मालूम होती है कि यह अन्धविश्वास बड़े बड़े मुनियोंके हृदयमें भी प्रवेश कर गया था। इसी अन्धविश्वासने आषाढ़भूतिके शिष्योंको धोखा दिया। आचार्य आषाढ़भूति जब उपर्युक्त कथनानुसार मृतककी तरह बेहोश हो गये तो उनके शिष्योंने उन्हें मुर्दा ही समझा। पीछे जब वे होशमें आये तो शिष्योंने समझा कि ये बेहोश ही हुए थे; परन्तु कुछ समय बाद वे फिर मर गये इससे शिष्योंको आश्चर्य हुआ। शिष्योंने निश्चय किया कि आचार्य तो पहिले ही मरकर देव हुए थे परन्तु उन्होंने मृतक शरीरमें प्रवेश किया था और फिर वह देव मृतक शरीरको छोड़कर चला

---

* बहुत दिन हुए मैंने 'सरस्वती' में 'जीवित समाधि' शीर्षक एक लेख पढ़ा था जिसमें ऐसी बहुत-सी घटनाओंका उल्लेख था।

* गीदत्था कदकरणा महाबलपरक्कमा महासत्ता। बंधंति य छिन्दति य करचरणंगुड्डयपदेसे। १९७३। जदि वा एस ण कीरिज्ज विही तो तत्थ देवदा कोई। आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधिज्ज। १९७४।—भगवती आराधना।

गया है। इसलिये अब इसका पता लगाना मुश्किल है कि अमुक मुनि, देव है या मुनि है। जिन मुनियोंको हम देखते हैं सम्भव है वे मरचुके हों और देव होकर फिर अपने शरीरमें प्रवेश करके काम कर रहे हों। इस प्रकार आषाढ़भूतिके पुनरुज्जीवन और देवागमनके अन्धविश्वासने इस प्रकारके अव्यक्तवादको जन्म दिया। इस विचारके कारण संघने इनको अलग कर दिया। गनीमत हुई कि इन लोगोंकी बुद्धि ठिकाने आ गई इसलिये एक नया सम्प्रदाय खड़ा न हो पाया।

अश्वमित्र—वीर निर्वाणके २२० वर्ष बाद अश्वमित्रने, जो कि महागिरि सूरिके प्रशिष्य और कौण्डिन्यके शिष्य थे, यह वाद निकाला कि 'जीव तो प्रति-समय नष्ट होता है तब पुण्य-पापका फल कौन भोगेगा'। अन्य मुनियोंने उनके इस क्षणिकवादका खण्डन किया परन्तु जब ये न समझे तब इनका बहिष्कार कर दिया। ये कुछ साथियोंके साथ मिथिलासे निकलकर काम्पिल्यपुर अर्थात् राजगृह आगये। वहाँ कुछ श्रावकोंने इन्हें मारनेका विचार किया। इनने कहा "जैन श्रावक होकर तुम जैन मुनियोंको मारते हो"! श्रावकोंने कहा कि 'आपके सिद्धान्तके अनुसार तो जैनमुनि नष्ट हो गये'। तब इनकी समझमें अपनी भूल आई। और ये पहलेके समान मुनि हो गये।

गंग—वीर निर्वाणके २२८ वर्ष बाद 'द्वैक्रियवाद'की उत्पत्ति हुई। महागिरिके प्रशिष्य और धनगुप्तके शिष्य गङ्ग थे। एक बार ये नदी पार कर रहे थे। सिर बिलकुल खुला हुआ था इसलिये सूर्यके तापसे सिरमें बहुत गर्मी माळूम हो रही थी। इधर पैरोंमें नदीका

पानी बहुत ठंडा मालूम हो रहा था। तब इनके मनमें विचार आया कि शास्त्रमें तो एक साथ दो क्रियाओंके अनुभवका विरोध लिखा है और मैं तो एक ही साथ शीतलता और उष्णताका संवेदन कर रहा हूँ। इसलिये आगमका कथन अनुभव-विरुद्ध है।

गुरुने समझाया—मन बहुत तीव्र गतिवाला है, शीत और उष्णका उपयोग क्रमसे होनेपर भी तुम्हें एक साथ मालूम होता है। जीवका उपयोग एक समयमें एक ही तरफ लग सकता है। बहु बहुविध आदि पदार्थोंको ग्रहण करते समय अनेक पदार्थोंका ग्रहण तो होता है परन्तु उपयोग एक ही रहता है। इसी प्रकार शीत और उष्ण दोनोंका ग्रहण एक साथ तो हो सकेगा परन्तु उन दोनोंके दो उपयोग न हो सकेंगे। अनेकको ग्रहण करनेपर भी एक उपयोग होनेका कारण यह है कि उस समय वे अनेक पदार्थ सामान्य रूपसे एक बनकर विषय बनते हैं। जिस प्रकार सेनाके ज्ञानमें अगर एक ही उपयोग हो तो सेनाके ज्ञानमें ये घोड़े, ये हाथी ये पदाति, इस प्रकारका जुदा जुदा विशेषरूप ज्ञान नहीं होता। विशेषरूप ज्ञानके लिये अनेक उपयोगोंकी आवश्यकता है। परन्तु ये अनेक उपयोग एक साथ नहीं हो सकते। एक उपयोग एक समयमें अनेक पदार्थोंको जानेगा तो सामान्य रूपमें ही जानेगा विशेषरूपमें नहीं। इसीलिये एक ही समयमें जब शीतलता और उष्णताका ज्ञान होगा तब वह शीत और उष्ण इन विशेषताओंको छोड़कर होगा। उस समय सामान्य वेदनाका अनुभव होगा; न कि शीतता और उष्णताका। सामान्य और विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान एक साथ कभी नहीं हो सकता। सामान्य ज्ञान पहिले होता है

और विशेष ज्ञान पीछे होता है। सामान्यका ज्ञान एक ही वस्तुका ज्ञान है किन्तु सामान्य अनेकाधार होनेसे अनेकका ग्रहण होनेपर सामान्य ग्रहण होता है परन्तु विशेषका स्वरूप ऐसा नहीं है। वह अनेकाधार नहीं है इसलिये एक समयमें अनेक विशेषोंका ग्रहण नहीं[1] हो सकता।

१—तरतमजोगेणायं गुरुणाभिहिओ तुमं न लक्खेसि।
समयाइसुहुमयाओ मणोऽतिचल सुहुमयाओ य ॥२४२८॥
बहुबहुविहाइगहणे नणु उवओगबहुया सुएऽभिहिआ।
तमणेगग्गहणं चिय उवओगाणेगया नत्थि ॥२४३८॥
समयमणेगग्गहणं जइ सीओसिणदुगम्मि को दोसो?
केण व भणियं दोसो उवओगदुगे वियारोऽयं ॥२४३९॥
समयमणेग्गहणे एगाणेगोवओगभेओ को।
सामण्णमेगजोगो खंधावारोवओगोव्व ॥२४४०॥
खंधारोऽयं सामण्णमेत्तमेगोवओगया समयं।
पइवत्थुविभागो पुण जो सोऽणेगोवओगत्ति ॥२४४१॥
तेच्चिय न संति समयं सामण्णाणेगगहणमविरुद्धं।
एगमणेग पि तयं तम्हा सामण्णभावेणं ॥२४४२॥
उसिणेयं सीयेयं न विभागो नोवओगदुगमित्थं।
होज्जसमं दुगगहणं सामण्णं वेयणा मेत्ति ॥२४४३॥
जं सामण्णविसेसा विलक्खणा तन्निबंधणं जं च।
नाणं जं च विभिन्ना सुदूरओवग्गहाऽवाया ॥२४४४॥
जं च विसेसन्नाणं सामन्नाणपुव्वयमवस्सं।
तो सामण्णविसेसन्नाणाइं नेकसमयम्मि ॥२४४५॥
होज्ज न विलक्खणाइं समयं सामण्णभेयनाणाइं।
बहुयाण को विरोहो समयम्मि विसेसनाणाणं ॥२४४६॥
लक्खणभेयाउच्चिय सामण्णं च जमणेकविसयं ति।
तमघेत्तुं न विसेसन्नाणाइं तेण समयम्मि ॥२४४७॥
तो सामन्नग्गहणाणंतरमीहियमवेइ तब्भेयं।
इय सामन्नविसेसावेक्खो जावंतिमो भेओ ॥२४४८॥

—विशेषावश्यक

इतनेपर भी गंग न माने। तब शास्त्रमें लिखा है कि मणिनागने आकर धमकाया कि अगर तू न मानेगा तो मैं मार डालूँगा। इसलिये गंगने अपनी भूल स्वीकार कर ली।

भूल स्वीकार करानेके इस ढंगकी प्रशंसा नहीं की जा सकती परन्तु इसमें संदेह नहीं कि गंगके पक्षमें विचार-गाम्भीर्य नहीं है। गंगके गुरुने जैनदर्शनके समर्थनके लिये जो युक्तियाँ दी हैं वे वास्तवमें अकाट्य हैं। परन्तु यहा एक आश्चर्य अवश्य होता है कि जब दो विशेषोंका ज्ञान एक साथ नहीं हो सकता; उसके लिये क्रमसे दो उपयोगोंकी आवश्यकता है। तब जैनलोग केवलज्ञानकी वर्तमान परिभाषा क्यों मानते हैं? जब दो विशेषताओंका भी युगपत् ज्ञान नहीं होता तब क्या यह सम्भव है कि सब द्रव्योंकी अनन्तकालकी अनंत विशेषताओंका कोई एक साथ प्रत्यक्ष कर ले? वास्तवमें केवलज्ञानकी वर्तमान मान्यता जैनदर्शनके ही विरुद्ध जाती है। इसमें अन्य अनेक बाधाएँ तो हैं ही जो ज्ञानके प्रकरणमें लिखी जाँयगीं।

गंगकी शंकाका समाधान तो बहुत अच्छा हुआ परन्तु उसीके अनुसार केवलज्ञानकी परिभाषा सुधार लेनेकी आवश्यकता है।

रोहगुप्त—वीर निर्वाणके ५४४ वर्ष बाद रोहगुप्तने यह मतभेद प्रगट किया कि जीव और अजीवके अतिरिक्त नोजीवराशि और है। वृक्ष आदि नोजीव हैं। यह विचार युक्तिके आगे टिक नहीं सकता; क्योंकि इससे आत्मा मूलद्रव्य न रहेगा। इस प्रकार तीनके बदले एक ही राशि रह जायगी।

गोष्ठामाहिल—वीर निर्वाणके ५८४ वर्ष बाद गोष्ठामाहिलने

दो बातोंमें मतभेद प्रगट किया। पहिला तो यह कि आत्मा कर्मके साथ बँधता नहीं है किन्तु स्पर्श-मात्र करता है। संयोगमें दोनों चीजें जुदीं जुदीं रहती हैं जब कि बंधमें एक हो जाती हैं। संयोग तो मूर्तिक-अमूर्तिकका हो सकता है परन्तु बंधके लिये स्निग्धता आदिकी आवश्यकता होती है। इसलिये यह संदेह होना स्वाभाविक है कि अमूर्तिक जीवके साथ मूर्तिक कर्मपुद्गलोंका बंध कैसे हो सकता है? यद्यपि बंधकी बात समझमें नहीं आती परन्तु संयोग मान लेनेपर भी समस्या हल नहीं होती। क्योंकि संयोग मान लेनेपर कर्म आत्माका अनुसरण न करेगा। इसलिये परलोक आदिकी व्यवस्था ही बिगड़ जायगी। अथवा संयोगके सामने भी बंध सरीखा प्रश्न खड़ा हो जायगा। सच बात तो यह है कि आत्माके स्वरूपकी समस्याही बड़ी जटिल है इसलिये संयोगका और बंधका जटिल प्रश्न सामने खड़ा है। हाँ, यह निश्चित है कि आत्मा और कर्मको जुदा जुदा द्रव्य मान लेनेपर जब उनका सम्बन्ध मानना है तब यह कार्य संयोगसे पूरा नहीं हो सकता। इस जगह बंध मानना ही उचित है।

गोष्ठामाहिलकी दूसरी आपत्ति यह थी कि व्रत, नियम आदि जीवनभरके लिये नहीं लेना चाहिये किन्तु सदाके लिये लेना चाहिये। क्योंकि जीवनभरके लिये व्रत लेनेका अर्थ यह है कि जीवनके बाद हम उनका पालन नहीं करना चाहते। मरनेके बाद विषयभोग भोगनेकी हमें लालसा है।

परन्तु जैनियोंका कहना यह है कि मरनेके बाद व्रतका पालन करना न करना हमारे वशकी बात नहीं है। देवगति आदिमें चले

जानेपर संयमका पालन नहीं हो सकता तथा मरनेके बाद कहीं भी जाओ प्रारम्भमें तो जीव असंयमी ही रहता है। ऐसी हालतमें सदाके लिए व्रत लेनेका कोई अर्थ नहीं है। इस स्थानपर भी गोष्ठामाहिलकी विचारधारा अव्यावहारिक तथा शब्दाडम्बर-मात्र है।

द्राविड़संघ—ऊपर जो मतभेद बतलाये गये हैं वे मतभेद श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हुए हैं; यद्यपि मतभेदोंके विषय साम्प्रदायिक नहीं हैं। द्राविड आदि संघ दिगम्बर सम्प्रदायमें हुए हैं। दर्शनसारके अनुसार द्राविड़संघके संस्थापक वज्रनन्दि कहे जाते हैं, और इनका समय वि० सं० ५२६ है। देवसेनने इस संघके मतका परिचय निम्नलिखित रूपमें दिया है:—

'बीजमें जीव नहीं है, मुनियोंको खड़े होकर भोजन करनेकी आवश्यकता नहीं है, कोई वस्तु प्रासुक नहीं है, वह सावद्य नहीं मानता, गृह कल्पित नहीं मानता। कछार, खेत, वसतिका वाणिज्य कराके मुनियोंका जीवन-निर्वाह करना बुरा नहीं है और न ठंडे पानीसे स्नान करना बुरा है'।

ये सब मतभेद विचारणीय हैं। बीजमें जीव माननेकी बात जँचती नहीं है। इसका कोई विशेष कारण भी नहीं मालूम होता। सिर्फ एक साधारण कारण है कि बीजसे सजीव शरीर पैदा होता है इसलिये उसे भी सजीव मानना चाहिये। परन्तु यह कारण पर्याप्त नहीं है, क्योंकि सचित्त योनिके समान जैनदर्शनमें अचित्त योनि भी मानी गई है। राजवार्तिककारने 'गर्भजा मिश्रयोनयः' इस वार्तिकके भाष्यमें यहाँतक लिखा है कि 'मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्तं' माताके उदरमें शुक्र और शोणित अचित्त हैं। अगर इस अचित्त

रज-वीर्यसे मनुष्य सरीखा प्राणी पैदा हो सकता है तो अचित्त बीजसे वृक्षादि क्यों नहीं पैदा हो सकते ? ऐसा नियम बनाना असम्भव है कि अचित्त वस्तु कभी सचित्त नहीं बन सकती। इस तरह बीज सचित्त सिद्ध नहीं होता। हाँ, मुनियोंको बीजभक्षण नहीं करना चाहिये इस नियमका कारण मालूम होता है। जैन मुनियोंके उदर-निर्वाहके नियम इतने अच्छे हैं कि उससे समाजको कुछ क्षति नहीं उठाना पड़ती या कमसे कम क्षति उठाना पड़ती है। बीज अन्य अनेक फलोंको पैदा करनेवाला है। एक बीजके भक्षणसे अन्य अनेक फलोंकी उत्पत्ति रुकती है, इस तरह बीज-भक्षणमें एक तरहका 'अल्पफल बहुविघात' है अर्थात् पेट तो भरता है थोड़ा और वस्तुका विघात होता है बहुत। मुनियोंको चाहिये कि वे समाजकी इस तरह हानि न करें। इस उद्देशसे बीजभक्षणका निषेध किया गया होगा। *

खड़े आहार लेनेकी बात कुछ महत्वपूर्ण नहीं है। हाँ दिगम्बर मुनियोंको इस प्रथाकी आवश्यकता थी। दिगम्बर मुनि पात्रमें भोजन नहीं लेते इसलिये यदि बैठ करके हाथमें भोजन लिया जाय तो उच्छिष्ट अन्न पैरों या जंघाओंपर गिरेगा इस लिये अङ्गप्रक्षालन करना पड़ेगा। इस अंगप्रक्षालनमें लोग स्नानका आनंद न लेने लगें इस-लिये खड़े आहार लेनेका विधान बनाया गया। परन्तु यह कोई इतना महत्त्वपूर्ण कारण नहीं है कि द्राविड़संघकी निंदा की जाय।

---

* बीएसु णत्थि जीवो उब्भसणं णत्थि फासुगं णत्थि। सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिहकप्पियं अट्ठं ॥ कच्छं खेत्तं वसहिं वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो। ण्हंतो सीयलनीरे पावं पउरं स संजेदि ॥ २७ ॥

सचित्ताचित्तकी चर्चामें भी महत्त्व नहीं है। हाँ, मुनियोंकी आजीविकाकी बात अवश्य चिंतनीय है। यह बात अनुचित भले ही हो परन्तु उस समयके द्रव्यक्षेत्रकालभावको जाने विना हम उसकी अनुचितताका माप नहीं कर सकते। आजकल भी मुनियोंको चर्खा कातना चाहिए तथा ऐसा ही निरवद्य व्यापार करना चाहिये इस तरहकी आवाज़ उठ रही है और यह अनुचित नहीं है। चरणानुयोगके नियम सदाके लिये एकसे नहीं बन सकते।

यापनीय (गोप्य) संघ—यह संघ दिगम्बरोंके आचारका और श्वेताम्बरोंके सिद्धान्तका माननेवाला था। इस संघके मुनि दिगम्बर मुनियोंके समान ही रहते थे किन्तु स्त्री-मुक्ति और केवलीका कवलाहार मानते थे। यह एक मध्यस्थ संघ माल्म होता है जो दिगम्बर-श्वेताम्बरोंकी अच्छी अच्छी बातें स्वीकार करता था।

काष्ठा और माथुर संघ—ये भी दिगम्बर संघ हैं। दिगम्बरोंके मूलसंघसे इनमें भेद यह है कि मूलसंघमें मुनिके लिये मयूरपिच्छका विधान है जब कि यह संघ बालोंकी पिच्छी रखता है। माथुर-संघ काष्ठासंघकी शाखा है। इस संघमें किसी भी तरहकी पिच्छी रखनेका विधान नहीं है। यह समयका दुर्भाग्य है कि जो धर्म अनेकान्त सरीखे समन्वयवादकी भित्तिपर खड़ा था वह इन छोटी छोटी बातोंका भी समन्वय न कर सका। काष्ठासंघको गोपुच्छक और माथुर संघको निःपिच्छक संघ भी कहते हैं। काष्ठासंघकी उत्पत्तिका समय दर्शनसारके अनुसार वि० सं० ७५३ है और माथुर संघका ९६३।

मूर्त्तिपूजक-अमूर्त्तिपूजक—जैनधर्ममें मूर्तिपूजा कबसे चली इसका इतिहास लुप्त है। फिर भी यह अर्वाचीन भी नहीं है।

तीर्थंकरकी मृत्युके बाद ही वह चल पड़ी है। मूर्ति और मूर्तिगृहका जो चैत्य और चैत्यालय नाम हैं वह इस बातका सूचक है कि मूर्ति चितापरका स्मारक है।

मूर्तिपूजाका विधान म० महावीरने नहीं किया हो इसलिये मूर्तिपूजा अनुचित नहीं कही जा सकती। कोई महात्मा अपने स्वागतकी बात नहीं कहता तो उसका स्वागत करना पाप नहीं कहा जा सकता। सच पूछो तो यह सम्प्रदायका प्रश्न ही नहीं है, किन्तु योग्यताका प्रश्न है। जिनका आत्मा विकसित है उन्हें मूर्ति-पूजाकी ज़रूरत नहीं है, और जिनका आत्मा विकसित नहीं है, उन्हें मूर्तिपूजा सहारा दे सकती है।

अपने अपने पक्षको खींचनेके लिये दोनों सम्प्रदाय मिथ्या-युक्तिका सहारा लेते हैं। मूर्तिपूजक लोग उसे जैनधर्मके प्रारम्भसे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं और मूर्तिविरोधी लोग 'मूर्तिपूजा अरहंतकी कही हुई नहीं है' इसलिये अनुचित बताते हैं। मूर्तिपूजकोंको समझना चाहिये कि साधारण लोगोंको मूर्ति आवश्यक होनेसे वह उपादेय अवश्य है किन्तु इसीलिये वह जिनोक्त नहीं कही जा सकती और मूर्तिविरोधियोंको समझना चाहिये कि तिपूजा जिनोक्त नहीं है इसीलिये वह अनुचित नहीं कही जा सकती। इन दोनों विचारोंपर कक्षाएँ बनाना चाहिये न कि सम्प्रदाय।

मूर्तिपूजाका विरोध मुसलमानोंके आक्रमणोंका फल है। उस समय मूर्तिको हटा देनेसे धर्मायतन सुरक्षित रह सकता था और देवका अपमान नहीं होता था तथा अप्रभावनासे भी पिण्ड छूटता था। सिक्ख सम्प्रदायमें इसीलिये मूर्तिपूजाको स्थान न मिला। वहाँ

सचित्ताचित्तकी चर्चामें भी महत्त्व नहीं है। हाँ, मुनियोंकी आजीविकाकी बात अवश्य चिंतनीय है। यह बात अनुचित भले ही हो परन्तु उस समयके द्रव्यक्षेत्रकालभावको जाने विना हम उसकी अनुचितताका माप नहीं कर सकते। आजकल भी मुनियोंको चर्खा कातना चाहिए तथा ऐसा ही निरवद्य व्यापार करना चाहिये इस तरहकी आवाज़ उठ रही है और यह अनुचित नहीं है। चरणानुयोगके नियम सदाके लिये एकसे नहीं बन सकते।

यापनीय (गोप्य) संघ—यह संघ दिगम्बरोंके आचारका और श्वेताम्बरोंके सिद्धान्तका माननेवाला था। इस संघके मुनि दिगम्बर मुनियोंके समान ही रहते थे किन्तु स्त्री-मुक्ति और केवलीका कवलाहार मानते थे। यह एक मध्यस्थ संघ माळूम होता है जो दिगम्बर-श्वेताम्बरोंकी अच्छी अच्छी बातें स्वीकार करता था।

काष्ठा और माथुर संघ—ये भी दिगम्बर संघ हैं। दिगम्बरोंके मूलसंघसे इनमें भेद यह है कि मूलसंघमें मुनिके लिये मयूरपिच्छका विधान है जब कि यह संघ बालोंकी पिच्छी रखता है। माथुर-संघ काष्ठासंघकी शाखा है। इस संघमें किसी भी तरहकी पिच्छी रखनेका विधान नहीं है। यह समयका दुर्भाग्य है कि जो धर्म अनेकान्त सरीखे समन्वयवादकी भित्तिपर खड़ा था वह इन छोटी छोटी बातोंका भी समन्वय न कर सका। काष्ठासंघको गोपुच्छक और माथुर संघको निःपिच्छक संघ भी कहते हैं। काष्ठासंघकी उत्पत्तिका समय दर्शनसारके अनुसार वि० सं० ७५३ है और माथुर संघका ९६३।

मूर्त्तिपूजक-अमूर्त्तिपूजक—जैनधर्ममें मूर्तिपूजा कबसे चली इसका इतिहास लुप्त है। फिर भी यह अर्वाचीन भी नहीं है।

तीर्थंकरकी मृत्युके बाद ही वह चल पड़ी है। मूर्ति और मूर्तिगृहका जो चैत्य और चैत्यालय नाम है वह इस बातका सूचक है कि मूर्ति चितापरका स्मारक है।

मूर्तिपूजाका विधान म० महावीरने नहीं किया हो इसलिये मूर्तिपूजा अनुचित नहीं कही जा सकती। कोई महात्मा अपने स्वागतकी बात नहीं कहता तो उसका स्वागत करना पाप नहीं कहा जा सकता। सच पूछो तो यह सम्प्रदायका प्रश्न ही नहीं है, किन्तु योग्यताका प्रश्न है। जिनका आत्मा विकसित है उन्हें मूर्ति-पूजाकी ज़रूरत नहीं है, और जिनका आत्मा विकसित नहीं है, उन्हें मूर्तिपूजा सहारा दे सकती है।

अपने अपने पक्षको खींचनेके लिये दोनों सम्प्रदाय मिथ्या-युक्तिका सहारा लेते हैं। मूर्तिपूजक लोग उसे जैनधर्मके प्रारम्भसे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं और मूर्तिविरोधी लोग ' मूर्तिपूजा अरहंतकी कही हुई नहीं है ' इसलिये अनुचित बताते हैं। मूर्तिपूजकोंको समझना चाहिये कि साधारण लोगोंको मूर्ति आवश्यक होनेसे वह उपादेय अवश्य है किन्तु इसीलिये वह जिनोक्त नहीं कही जा सकती और मूर्तिविरोधियोंको समझना चाहिये कि तिपूजा जिनोक्त नहीं है इसीलिये वह अनुचित नहीं कही जा सकती। इन दोनों विचारोंपर कक्षाएँ बनाना चाहिये न कि सम्प्रदाय।

मूर्तिपूजाका विरोध मुसलमानोंके आक्रमणोंका फल है। उस समय मूर्तिको हटा देनेसे धर्मायतन सुरक्षित रह सकता था और देवका अपमान नहीं होता था तथा अप्रभावनासे भी पिण्ड छूटता था। सिक्ख सम्प्रदायमें इसीलिये मूर्तिपूजाको स्थान न मिला। वहाँ

ग्रंथ-पूजाका प्रचार हुआ। जैनियोंके दोनों (श्वेताम्बर-दिगम्बर) सम्प्रदायोंमें मूर्तिविरोधी उपसम्प्रदाय खड़ा हुआ। श्वेताम्बरोंमें स्थानकवासी सम्प्रदाय हुआ और दिगम्बरोंमें तारनपंथ। स्थानकवासी सम्प्रदायने अच्छी उन्नति की। आज यह सम्प्रदाय जनसंख्या तथा धन-बल आदिमें मूर्तिपूजक श्वेताम्बरोंके बराबर है। दिगम्बर सम्प्रदायका तारन पन्थ इतनी उन्नति न कर पाया। इस सम्प्रदायने मूर्तिको हटाकर मूर्तिके स्थानपर शास्त्र बिठलाया। एक तरहकी मूर्तिपूजा हट गई और दूसरी तरहकी मूर्तिपूजा चल पड़ी या रह गइ।

तेरहपन्थ-बीसपन्थ—दिगम्बरोंमें और भी एक तरहसे सम्प्रदाय-भेद हुआ। धर्म-प्रभावना और धर्मरक्षाके लिये जिन जिन कार्योंकी आवश्यकता थी वे सब कार्य वनवासी दिगम्बर साधु नहीं कर सकते थे। इसकी पूर्तिके लिये शाही ठाटबाटवाले भट्टारक गुरुओंकी उत्पत्ति हुई। जो दिगम्बर सम्प्रदाय एक लँगोटी रखनेसे भी गुरुत्वका नाश समझता था उसी दिगम्बर सम्प्रदायने राजसी ठाटसे रहनेवाले भट्टारकोंको भी गुरु माना। बीसपन्थ सम्प्रदायने भट्टारकोंको गुरु माना। तेरहपन्थ सम्प्रदायने नहीं माना—यही इन दोनोंका भेद है।

स्थानकवासी सम्प्रदायमें भीखमजीने जिस तेरहपन्थकी स्थापना की थी उसमें और दिगम्बरोंके तेरहपन्थमें कोई सम्बन्ध नहीं है। भट्टारकोंके समान मूर्तिपूजक श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी यतियोंकी सृष्टि हुई। इस प्रकार बहुतसे गण गच्छ आदि जैन धर्ममें पैदा हुए।

उपर्युक्त सभी सम्प्रदाय अपनेको महावीरका पूर्ण अनुयायी मानते हैं, परन्तु एक निःपक्ष पाठक तो इनमेंसे किसीको भी महा-

वीरका पूर्ण अनुयायी न मानेगा। हाँ, इन सबके वक्तव्यमें सत्यका चुनाव करेगा।

इस अध्यायमें ऐतिहासिक दृष्टिसे संक्षिप्त विवेचन किया गया है क्योंकि यह अध्याय जैन इतिहासका परिचय करानेके लिये नहीं लिखा गया है किन्तु ऐतिहासिक निरीक्षणसे जैनधर्मको समझनेके लिये लिखा गया है।

जो लोग यह समझते हैं कि म० महावीरके समयमें जो जैनधर्म था वह अभी भी है, उसमें परिवर्तन नहीं हुआ है, न उसमें सुधारकी जरूरत है, उन्हें इस ऐतिहासिक विवेचनसे मालूम हो जायगा कि प्राचीनकालसे ही यहाँ सुधारकी आवाज उठती आ रही है और जैनधर्मको इतनी ठोकरें खानी पडी हैं कि वह विकृत हुए विना नहीं रह सकता था। इसलिये साम्प्रदायिक व्यामोहको तिलाञ्जलि दिये विना हम जैनधर्मके वास्तविक रूपको नहीं समझ सकते।

लोग अपने ही सम्प्रदायको मूल सम्प्रदाय मान बैठते हैं उन्हें इस गलतीका त्याग करना चाहिये। यह भी न सोचना चाहिये कि जो सम्प्रदाय नष्ट हो गये हैं वे मिथ्या थे और हम सच्चे हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि अधिक सत्य सम्प्रदाय नष्ट हो जाता है और अल्पसत्य सम्प्रदाय जीवित रह जाता है। उदाहरणार्थ यापनीय सम्प्रदायका नाम लिया जा सकता है। वर्तमानके दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायोंकी अपेक्षा यापनीय सम्प्रदायमें सत्यांश कुछ अधिक था। दिगम्बर सम्प्रदायने महावीरके चारित्रपर ज़ोर दिया, श्वेताम्बरोंने महावीरके शास्त्र (ज्ञान) पर जोर दिया जब कि यापनीयने दोनोंपर ज़ोर दिया। फिर भी यापनीय सम्प्रदाय नष्ट हो गया। परन्तु इसलिये

यापनीय सम्प्रदाय वर्तमानके दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदायोंसे बुरा नहीं कहा जा सकता।

हर-एक सत्यान्वेषी मनुष्यको 'जो मेरा वह सत्य' इस वासनाका त्याग करके 'जो सत्य वह मेरा' यह भावना पैदा करना चाहिये। सत्य अगर लुप्त है तो उसे खोजना चाहिये। उसके बदलेमें सुलभ असत्यकी पूजा न करना चाहिये। बहुतसे भाई सुलभ असत्यमें ही सन्तुष्ट हैं इसलिये वे सत्यकी खोजके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहते। इतना ही नहीं किन्तु अगर कोई ऐसा प्रयत्न करे तो उसे बुरा समझते हैं। इस ऐतिहासिक विवेचनसे उन्हें मालूम होगा कि सत्यकी खोजके लिये बहुत गुंजायश है, उसकी बहुत आवश्यकता है और पिछले ढाई हजार वर्षमें इसके लिये अनेकवार असफल और अपूर्ण प्रयत्न भी हुआ है। उसे पूर्ण और सफल बनाना अपना कर्त्तव्य है।

तीसरा अध्याय

कल्याणपथ अर्थात् मोक्षमार्ग

प्रथम अध्यायमें आत्मकल्याण या सुखके विषयमें कहा जा चुका है। यहाँ यह बतलाना है कि उस सुखमार्ग—मोक्षमार्ग—कल्याणपथके कितने अवयव हैं। स्मरण रखना चाहिये कि यहाँ मार्गके भेद नहीं किन्तु मार्गके अंश या अवयवोंका कथन करना है। किसी भी कार्यमें सफलता प्राप्त करनेके लिये तीन बातोंकी आवश्यकता होती है। श्रद्धा, ज्ञान और क्रिया। इसीको जैन शास्त्रोंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र कहा है। इन तीनोंका सामान्य विवेचन करके प्रथम अंश-सम्यग्दर्शनका विशेष विवेचन किया जायगा।

श्रद्धाका अर्थ विवेकपूर्वक दृढ़ विश्वास है। जानना ज्ञान है और तदनुसार आचरण करना चारित्र है। प्रत्येक विपत्तिसे छूटनेके लिये इन तीनोंकी आवश्यकता है। जिस प्रकार कोई बीमार आदमी बीमारीसे छूटना चाहता है तो उसे इस बातका दृढ़ विश्वास अवश्य होना चाहिये कि मुझे बीमारी है और बीमारीसे छूटा जा सकता है। इसके बाद निदान और चिकित्साका ज्ञान होना चाहिये। इसके बाद आचरण होना चाहिये। तब बीमारी दूर होगी। इन तीनोंमेंसे एककी भी कमी होगी तो वह नीरोग न हो पायगा। सुखके लिये भी इन तीनों बातोंकी आवश्यकता होती है।

सम्यग्दर्शनका स्वरूप

प्रश्न—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—ज्ञानसे दर्शनको अलग बतलाना अशक्य है। इसलिये जैन लेखकोंने सम्यक्त्वको केवलज्ञानगोचर[1] और निर्विकल्प[2] कह दिया है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति भी एक साथ मानी जाती है। इन दोनों कारणोंसे किसी किसीने सम्यग्दर्शनको सम्यग्-ज्ञानमें शामिल करके 'ज्ञान और क्रियासे[3] मोक्ष होता है' इतना ही कहा है। इसलिये सम्यग्दर्शनको किसी एक शब्दसे कह देना अशक्य है। हाँ अनेक तरहसे उसके चिह्नोंका या कार्योंका वर्णन करके उसकी तरफ़ इशारा किया जा सकता है।

जैनधर्मका कहना है कि किसी प्राणीका ज्ञान कितना ही विशाल और सत्य क्यों न हो परन्तु अगर उसको सम्यग्दर्शन प्राप्त न हो तो उसके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान नहीं कह सकते और अगर उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाय तो उसका ज्ञान असत्य और अल्प भी हो तो भी वह सम्यग्ज्ञान कहलायगा। इससे हम सम्यग्दर्शनके स्वरूपका निर्णय कर सकते हैं कि सम्यग्दर्शन एक ऐसी दृष्टि है जो थोड़ेसे, और बाह्य दृष्टिसे असत्यरूप, ज्ञानका भी उपयोग वास्त-विक सत्यके या कल्याणपथके निर्णय करनेमें कराती है और ज्ञानको सार्थक कर देती है।

---

१ सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरं। —पञ्चाध्यायी।

२ अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित्सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम्। —पञ्चाध्यायी।

३ 'नाणकिरियाहिं मोक्खो' — विशेषावश्यक।

प्रश्न—ज्ञान सच्चा हो करके भी मिथ्याज्ञान कहलाता है और मिथ्या होकरके भी सम्यग्ज्ञान कहलाता है, इसका क्या मतलब है ?

उत्तर—सत्य-असत्य की दृष्टिसे हम ज्ञानको चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं (१) सत्यसत्य×, (२) असत्यसत्य, (३) सत्यासत्य, (४) असत्यासत्य।

सत्यसत्य—उस ज्ञानको कहते हैं जो वस्तुस्थितिकी दृष्टिसे भी सत्य है और उससे जो निष्कर्ष निकाला जाता है वह भी सत्य है। जैसे अमुक दूकानदार सत्यवादी है इसलिये उसकी दूकान खूब चलती है। यहाँ सत्यज्ञानसे जो निष्कर्ष निकाला गया है वह सत्य अर्थात् कल्याणकारी है इसलिये यह ज्ञान सत्यसत्य कहलाया।

असत्यसत्य—वस्तुस्थितिकी दृष्टिसे जो ज्ञान असत्य है किन्तु निष्कर्षकी दृष्टिसे सत्य है उसे असत्यसत्य कहते हैं। जैसे—'अगर तुम किसीके भी बिना जाने एकान्तमें पाप करना चाहते हो तो यह असम्भव है क्योंकि ईश्वर सब जगह देखता है; वह तुम्हारे पापका समुचित दंड देगा।' इस जगह वस्तुस्थिति असत्य है क्योंकि ऐसा कोई सर्वदर्शी ईश्वर ही नहीं है जो पाप-पुण्यका फल देता हो। किन्तु उसका निष्कर्ष सत्य अर्थात् कल्याण-कारी है इसलिये असत्य होकरके भी यह सत्य कहलाया।

सत्यासत्य—वस्तुस्थितिकी दृष्टिसे जो ज्ञान सत्य है किन्तु निष्कर्षकी दृष्टिसे असत्य है उसे सत्यासत्य कहते हैं। जैसे—'अमुक

× वचनयोगके प्रकरणमें जो सत्यादि शब्दोंकी परिभाषा की जाती है वह यहाँ ग्रहण नहीं की गई है। ये परिभाषाएँ एक तरहसे नयी हैं।

आदमी बहुत होशियार है उसने बड़े बड़े लोगोंको धोखा दिया है और इस तरह वह लाखों रुपये पैदा करके चैनसे जीवन बिता रहा है।' यह ज्ञान सत्य होकरके भी असत्यज्ञान है क्योंकि इसका निष्कर्ष असत्य है।

असत्यासत्य—जो वस्तुस्थितिकी दृष्टिसे असत्य हो और निष्कर्षकी दृष्टिसे भी असत्य हो उसे असत्यासत्य कहते हैं। जैसे—'अगर तुम अमुक देवीको पशुबलि न चढ़ाओगे तो वह तुम्हारे वंशका नाश कर देगी।' इसमें देवीका अस्तित्व और उसके द्वारा वंशनाश, ये दोनों बातें वस्तुस्थितिकी दृष्टिसे असत्य हैं और इसके द्वारा पशुबलिको जो उत्तेजना दी गई है वह निष्कर्षकी दृष्टिसे असत्य है। इस तरह यह दोनों तरहसे असत्य है।

इन चार भेदोंमेंसे प्रथम भेद लौकिक और धार्मिक दोनों दृष्टियोंसे सत्य है, और चतुर्थ भेद असत्य है। परन्तु दूसरे-तीसरे भेदोंमें लौकिक और धार्मिक दृष्टिसे अन्तर है। धार्मिक दृष्टिसे दूसरा भेद सत्य है और तीसरा असत्य है जब कि लौकिक दृष्टिसे दूसरा असत्य है और तीसरा सत्य है। जिस दृष्टिके सद्भावसे लौकिक मिथ्या ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता है और जिसके अभावसे लौकिक सम्यग्ज्ञान भी मिथ्याज्ञान हो जाता है वही दृष्टि सम्यग्दर्शन है। ज्ञानका काम वस्तुका ठीक ठीक जान लेना है किन्तु ज्ञानके द्वारा जानी हुई वस्तुमें जिस दृष्टिसे कर्तव्याकर्तव्य या हेयोपादेयका विवेक होता है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस तरह ज्ञान पहिले होता है, विवेक पीछे होता है। इससे इन दोनोंका (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानका) अन्तर मालूम हो सकता है।

प्रश्न—यदि ज्ञान पहिले होता है और हेयोपादेय-विवेक पीछे होता है तो यह क्यों कहा जाता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ ही पैदा होते हैं।

उत्तर—ज्ञान तो पहिले ही होता है परन्तु सम्यग्ज्ञान पहिले नहीं होता। हेयोपादेयका विवेक हो जानेपर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। जिस समय सम्यग्दर्शन या हेयोपादेयका विवेक हुआ उसी समय ज्ञान, सम्यग्ज्ञान हुआ इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ ही कहलाये।

श्रद्धा शब्दसे भी सम्यग्दर्शनका परिचय दिया जाता है। जो जो बुराइयाँ दुःखकी कारण हैं और उन बुराइयोंका कारण जो द्रव्य है उससे अपनेको अलग अनुभव करना, अपने शुद्ध रूपकी उपादेयता और पररूप या अपने अशुद्ध रूपकी हेयतापर पक्का विश्वास करना सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

बहुतसे लोग ऐसे हैं जिन्हें पदार्थज्ञान तो बहुत होता है परन्तु भीतरसे उसपर पक्की श्रद्धा नहीं होती—बनावटी होती है। फल यह होता है कि उस सत्यज्ञानका भी उस आत्मापर असर नहीं होता या होता है तो बुरा असर होता है।

जैसे किसीको जन्मसे यही सिखाया गया है कि प्रत्येक प्राणीके अच्छे-बुरे कामोंको परमात्मा देखता है और किये हुए पापका फल जरूर भोगना पड़ता है। इस बातका उसे पक्का ज्ञान होता है। दूसरी तरफ उसे यह भी सिखाया जाता है कि विष खानेसे आदमी मर जाता है, अग्निसे शरीर जलता है। इन दोनों प्रकारकी बातोंका उसे पूर्ण विश्वास है। बल्कि दूसरी प्रकारकी बातोंकी अपेक्षा उसे

पहिली प्रकारकी बातोंका निश्चय कुछ अधिक है। क्योंकि अगर उससे कोई कहे कि सीताजी अग्निकुंडमें कूद पड़ीं फिर भी न जलीं तो वह ऐसे अवसरपर अग्निकी दाहकताके विश्वासको शिथिल कर देगा और सीताजीके न जलनेकी बातको मान लेगा; परन्तु अगर कोई कहे कि वह आदमी इतना चालाक है कि उसके पापको ईश्वर भी नहीं जान पाता तो इस बातमें वह ईश्वरका अपमान समझेगा और भक्तिके आवेगमें लड़नेको भी तैयार हो जायगा। अगर उसे कोई प्रबल प्रमाणोंसे सिद्ध कर दे कि ऐसा ईश्वर हो नहीं सकता तो भी वह उन प्रमाणोंपर विश्वास न करेगा और ईश्वरपर दृढ़ विश्वास रक्खेगा। इससे माळूम होता है कि अग्निकी उष्णताकी अपेक्षा उसे ईश्वरपर अधिक विश्वास है। परन्तु क्या उसका यह विश्वास सच्चा है? वह इस डरसे कि मैं मर न जाऊँ विष नहीं खाता, इस डरसे कि मैं जल न जाऊँ अग्निका स्पर्श नहीं करता। इस तरह इन बातोंका तो वह पूरा खयाल रखता है; परन्तु 'मुझे हिंसा न करना चाहिये—ईश्वर देखता है—झूठ न बोलना चाहिये, चोरी न करना चाहिये, व्यभिचार न करना चाहिये, क्योंकि ईश्वर देखता है; वह दंड देगा,' इस बातका वह शतांश भी ध्यान नहीं रखता! यदि उसे ईश्वरका पक्का विश्वास होता तो जितना वह अग्नि और विषसे बचता है उससे भी अधिक पापसे बचता। इससे माळूम होता है कि ज्ञान हो जाना एक बात है और श्रद्धा हो जाना दूसरी बात। श्रद्धाके विना ज्ञानका कुछ मूल्य नहीं है। इसलिये हम श्रद्धाको सम्यग्दर्शन कह सकते हैं।

प्रश्न—श्रद्धा तो एक तरहका अन्ध-विश्वास है, जिसमें संकुचि-

त्ता है, विज्ञान और विवेकसे शत्रुता है। इसलिये श्रद्धाका सम्यग्दर्शनसे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि हो, तो सम्यग्दर्शन धर्मका अंग नहीं हो सकता। यदि ऐसे सम्यग्दर्शनको धर्मका अङ्ग माना जायगा तो धर्म एक तरहकी शराब हो जायगा। धर्ममें श्रद्धाको स्थान देनेसे धर्मके नामपर संसारमें घोर हिंसा हुई है, मनुष्य दलबन्दियोंमें फँसकर परस्पर शत्रु बन गया है तथा विज्ञान या नयी खोजोंका विरोधी बन गया है।

उत्तर—धर्मके नामपर जो अनर्थ हुए हैं वे धर्म, सम्यग्दर्शन या श्रद्धाने नहीं किये हैं, परन्तु वे सब अन्धविश्वासके फल हैं। अन्धविश्वास और श्रद्धामें ज़मीन-आसमानका अन्तर है। जिस प्रकार हीरा और कोयला एक ही तत्त्वके बने होनेपर भी दोनोंमें बड़ा अन्तर है, दूध और खूनमें एक ही तत्त्व होनेपर भी दोनोंमें बड़ा अन्तर है, उसी प्रकार एक-सी मनोवृत्तिपर अवलम्बित श्रद्धा और अन्धविश्वासमें भी अन्तर है। श्रद्धा और अन्धविश्वासमें इतनी ही समानता है कि दोनोंमें स्थिरता है परन्तु एककी स्थिरता दिव्य है जब कि दूसरेकी नारकीय है। श्रद्धामें विवेक है, अन्धविश्वासमें विवेकशून्यता है।

प्रश्न—श्रद्धाको अन्धविश्वास कहो चाहे न कहो परन्तु वह विश्वास तो है ही, और विश्वास तो अन्धा ही होता है। विवेकमें परीक्षा है, विश्वासमें परीक्षा कहाँ है? परीक्षा करनेसे तो विश्वास या श्रद्धाका नाश हो जाता है। श्रद्धा और विवेकका एक जगह रहना ही मुश्किल है, फिर श्रद्धाके लिये विवेककी अनिवार्य आवश्यकता तो दूर है।

उत्तर—श्रद्धाके लिये विवेककी आवश्यकता तो इसलिये है कि विवेकके विना श्रद्धा पैदा हो नहीं सकती। अथवा विवेकके विना जो कुछ पैदा होता है उसे श्रद्धा नहीं कहते। इस तरह श्रद्धा विवेककी पुत्री ठहरती है। पुत्री होनेके लिये पिता अनिवार्य है। अथवा हम विवेक और श्रद्धाको एक ही वस्तुके दो अवयव कह सकते हैं। पूर्वार्ध विवेक है और उत्तरार्ध श्रद्धा। अथवा मार्गको विवेक कह सकते हैं और प्राप्य स्थलको श्रद्धा कह सकते हैं। सच पूछा जाय तो श्रद्धाके लिये ही विवेककी आवश्यकता है। जिस प्रकार दूकानमें सम्पत्तिका उपार्जन किया जाता है किन्तु उसका रक्षण तथा भोग घरमें किया जाता है, उसी प्रकार विवेकके द्वारा हम वस्तुका निर्णय करते हैं परन्तु उस निर्णयके अनुसार बननेके लिये श्रद्धाकी आवश्यकता है। अगर हम श्रद्धाको छोड़कर विवेकसे ही काम लेते रहें तो हमारी अवस्था उस व्यापारीके सरीखी हो जायगी जो घरके बाहर रहकर नयी नयी सम्पत्ति तो पैदा करता है किन्तु कमाई हुई सम्पत्तिका भोग और रक्षण बिलकुल नहीं करता। अश्रद्धालु कहलानेवाले वैज्ञानिक लोग भी बड़े श्रद्धालु होते हैं। जिस वस्तुको वे अपने विवेकसे निश्चित कर लेते हैं उसीको आधार बनाकर वे बड़े बड़े नये आविष्कार करते हैं। अगर उन्हें अपने निर्णीत सिद्धान्तोंपर श्रद्धा न हो तो वे आगे न बढ़ सकें। किसी सद्विचारकी स्थिरता या दृढ़ताका नाम श्रद्धा है। सद्विचारका किसी विज्ञान या विवेकसे विरोध नहीं हो सकता।

प्रश्न—जो लोग जैनधर्मके ऊपर विश्वास रखते हैं और उसके

विरुद्ध एक अक्षर भी सुनना नहीं चाहते, उन्हें आप श्रद्धालु कहेंगे या अन्धविश्वासी ?

उत्तर—जो लोग जैनधर्मके ऊपर इसलिये विश्वास रखते हैं कि वे उसे कुलपरम्परासे अपनी चीज़ समझते हैं वे अन्धविश्वासी हैं क्योंकि इसके भीतर अभिमान है; विवेक नहीं। जो अपने विश्वासके विरुद्ध एक अक्षर भी सुनना नहीं चाहते वे और भी अधिक अन्ध-विश्वासी हैं, क्योंकि जिस बातपर वे विश्वास करते हैं उसे वे कमज़ोर समझते हैं। इसीलिये वे विरुद्ध बात सुन नहीं सकते—फिर भी उसपर विश्वास करते हैं। इन दोनों विचारोंके लोग जैनधर्मसे इतना ही लाभ उठा सकते हैं कि उनके बाहिरी आचरणमें कुछ सुधार हो जाय परन्तु वे सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते। सम्यग्दर्शनके विना कभी कभी बाह्याचरणकी शुद्धि भी अभिमान और द्वेषको पैदा करके बहुत अधःपतन करती है। इसलिये सम्यग्दर्शनकी अत्यन्त आवश्यकता बतलाई गई है। अन्धविश्वासी लोग दुनियाँके लिये भयङ्कर जीव हैं, जब कि श्रद्धालु जगत्‌का मित्र है।

प्रश्न—श्रद्धाका स्वरूप और उसकी आवश्यकता समझमें आ गई; परन्तु किस बातकी श्रद्धा की जाय ?

उत्तर—हमारा लक्ष्य सुख है इसलिये सुखके मार्गपर श्रद्धा करना चाहिये। प्रथम अध्यायमें सुखका मार्ग बताया गया है, उसपर विश्वास करना चाहिये।

प्रश्न—शास्त्रोंमें लिखा है कि आत्माको शरीरसे पृथक् अनुभव करना या शुद्धात्माका अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। यदि सुखके मार्गका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है तो आत्मानुभवकी कोई आव-

श्यकता नहीं रह जाती है। तब तो एक नास्तिक भी सम्यग्दृष्टि हो सकेगा।

उत्तर—नास्तिकता, आस्तिकता आदि पांडित्यरूपी रंगमंचके परदे हैं। सम्यग्दर्शनका ऐसी नास्तिकता-आस्तिकतासे कुछ सम्बन्ध नहीं है। कोई कितना ही नास्तिक क्यों न हो, फिर भी उसकी यह भावना तो रहती है कि मैं सुखी बनूँ। इस वाक्यमें जो 'मैं' है वही आत्मा है। इस आत्माको नास्तिक भी मानता है और आस्तिक भी मानता है। सच बात तो यह है कि जो सुखी रहनेकी कलामें या सुखमार्गमें विश्वास नहीं करता वही नास्तिक है, वही मिथ्यादृष्टि है।

शास्त्रोंमें जो आत्मा और शरीरको पृथक् अनुभव करनेकी बात लिखी है उसका अर्थ है स्व-पर-भेद-विज्ञान। जब तक हम स्व-पर-भेद-विज्ञानको प्राप्त नहीं कर लेते तबतक हम पूर्ण सुखमार्गको प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि सुखी होनेके जो दो उपाय प्रथम अध्यायमें बताये गये हैं उनमें सुखी रहनेकी कला सीखना मुख्य है। इस कलामें निपुणता तभी प्राप्त हो सकती है जब हम अपनेको शरीरसे और अन्य बाह्य परिस्थितियोंसे अलग अनुभव करें।

सुखी रहनेकी कला एक मानसिक कला है। वह भावनाके ऊपर अवलंबित है। नाटकका पात्र रंगमंचके ऊपर राजा बनकर आता है, युद्ध करता है, पराजित होता है, उसका राज्य छिन जाता है, वह दुःखी होता है आदि। इन सब क्रियाओंको करते समय क्या वह भीतरसे दुःखी होता है? क्या उसका दुःख उस राजाके समान है जिसका राज्य छिन गया है? परन्तु क्या नाटकका पात्र दुःखप्रदर्शनमें उस राजासे कुछ कम है? नहीं, बल्कि

नाटकका पात्र दुःखप्रदर्शनमें उस राजासे बाजी मार ले जायगा। नाटकका पात्र दुःखप्रदर्शन इसलिये नहीं करता कि उसे दुःख है बल्कि इसलिये करता है कि उसे दुःखका प्रदर्शन करना चाहिये। अथवा यों कहना चाहिये कि वह राज्य छिन जानेसे दुःख प्रदर्शन नहीं करता किन्तु वेतनके वशमें होकर करता है। सम्यग्दृष्टि जीवकी भावना भी नाटकके पात्रके समान होती है। वह धनी होकरके भी अपनेको धनी नहीं समझता, गरीब हो करके भी गरीब नहीं समझता। इसी प्रकार हरएक प्रकारके दुःख-सुखमें वह अपनेको दुःखी-सुखी नहीं समझता। वह दुःखित्व और सुखित्वका जो प्रदर्शन करता है वह इसलिये करता है कि उस समय उसे ऐसा प्रदर्शन करना चाहिये।

जीवनके विषयमें जिसकी भावनाएँ इतनी उच्च हो गई हैं वह सुखी रहनेकी कलामें पूर्ण निष्णात हो गया है।

प्रश्न—यदि सम्यग्दृष्टि जीव इसी प्रकार व्यवहार करता है तो उसका जीवन एक विडम्बना है। जिन लोगोंसे उसे प्रेम नहीं है उनसे बनावटी प्रेमका व्यवहार करना उन्हें धोखा देना है। क्या इस प्रकारके नकली जीवनसे उसे घबराहट नहीं होती?

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव प्रेमका त्यागी नहीं होता वह तो विश्व-प्रेमी होता है। जो जीव परसुखमें निजसुखका अनुभव करता है उसे प्रेमहीन नहीं कह सकते। वह सिर्फ़ मोहरहित होता है। उसका प्रेम परिमित व्यक्तियोंमें क़ैद नहीं रहता। परिमित व्यक्तियोंमें जो उसे प्रेमका प्रदर्शन करना पड़ता है वह कर्तव्य समझकर करता है। उनसे वह मोहित नहीं हो जाता। स्वकुटुम्ब,

स्वदेश और स्वजातिकी भावना इस जीवनसे सम्बन्ध रखती है। परन्तु यह जीवन आत्माके महान् जीवनका एक छोटा-सा अंश है। आत्माके महान् जीवनमें तो सारा जगत् कुटुम्ब है, स्वजाति है, स्वदेश है। इस तरह स्वदेश-स्वजाति-कुटुम्बकी भावना उसकी बहुत विशाल है। मान लो कि मेरे सौ मित्र हैं। मैं उनसे एकसा प्रेम करता हूँ। अब उनमेंसे एक मित्र मेरे घर आया। मैंने उसका विशेष शिष्टाचार किया। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं बाकी निन्यानवे मित्रोंसे प्रेम नहीं करता; अथवा गृहागत मित्रसे नकली प्रेम कर रहा हूँ। बात यह है कि मैं प्रेम तो सभी मित्रोंसे समान करता हूँ परन्तु जो मित्र निकट सम्बन्धमें आ जाते हैं उनसे विशेष व्यवहार करना पड़ता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जगत्के सभी जीवोंसे मैत्री भाव रखता है किन्तु जो जीव निकट-सम्बन्धमें आ जाता है उसके साथ विशिष्ट शिष्टाचार करता है। व्यवहारमें जिन्हें कुटुम्बी, सम्बन्धी आदि कहते हैं वे निकट-सम्बन्धमें आये हुए मित्र हैं। यदि उनके स्थानपर कोई दूसरे जीव हों तो वह उनसे भी स्नेह करेगा। इस तरह उसका स्नेह न तो बनावटी है, न मोहरूप है। धोखा देना तो उसे कहते हैं कि बाहरसे प्रेम हो, भीतरसे द्वेष हो; अवसरके ऊपर जिसमें कर्तव्यच्युति हो। मैं किसी व्यक्तिसे प्रेमका व्यवहार करूँ और उसके ऊपर विपत्ति आवे तो उसका साथ छोड़ दूँ तो उसे धोखा कहेंगे। सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं करता। वह अवसर आनेपर भी अपने कर्तव्यका पालन करता है। मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि व्यवहारको छोड़ नहीं देता किन्तु व्यवहारको व्यवहार समझकर करता है। मिथ्यादृष्टि जिस कार्यको मोहके वशमें होकर करता है

सम्यग्दृष्टि उसीको कर्तव्य समझकर करता है। मोही आदमी तो धोखा दे सकता है किन्तु कर्तव्यशील आदमी धोखा नहीं दे सकता। क्योंकि मोही व्यक्ति तो अविवेकी और स्वार्थी होता है, अविवेकके कारण या स्वार्थमें धक्का लगनेके कारण वह अवसरपर कर्तव्यका भी त्याग करता है और अकर्तव्यको भी अपनाता है जब कि सम्यग्दृष्टि अपने कर्तव्यको नहीं छोड़ सकता। इसलिये प्रेमके क्षेत्रमें भी मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि अधिक विश्वसनीय है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि कर्तव्यच्युत भले ही न होता हो, परन्तु उसके व्यवहारमें एक प्रकारकी नीरसता या उपेक्षादृष्टि अवश्य रहेगी जिससे लोगोंको असंतोष हो। उसका रूखा व्यवहार विश्वप्रेम, वात्सल्य आदि गुणोंका विघातक ही सिद्ध होगा।

उत्तर—अगर हम किसी नाट्यशालामें जाते हैं तो नाट्यशालाको या नाटक कंपनीका अपनी नहीं समझने लगते फिर भी नाटक तो दिलचस्पीसे देखते हैं। अगर नाट्यशालामें आग लग जाय तो हमें सिर्फ़ इतना ही दुःख होगा कि खेलका मज़ा बिगड़ गया। नाट्यशालाके मालिक-सरीखा ऐसा दुःख न होगा कि मैं लुट गया। सम्यग्दृष्टि होनेसे किसीकी सहृदयता नष्ट नहीं हो जाती। सिर्फ़ उसका मोह नष्ट होता है। सम्यग्दृष्टिके लिये नाटकके पात्रका उदाहरण दिया है। सच्चा खिलाड़ी नाटकको नाटक समझते हुए भी इस बातको भुला देता है कि यह नाटक है। अनेक दर्शक नाटकमें किसी पात्रको दुःखी होते देखकर रोने लगते हैं। क्या वे यह नहीं समझते कि यह नाटक है? फिर रोते क्यों हैं? इससे मालूम होता है कि प्राणीके भीतर एक ऐसी वृत्ति है जिसे हम शब्दोंसे कहनेमें असफल रहते

स्वदेश और स्वजातिकी भावना इस जीवनसे सम्बन्ध रखती है। परन्तु यह जीवन आत्माके महान् जीवनका एक छोटा-सा अंश है। आत्माके महान् जीवनमें तो सारा जगत् कुटुम्ब है, स्वजाति है, स्वदेश है। इस तरह स्वदेश-स्वजाति-कुटुम्बकी भावना उसकी बहुत विशाल है। मान लो कि मेरे सौ मित्र हैं। मैं उनसे एकसा प्रेम करता हूँ। अब उनमेंसे एक मित्र मेरे घर आया। मैंने उसका विशेष शिष्टाचार किया। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं बाक़ी निन्यानवे मित्रोंसे प्रेम नहीं करता; अथवा गृहागत मित्रसे नकली प्रेम कर रहा हूँ। बात यह है कि मैं प्रेम तो सभी मित्रोंसे समान करता हूँ परन्तु जो मित्र निकट सम्बन्धमें आ जाते हैं उनसे विशेष व्यवहार करना पड़ता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव जगत्के सभी जीवोंसे मैत्री भाव रखता है किन्तु जो जीव निकट-सम्बन्धमें आ जाता है उसके साथ विशिष्ट शिष्टाचार करता है। व्यवहारमें जिन्हें कुटुम्बी, सम्बन्धी आदि कहते हैं वे निकट-सम्बन्धमें आये हुए मित्र हैं। यदि उनके स्थानपर कोई दूसरे जीव हों तो वह उनसे भी स्नेह करेगा। इस तरह उसका स्नेह न तो बनावटी है, न मोहरूप है। धोखा देना तो उसे कहते हैं कि बाहरसे प्रेम हो, भीतरसे द्वेष हो; अवसरके ऊपर जिसमें कर्तव्यच्युति हो। मैं किसी व्यक्तिसे प्रेमका व्यवहार करूँ और उसके ऊपर विपत्ति आवे तो उसका साथ छोड़ दूँ तो उसे धोखा कहेंगे। सम्यग्दृष्टि ऐसा नहीं करता। वह अवसर आनेपर भी अपने कर्तव्यका पालन करता है। मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि व्यवहारको छोड़ नहीं देता किन्तु व्यवहारको व्यवहार समझकर करता है। मिथ्यादृष्टि जिस कार्यको मोहके वशमें होकर करता है

सम्यग्दृष्टि उसीको कर्तव्य समझकर करता है। मोही आदमी तो धोखा दे सकता है किन्तु कर्तव्यशील आदमी धोखा नहीं दे सकता। क्योंकि मोही व्यक्ति तो अविवेकी और स्वार्थी होता है, अविवेकके कारण या स्वार्थमें धक्का लगनेके कारण वह अवसरपर कर्तव्यका भी त्याग करता है और अकर्तव्यको भी अपनाता है जब कि सम्यग्दृष्टि अपने कर्तव्यको नहीं छोड़ सकता। इसलिये प्रेमके क्षेत्रमें भी मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा सम्यग्दृष्टि अधिक विश्वसनीय है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि कर्तव्यच्युत भले ही न होता हो, परन्तु उसके व्यवहारमें एक प्रकारकी नीरसता या उपेक्षादृष्टि अवश्य रहेगी जिससे लोगोंको असंतोष हो। उसका रूखा व्यवहार विश्वप्रेम, वात्सल्य आदि गुणोंका विघातक ही सिद्ध होगा।

उत्तर—अगर हम किसी नाट्यशालामें जाते हैं तो नाट्यशालाको या नाटक कंपनीका अपनी नहीं समझने लगते फिर भी नाटक तो दिलचस्पीसे देखते हैं। अगर नाट्यशालामें आग लग जाय तो हमें सिर्फ़ इतना ही दुःख होगा कि खेलका मज़ा बिगड़ गया। नाट्यशालाके मालिक-सरीखा ऐसा दुःख न होगा कि मैं लुट गया। सम्यग्दृष्टि होनेसे किसीकी सहृदयता नष्ट नहीं हो जाती। सिर्फ़ उसका मोह नष्ट होता है। सम्यग्दृष्टिके लिये नाटकके पात्रका उदाहरण दिया है। सच्चा खिलाड़ी नाटकको नाटक समझते हुए भी इस बातको भुला देता है कि यह नाटक है। अनेक दर्शक नाटकमें किसी पात्रको दुःखी होते देखकर रोने लगते हैं। क्या वे यह नहीं समझते कि यह नाटक है? फिर रोते क्यों हैं? इससे मालूम होता है कि प्राणीके भीतर एक ऐसी वृत्ति है जिसे हम शब्दोंसे कहनेमें असफल रहते

हैं। वह वृत्ति मनोवृत्तिसे भी भीतरकी चीज़ है। उसे आत्म-वृत्ति कहना चाहिये। आत्मा मनसे परे है। यह न समझिये कि दर्शकमें ही यह बात देखी जाती है। नाटकके सभी खिलाड़ी आँखोंमें कर्पूर लगाकर नहीं रोते। जो कच्चे खिलाड़ी हैं वे ही ऐसा करते हैं। जो पक्के खिलाड़ी हैं वे तो रोनेकी जगहपर सचमुच रोते हैं हँसनेकी जगहपर सचमुच हँसते हैं। रोने-हँसनेका काम उनका मुख ही नहीं करता, मन भी करता है। किन्तु मनके भी भीतर एक वृत्ति है जो इसे नाटक समझती है; जो न हँसती है, न रोती है। उस वृत्तिको हम अनुभव करते हैं, समझते हैं, पर ठीक ठीक कह नहीं पाते। सम्यग्दृष्टि पक्का खिलाड़ी होता है इसलिये वह सब कार्य इतने अच्छे ढंगसे करता है कि किसीको उसके व्यवहारमें रूखापन या उदासीनता नहीं माळूम होती। वह भोगोंसे उदासीन है, कर्तव्यसे उदासीन नहीं। जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि बननेका ढोंग करते हैं उनके व्यवहारमें नीरसता, रूखापन उपेक्षा आदि दोष होते हैं क्योंकि वे कच्चे खिलाड़ी हैं। जो सम्यग्दृष्टि हैं वे खेलको खेल समझकर अच्छी तरह खेलते हैं। वे जीतमें भी खुश हैं और हारमें भी खुश हैं। जो सामान्य मिथ्यादृष्टि हैं वे खेलको जीवन समझकर खेलते हैं। वे जीत-हारमें भीतरसे सुखी-दुःखी होते हैं। परन्तु जो मिथ्यादृष्टि होकर अपनेको सम्यग्दृष्टि कहलानेका ढोंग करते हैं, वे हँसनेकी जगह रोते हुए हँसते हैं जिससे कोई यह समझे कि ये खेलको खेल समझते हैं। परन्तु वास्तवमें वे खेलको खेल नहीं समझते। इसीलिए उन्हें बनावटी ढंगसे काम लेना पड़ता है। रूखापन ऐसे ही लोगोंमें पाया जाता है, सम्यग्दृष्टियोंमें नहीं।

प्रश्न—इन तीन प्रकारके प्राणियोंसे अतिरिक्त एक चौथी श्रेणी भी है, जो इस नाटकको या संसारको छोड़ कर चल देते हैं, मुनि हो जाते हैं, जीवन्मुक्त हो जाते हैं उन्हें आप किस श्रेणीमें रक्खेंगे? क्या वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं? यदि हैं तो वे खेल समझकर जीवनका खेल क्यों नहीं खेलते? कायरतासे संसारके उत्तरदायित्वको छोड़कर क्यों भाग जाते हैं?

उत्तर—जो कायरतासे उत्तरदायित्व छोड़ कर मुनि होते हैं वे न तो मुनि हैं न सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दृष्टि जीव उत्तरदायित्वका त्याग नहीं करते। वे मुनि होते हैं परन्तु मुनिजीवनका अर्थ अकर्मण्यता नहीं है, न जीवनके नाटकको छोड़ देना है। वे भी नाटक ही खेल रहे हैं। सिर्फ़ उनने पार्ट बदल दिया है। नाटकमें कौन पात्र किस लायक है इसका विचार तो करना ही पड़ता है। कई पार्ट ऐसे होते हैं जिन्हें हरएक नहीं कर सकता, जिनमें शारीरिक हलन-चलनकी अपेक्षा सूक्ष्म क्रियाओंकी अधिक आवश्यकता होती है। अविरत सम्यग्दृष्टिका पार्ट सरल है और निम्न श्रेणीका है। मुनिका पार्ट ज़रा उच्च श्रेणीका है। परन्तु दोनों ही नाटक हैं। मुनि तो मुनि, जीवन्मुक्त अरहंत भी नाटक खेल रहे हैं। जब तक जीव इस शरीरमें है तब तक वह संसारका नाटक खेल रहा है इसमें सन्देह नहीं। यह बात दूसरी है कि उसके पार्टोंमें श्रेणी-भेद हो। इस तरह अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर अरहन्त-अवस्था तक सभी जीव एक तरहसे कर्मयोगी हैं।

हरएक प्राणी कर्तव्यका पालन नाटक समझकर करे। नाटकका पात्र अगर नाटकको नाटक समझकर छोड़ दे तो उसका अनाटकीय जीवन

भी असफल हो जायगा। जब तक जीवन है तब तक कोई इस रंग-मंचसे भाग नहीं सकता। तब उसका कर्तव्य यही है कि वह कायरता न बतावे और वीरतासे कर्तव्यका पालन करे। हाँ, वह योग्यता बढ़ाकर निम्न श्रेणीके खेल छोड़कर उच्च श्रेणीके खेल ले सकता है।

प्रश्न—यदि सम्यग्दृष्टि जीवनको नाटक समझता है उसमें लिप्त नहीं होता, जगत्को अपना कुटुम्ब समझता है, तो वह स्वदेशकी पराधीनताको नष्ट कैसे करेगा? वह अन्यायी और अत्याचारियोंके विनाशके लिये भी कैसे प्रयत्न करेगा? क्यों कि उसके लिये तो जैसे स्वदेशी लोग वैसे विदेशी लोग। इस तरह सम्यग्दर्शन राष्ट्र या समाजके लिये बिलकुल निरर्थक है।

उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव स्वदेश और परदेशकी भावनासे काम नहीं करता किन्तु अन्याय और अत्याचारके विरुद्ध खड़ा होता है। अगर विदेशी अन्यायी है तो वह हर तरह उसका विरोध करेगा। उसकी देशभक्ति अन्यायके पक्षमें खड़ी नहीं होती और न अन्यायके विरोधके लिये वह किसीसे पीछे रहता है। हाँ, उसकी एक कोशिश यह होती है कि अत्याचारीके अत्याचारको दूर करनेकी कोशिश की जाय और अत्याचारीको अनत्याचारी बनाया जाय। परन्तु जब यह कार्य सम्भव नहीं दिखलाई देता तब वह अत्याचारको दूर करनेके लिये अत्याचारीका भी विरोध करता है। जिस दिन संसारमें देशभक्ति और जातिभक्तिका स्थान न्यायभक्ति ले लेगी उसी दिन संसार चैनकी नींद सो सकेगा। देशभक्ति कमज़ोर अवस्थामें न्याय-रक्षणके काममें आती है और बलवान हो जानेपर न्याय-भक्षणके

काममें आती है। परन्तु न्यायभक्ति जगत्का कल्याण ही करती है। साधारण लोग जिस कामको देशाभिमान, जात्यभिमान आदिके द्वारा करते हैं वही काम सम्यग्दृष्टि जीव न्यायभक्तिके द्वारा करता है। पहिली वस्तु (देशाभिमान आदि) कभी कभी उपादेय है जब कि दूसरी (न्याय भक्ति) सदा उपादेय है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा जगत्में सुखोपार्जन अधिक करता है। साथ ही सुखी बननेकी कलाके कारण दुःखसे बचा रहता है। प्रथम अध्यायमें ये दोनों ही कारण सुखी बननेके बतलाये हैं जिनको सम्यग्दृष्टि ही अच्छी तरहसे प्राप्त कर सकता है। इसके लिये स्व-पर-विवेक बहुत सहायक होता है क्योंकि जीवनको नाटक समझना, शरीरको जुदा समझना आदि भावनाएँ उसे पूर्ण कर्तव्यतत्पर बनाती हैं। इस भावनाके पहिले उसे शारीरिक स्वार्थ कर्तव्यमार्गसे विमुख कर दिया कर देते थे। अब उसे कोई बाहिरी वस्तु कर्तव्यमार्गसे विमुख नहीं कर सकती है इसलिये स्वपर-विवेक या भेदविज्ञान सम्यग्दर्शनका चिह्न कहा जाता है।

इस विवेचनसे सम्यग्दर्शनके स्वरूपका कुछ कुछ भान होने लगेगा। फिर भी सम्यग्दर्शन अनिर्वचनीय है। इसलिये इस विषयमें कुछ और कहा जाता है जिससे कुछ और भी स्पष्टता हो।

जीवनको नाटक समझनेसे जिस प्रकार कर्तव्यतत्परता आती है अथवा मनुष्य सुखी रहनेकी कलामें निष्णात होता है उसी तरह आत्माको नित्य और इस जीवनको अनित्य या अपूर्ण समझनेसे सुखी रहनेकी कला आती है। पहले अध्यायमें यह कहा जा चुका है कि जगत्कल्याणमें आत्मकल्याण है। इसलिये जगत्-कल्याणके साथ-

नोंको उसे पूरा पालना चाहिये । परन्तु स्वार्थके कारण मनुष्य उन नियमोंका भंग करता है । वह सोचता है कि अगर मैं जीवनभर दुःखी रहा तो दूसरोंके कल्याणसे पैदा होनेवाला सुख मुझे कब मिलेगा ? उसके इस भ्रमको मिटानेके लिये आत्माकी नित्यताका निश्चय बहुत उपयोगी होता है । वह मानता है कि वर्तमान जीवनसरीखे असंख्य जीवन आत्माके अनन्त जीवनके सामने कोई गिनतीमें नहीं हैं इसलिये इस जीवनका बलिदान करके भी प्रथम अध्यायमें वर्णित सुखके उपायोंका पालन किया जाय तो हम टोटेमें न रहेंगे ।

भविष्य-जीवनकी आशा हमें इस बातका सन्तोष देती है कि इस जन्मके कार्योंका फल हमें अगले जन्ममें मिल सकेगा, इसलिये हमें अपना कर्तव्य करना चाहिये । कर्तव्य निष्फल न जायगा । अगर इस जन्ममें उसका फल न मिला तो आगेके जन्ममें मिलेगा । भविष्य-जीवनकी आशा मृत्युके भयको दूर कर देती है और जिसने मृत्युके भयको जीत लिया वह कर्तव्यमार्गमें पीछे नहीं हटता ।

आत्माकी नित्यतासे हम परको स्वकीय समझने लगते हैं इसलिये हमारी राग-द्वेषकी वासनाएँ कम हो जाती हैं । हम जगत्के कल्याणमें वृद्धि करने लगते हैं और हानि करना छोड़ देते हैं । विश्व-प्रेमकी भावना खूब बढ़ती है । उस समय हमारे विचार इस प्रकारके होने लगते हैं—

आज मैं भारतीय हूँ, मरनेके बाद यूरोपीय हो सकता हूँ, फिर यूरोपीयोंसे द्वेष क्यों करूँ ? अथवा आज मैं अँग्रेज़ हूँ, मरनेके बाद भारतीय हो सकता हूँ, फिर भारतको गुलामीमें जकड़कर क्यों

रक्खूँ ? आज मैं हिन्दू हूँ, मरकर मुसलमान होना पड़ा तो आज मुसलमानोंका द्वेष क्यों करूँ ? अथवा आज मैं मुसलमान हूँ, मरकर हिन्दू होना पड़ा तो हिन्दुओंसे झगड़ा मोल क्यों लूँ ? आज मैं पुरुष हूँ, कल (मृत्युके बाद) अगर स्त्री होना पड़ा तो स्त्रियोंकी स्वतन्त्रता क्यों छीनूँ ? अथवा आज मैं विधुर हूँ, मरकर विधवा होना पड़ा तो विधुरोंके अधिकार विधवाओंको भी क्यों न प्राप्त करने दूँ ? आज मैं मनुष्य हूँ, कल अगर पशु होना पड़ा तो उन्हें वृथा क्यों सताऊँ ? आज मैं ब्राह्मण हूँ कल शूद्र होना पड़ा तो शूद्रोंको पददलित क्यों करूँ ? आज राजा हूँ, कल प्रजा होना पड़ा तो अत्याचार क्यों करूँ ? आज ज़मीनदार हूँ, कल कृषक होना पड़ा तो उन्हें क्यों सताऊँ ?

इस तरहकी भावनाओंसे वर्गीय तथा वैयक्तिक अत्याचारोंका नाश होता है। वह सोचता है कि दुनियाँमें दूसरे वर्गोंके साथ मैं जितनी भलाई करूँगा वह सब मेरे काम आयगी। इसलिये दूसरेके साथ भलाई करना दूसरेके ऊपर अहसान नहीं है किन्तु भविष्यमें अपनी रक्षाका उपाय है। इस तरह जगत्की भलाई और अपनी भलाई एक हो जाती है। यह दृढ़ निश्चय आत्माको नित्य माननेका फल है। इसलिये सम्यग्दृष्टि आत्माको नित्य मानता है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीव अप्रामाणिक बातोंपर विश्वास नहीं करता इसलिये जब तक आत्मा एक नित्यवस्तु सिद्ध न हो जाय तब तक वह आत्मापर विश्वास कैसे करेगा ? परलोकका कोई निश्चित रूप भी तो सिद्ध नहीं है, जिससे परलोककी आशा की जाय।

उत्तर—आत्माके विषयमें अनेक बातें कही जा सकती हैं जिनमेंसे कुछ बातें यहाँ दी जाती हैं—

(क) अनुभव सब प्रमाणोंमें श्रेष्ठ प्रमाण है। शरीरमें सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि अनुभव शरीरसे अलग होता है। इसलिये आत्मा शरीरसे भिन्न है।

(ख) दो वस्तुओंका भेद उनके गुण-धर्मके भेदसे ही सिद्ध होता है। आजकल वैज्ञानिक लोग बानवे (९२) तत्त्व (Elements) मानते हैं। एक तत्त्व दूसरे रूपमें परिवर्तित नहीं हो सकता। एक तत्त्वसे दूसरे तत्त्वका भेद उसके पृथक् गुण-धर्मसे ही मालूम होता है। इस तत्त्वोंमें ऐसा कौन-सा तत्त्व है जिसमें चैतन्य पाया जाता हो ? अगर कोई ऐसा तत्त्व नहीं है तो आत्माको उन सबसे एक भिन्न पदार्थ मानना पड़ेगा।

प्रश्न—यद्यपि किसी एक तत्त्वमें चैतन्य नहीं है फिर भी अनेक तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे चैतन्य पैदा होता है जैसे कि शराबकी एक-एक वस्तुमें मादकता नहीं होती किन्तु उन सबके मिश्रणसे मादकता पैदा हो जाती है।

उत्तर—मादकता कोई नयी वस्तु नहीं है। प्रत्येक खाद्य पदार्थमें वह मादकता पाई जाती है। रोटी वगैरहमें भी मादकता होती है। इसी कारण भोजनसे निद्रा, आलस्य आदि उत्पन्न होते हैं। जिन वस्तुओंसे शराब बनती है उनमें भी मादकता है। उनके मिश्रणसे वह अधिक प्रकट होती है। वास्तवमें यह कोई नयी जातिकी शक्ति नहीं है जो पैदा होती हो। इतना ही नहीं किन्तु मादकता कोई स्वतन्त्र शक्ति ही नहीं है। जितनी वस्तुएँ हम खाते-पीते हैं उनका रंग, रस, स्पर्श

आदिका कुछ न कुछ प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ता है। रंगके प्रभा-वको क्या आप रंगसे जुदा गुण मानेंगे ? इसी प्रकार रसका प्रभाव क्या रससे जुदा गुण है ? यदि नहीं तो खाद्य पदार्थके रंग, रस, गन्ध स्पर्श आदिका प्रभाव इन गुणोंसे जुदा नहीं है। यही प्रभाव मादकता है। जब यह थोड़ी मात्रामें होता है तब हम इसका वेदन नहीं करते। जब ज़रा अधिक होता है तब इसे निद्रा, तन्द्रा, आलस्य आदि शब्दोंसे कहते हैं। जब वह इससे भी अधिक होता है तब मादकता कहलाता है। इससे मालूम हुआ कि मादकता कोई गुण नहीं है, किन्तु रस, स्पर्शादि भौतिक गुणोंका शरीरके ऊपर पड़नेवाला प्रभाव है। हम दुनियामें सैकड़ों कार्य चित्र-विचित्र देखते हैं परन्तु वे सब रूप, रस, गन्ध आदि गुणोंके परिणमन मात्र हैं। किसी जगह नये गुणकी कल्पना हम तभी कर सकते हैं जब कि उसमें माने गये गुणोंसे वह कार्य न हो सकता हो। मादक वस्तुमें अभिमत मादकता आनेपर कोई ऐसी विशेषता पैदा नहीं होती जो उसके पूर्व गुणोंका परिणमन न कहा जा सके।

सच बात तो यह है कि स्कन्ध [अणुपिंड] में कोई ऐसी शक्ति नहीं पैदा हो सकती जो अणुओं (Atoms) में न पाई जाती हो। उदाहरणके लिये हम एक रेलके एञ्जिनको लेते हैं। वह सैकड़ों डब्बोंको खींचनेकी शक्ति रखता है। अकेले, लोहेमें या अग्निमें या पानीमें इतनी शक्ति नहीं है, इसलिये एञ्जिनमें यह नयी शक्ति कहलाई। अब हमें देखना चाहिये की यह नयी शक्ति क्या है ? कैसे पैदा हुई है ? अणुओंकी अपेक्षा क्या एञ्जिनमें नया गुण पैदा हुआ है ? विचारनेसे मालूम होता है कि नहीं। अग्निमें गरमी है, गरमीके निमित्तसे प्रत्येक

पुद्गल (Matter) के अणुओंका बन्धन शिथिल होता है इसलिये वे दूर दूर होते हैं अर्थात स्थूल पदार्थ फैलता है। पानी वार्ष्पीय तरल पदाथ होनेसे जल्दी और ज्याद: फैलता है। अगर वाष्पको रोकनेकी कोशिश की जायगी तो वह धक्का देगी। धक्का खानेसे रोकनेवालेमें गति पैदा होगी। इस तरह गर्मीसे गति पैदा होगी। एञ्जिनोंमें भी इसी प्रकार गति पैदा होती है। यहाँ उष्णता और गतिमें कार्यकारणभाव है। इन दोको छोड़कर एञ्जिनमें और क्या है? और ये दोनोंही गुण अणुओंमें पाये जाते हैं। अब कौन कह सकता है कि एञ्जिनमें कोई नया गुण पैदा हुआ है? कहनेका मतलब यह है कि चाहे मदिराका उदाहरण लो चाहे किसी यंत्रका, उसमें हमें कोई ऐसा नया गुण न मिलेगा जो अणुओंमें न पाया जाता हो। अगर कोई नया गुण मिल भी जावे तो हमें उसकी स्थिति उस अणुपिंडमें नहीं किन्तु अणुमें मानना चाहिये। विज्ञानका यह सिद्धान्त है कि शक्ति (Energy) न तो नयी पैदा होती है न उसका विनाश होता है। इसलिये मदिरामें या किसी यंत्रमें कोई नयी शक्ति नहीं मानी जा सकती—वह शक्तियोंका रूपान्तर-मात्र है।

अब हमें यह देखना चाहिये कि चैतन्य किस शक्तिका रूपान्तर है। पुद्गल (Matter) में जितने गुण उपलब्ध होते हैं उनमें कोई भी गुण ऐसा नहीं है जिसका रूपान्तर चैतन्य कहा जा सके। स्मरण रखना चाहिये कि एक गुणका रूपान्तर कभी दूसरे गुणरूप नहीं होता। काले रंगका नीला रंग हो जायगा परन्तु रंगका रंग ही होगा, रस (स्वाद) नहीं। इसी प्रकार रसका रूपान्तर रस, गन्धका रूपान्तर गन्ध, स्पर्शका रूपान्तर स्पर्श, आकारका रूपान्तर आकार

आदि होंगे। रसका, गन्धका, स्पर्शका, रूपका, आकारका रूपान्तर ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये मानना चाहिये कि चैतन्य या ज्ञान एक नया गुण है—वह किसी अन्य (रूपादि) गुणका रूपान्तर नहीं है, इसलिये वह पैदा नहीं हो सकता, नष्ट नहीं हो सकता क्योंकि शक्तिका उत्पाद और विनाश नहीं होता।

प्रश्न—जब हमारे शरीरको किसी एक चीज़की ठोकर लगती है तब त्वचाके पासके स्नायुओंमें कम्पन होता है शरीरके हरएक भागके स्नायुओंका सम्बन्ध मस्तिष्कके साथ है। इसलिये त्वचाके पासके प्रत्येक कम्पनका प्रभाव मस्तिष्कपर पड़ता है जिससे हमें वेदन होता है। मस्तिष्कके ऊपर पड़नेवाला यह प्रभाव ही चैतन्य है। इसलिये यह अलग गुण नहीं माना जा सकता।

उत्तर—स्नायुओंकी प्रक्रिया ठीक है परन्तु इससे चैतन्यका पृथक् अस्तित्व नष्ट नहीं होता। स्नायुओंसे मस्तिष्कमें कम्पन हो सकता है, उसके आकारमें सूक्ष्म परिवर्तन हो सकता है, परन्तु आकारका सूक्ष्म परिवर्तन या कम्पन चैतन्य नहीं है। यदि कम्पनका नाम चैतन्य हो तब तो सभी पदार्थ चैतन्यशाली कहलायँगे। कम्पनसे चैतन्य हुआ यह एक बात है और कम्पन चैतन्य है यह दूसरी बात है। स्नायुओंकी प्रक्रियासे—कम्पनसे—चैतन्य पैदा हुआ कहा जा सकता है किन्तु कम्पनको हम चैतन्य नहीं कह सकते। कम्पन और चैतन्यमें कार्यकारणभाव कहा जा सकता है परन्तु वे दोनों अभिन्न नहीं कहे जा सकते।

प्रश्न—कार्य और कारणमें बिलकुल अभेद भले ही न माना जाय किन्तु कारणका रूपान्तर ही कार्य होता है इसलिये चैतन्य आदि कार्यको कम्पन आदि कारणोंका ही रूपान्तर कहना चाहिये।

उत्तर—कार्य प्रत्येक कारणका रूपान्तर नहीं होता किन्तु सिर्फ उपादान* कारणका रूपान्तर होता है। घड़ा बनानेके लिये मिट्टी और कुम्हार दोनोंकी आवश्यकता है किन्तु घड़ा सिर्फ मिट्टीका रूपान्तर है न कि कुम्हारका। इसी प्रकार स्नायुओंकी क्रियासे मस्तिष्कमें कम्पन होता है; मस्तिष्कके कम्पनसे चैतन्य पैदा होता है। जब कि चैतन्य कम्पन रूप नहीं है तब कम्पन उसके लिये निमित्त कारण हुआ, इसलिये चैतन्य (जानना) उससे अलग वस्तु ही रहा।

प्रश्न—जब स्नायुओंकी प्रक्रियासे हमें चैतन्य या वेदन उत्पन्न होता हुआ दिखलाई देता है तब हम एक नयी वस्तु (गुण) की कल्पना क्यों करें ?

उत्तर—प्रत्येक कार्यके लिये दो तरहके कारणोंकी आवश्यकता होती है—एक निमित्त और दूसरा उपादान +। इनमेंसे किसी एकके बिना कार्य पैदा नहीं हो सकता। जो मिट्टी इस समय घड़ा बन रही है वह इस समयसे पहिले घटरूप क्यों न हुई? इसके उत्तरमें हमें कहना पड़ेगा कि उसके लिये अन्य कारण नहीं मिले थे। जिन अन्य कारणोंके मिलनेसे मिट्टी घड़ा बन सकी वे ही घड़ेके निमित्त कारण हैं। यदि निमित्त कारणके बिना कार्य होता तो अमुक

---

* वस्तु शब्दका अर्थ यहाँ पुद्गल (Matter) नहीं है किन्तु अस्तित्ववाला कोई भी पदार्थ लिया जा सकता है। इसका अर्थ thing, something, any substance आदि करना चाहिये।

+ जो कारण स्वयं कार्यरूप परिणत होता है उसे उपादान कारण कहते हैं; जैसे घड़ेके लिये मिट्टी उपादान-कारण है। जो कारण कार्यरूप परिणत नहीं होता उसे निमित्त-कारण कहते हैं, जैसे घड़ेके लिये कुम्हार, चक्र आदि। आवश्यक दोनों हैं।

समयपर उसकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकती थी। वह अनादि हो जाता।

उपादान कारण भी कार्यके लिये आवश्यक है। मिट्टी न हो तो कुम्हार कितना ही प्रयत्न करे वह विना किसी उपादान (Matter) के घड़ा नहीं बना सकता। उपादान कारण न माना जाय तो असत्-से सत् होने लगेगा परन्तु हम अनुभवसे जानते हैं कि जो वस्तु नहीं है वह पैदा नहीं हो सकती। आधुनिक विज्ञानका भी यह मूल सिद्धान्त है। इस तरह कार्य छोटा हो या बड़ा उसके लिए निमित्त और उपादान इन दोनों कारणोंकी आवश्यकता होती है।

कभी कभी निमित्त कारण अदृश्य रहता है परन्तु अदृश्य होनेसे उसका अभाव नहीं माना जाता। उदाहरणार्थ हम किसी अधपके आम या केलाको लाकर एक स्थानपर रख दते हैं; दो-तीन दिनमें वह विना किसी प्रयत्नके आपसे आप पक जाता है। यहाँ स्पष्ट रूपमें हमें पकनेका निमित्त कारण नहीं मालूम होता; फिर भी अगर कुछ निमित्त नहीं है तो वह दो-तीन दिन बाद क्यों पका? पहिले क्यों न पक गया? इससे मालूम होता है कि दो-तीन दिनमें उसे बाहरकी कुछ सहायता ज़रूर मिली है, और वह वातावरणकी गर्मी आदि है। इसी प्रकार कभी कभी उपादान कारण भी अदृश्य होता है। उदाहरणार्थ शीतऋतुकी रात्रिमें शीतका निमित्त पाकर वनस्पतिपर ओस पड़ जाती है। उन बिन्दुओंका उपादान पानी हमें दिखाई नहीं देता फिर भी हम कल्पना करते हैं कि वायुमण्डलमें फैले सूक्ष्म जलकणोंसे ये ओसके बिन्दु बने हैं। उपादान अदृश्य होनेसे उपादानका अभाव नहीं कहा जा सकता। कहनेका मतलब

यह है कि निमित्तके साथ कार्यका अविनाभाव× सम्बन्ध सिद्ध हो जानेसे उपादानका अभाव नहीं कहा जा सकता। उपादान अगर अदृश्य हो तो भी उसे मानना पड़ता है।

हमें जो वेदन या अनुभव होता है उसका निमित्त कारण मस्तिष्क है क्योंकि मस्तिष्कके मैटरमें जितने रूप, रस, गंध, स्पर्श आकार आदि गुणधर्म हैं उनमेंसे चैतन्य किसीका भी विकार नहीं है क्योंकि चैतन्य किसी रंग, स्वाद आदिका नाम नहीं है। स्नायु-प्रक्रियासे हम वेदन या अनुभवके निमित्त कारणोंका परिज्ञान कर सकते हैं किन्तु उपादान कारणका हमें पता नहीं लग सकता। लेकिन यह नहीं कह सकते कि वहाँ कोई उपादान कारण नहीं है, उपादान कारण है तो, परन्तु वह अदृश्य है। अदृश्य होनेसे उसका अभाव नहीं माना जा सकता।

अनेक पदार्थ ऐसे हैं कि जिनके विषयमें हम ठीक ठीक कुछ नहीं जानते फिर भी उनके कार्यका अनुभव करते हैं। उदाहरणार्थ विद्युत्। विद्युत् क्या है इसका वैज्ञानिक जगत् कुछ भी उत्तर नहीं दे पाया है फिर भी विद्युत्के कार्य प्रकाश, गति आदिका हमें परिज्ञान होता है और उससे हम काम भी लेते हैं। इसी प्रकार सुख, दुःख, संवेदन या अन्य-पदार्थ-परिज्ञानका उपादान आत्मा क्या है, इसके विषयमें हम कुछ न कह सकें फिर भी वह एक जुदा पदार्थ है यह हमें मानना पड़ता है। जब कि चैतन्य मस्तिष्कके गुणका रूपान्तर नहीं है (भले ही मस्तिष्कके गुण उसमें निमित्त होते हों) तो वह अन्य किसीका रूपान्तर है यह मानना पड़ता है। जिसका रूपान्तर है

× एकके होनेपर दूसरेका होना और न होनेपर न होना इस नियमको अविनाभाव कहते हैं।

वही आत्मा है। वह हमारे लिये अदृश्य या अवक्तव्य भले ही हो परन्तु विद्युत्‌की तरह अनुमेय अवश्य है। दो पदार्थोंके संघर्षण या सम्मिश्रणसे विद्युत् पैदा होती है परन्तु हम संघर्षण और सम्मिश्रणको विद्युत् नहीं कह सकते। संघर्षण और सम्मिश्रण तो सिर्फ़ उसका निमित्त-कारण है। इसी प्रकार स्नायु, मस्तिष्क आदि-की क्रियाको हम चैतन्य नहीं कह सकते; वह तो सिर्फ़ उसका निमित्त कारण है।

प्रश्न—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आकार, गति आदिका विकार चैतन्य नहीं है; वह पृथक् गुण है; यह बात ठीक है। परन्तु जिस प्रकार पुद्गलमें रूपादि गुण हैं उसी प्रकार उसमें एक चैतन्य गुण भी मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है? पुद्गलका प्रत्येक परमाणु चेतन है किन्तु जिस प्रकार परमाणु सूक्ष्म होनेसे उसके रूपादि गुण अदृश्य रहते हैं उसी प्रकार परमाणुमें रहनेवाले चैतन्यकी मात्रा भी इतनी अल्प होती है कि हमें मालूम नहीं होती। किन्तु जब वे परमाणु मस्तिष्क आदिके रूपमें बहुतसे एकत्रित हो जाते हैं तब उनका चैतन्य विशाल रूपमें माऌम होने लगता है। इस प्रकार चैतन्य एक अलग गुण होनेपर भी वह पुद्गलसे भिन्न आत्म-द्रव्यको सिद्ध नहीं कर सकता।

उत्तर—गुणके भेदसे ही गुणीमें भेद होता है। इसलिये जब तक पुद्गल परमाणुओंमें चैतन्य साबित न हो जाय तब तक चैतन्य-वाला द्रव्य एक नया द्रव्य ही मानना पड़ेगा। परमाणुको हम किसी भी इन्द्रियसे ग्रहण नहीं कर सकते। जो पिण्ड इन्द्रियोंसे ग्रहण होते हैं उनके टुकड़े होते हम देखते हैं इसलिये हम अनुमान करते हैं

कि इनका सबसे छोटा टुकड़ा भी होगा। वही परमाणु है। कोई गुण नया नहीं पैदा होता इसलिये स्कंधों (परमाणु-पिण्ड) में जितने गुण पाये जाते हैं उतने हम परमाणुओंमें भी मानते हैं। मतलब यह है कि स्कंधोंमें हम जितने गुण साबित कर सकते हैं उससे एक गुण भी अधिक परमाणुमें नहीं कह सकते। जब परमाणु अदृश्य है तब किसी गुणकी सत्ता पहिले स्कंधोंमें ही साबित करना चाहिये; परमाणुके गुणोंसे हम स्कंधमें गुण साबित नहीं कर सकते किन्तु स्कंधके गुणोंसे परमाणुमें गुण साबित किये जाते हैं। साधारण स्कंधोंमें चैतन्य सिद्ध नहीं होता इसलिये परमाणुओंमें चैतन्य कैसे माना जा सकता है? जिन स्कंधों (शरीर मस्तिष्क-आदि) में चैतन्य मालूम होता है उनके विषयमें तो यहाँ विवाद ही चल रहा है कि वह चैतन्य उन स्कंधोंका है अथवा उनसे विभिन्न किसी दूसरे द्रव्यका? मस्तिष्कमें चैतन्य तभी साबित हो सकता है जब परमाणुओंमें चैतन्य साबित हो जाय और परमाणुओंमें चैतन्य तभी साबित हो सकता है जब कि मस्तिष्क आदिमें साबित हो जाय। जब तक यह अन्योन्याश्रयदोष दूर न हो जाय तब तक 'गुणके भेदसे गुणीमें भेद होता है' इस नियमके अनुसार चैतन्य-वाले पदार्थको एक भिन्न द्रव्य ही मानना पड़ेगा।

प्रश्न—यदि दूसरे स्कंधोंमें चैतन्य न होनेसे आप परमाणुमें चैतन्य न मानेंगे और परमाणुमें चैतन्य सिद्ध न होनेसे मस्तिष्क आदिमें चैतन्य न मानेंगे और इस तरह एक नये द्रव्यकी सिद्धि करेंगे तो मशीनोंमें भी एक नये द्रव्यकी कल्पना करना पड़ेगी, क्योंकि एक यन्त्र (मशीन) से जो काम होता है वह यन्त्रेतर

स्कंधसे नहीं होता, इसलिये यन्त्रके गुण परमाणुमें नहीं माने जा सकते। जो गुण परमाणुमें नहीं हैं वे परमाणुओंसे बने हुए स्कंध (यन्त्र) में कहाँसे आ जायँगे? इसलिये हर-एक मशीनमें एक नया द्रव्य मानना पड़ेगा।

उत्तर—पहिले सिद्ध किया जा चुका है कि यंत्रके जितने काम हैं वे किसी नये गुणको सिद्ध नहीं करते, वे सब (गुण) परमाणुमें भी पाये जाते हैं। परमाणुको तो हम देख नहीं सकते इस लिये यही कहना चाहिये कि वे गुण अन्य स्कंधोंमें भी पाये जाते हैं। यन्त्रका काम गति, प्रकाश आदि है। वे सब गुण अन्य स्कंधोंमें भी पाये जाते हैं। यह बात दूसरी है कि वे यन्त्रमें कुछ अधिक रूपमें पाये जायँ और साधारण स्कंधमें साधारण रूपमें। परन्तु वे पाये दोनोंमें जायँगे। इसलिये मशीनमें हमें किसी नये द्रव्यके माननेकी आवश्यकता नहीं है। मस्तिष्क आदिमें जो चैतन्य बतलाया जाता है उसे हम उसका गुण तभी कह सकते हैं जब वह अन्य स्कंधोंमें भी साबित हो सके, भले ही वह थोड़े रूपमें हो। अन्य स्कंधोंमें चैतन्य साबित होनेसे परमाणुओंमें भी चैतन्य माना जायगा जिसका विकसित रूप मस्तिष्क आदिमें मिलेगा।

लोहेके दो टुकड़ोंके घर्षणसे अगर विद्युत् पैदा होती है तो हम विद्युत्को लोहा नहीं कह सकते या पानीके घर्षणसे पैदा होती है तो हम विद्युत्को पानी नहीं कह सकते हैं। उसी प्रकार स्नायु-प्रक्रियासे पैदा (अभिव्यक्त) होनेवाला चैतन्य स्नायु या मस्तिष्क-रूप नहीं माना जा सकता। इसका कारण ऊपर अच्छी तरह दिखा दिया गया है; फिर भी कुछ वक्तव्य शेष है।

यदि रूप, रस आदिके समान परमाणुओंमें चैतन्य माना जायगा तो सर्व शरीरव्यापी एक अनुभव न होगा। बहुतसे परमाणु मिल करके एक पिंडरूप भले ही हो जावें परन्तु एक परमाणुका रूप दूसरे परमाणुका नहीं बन सकता, न सब परमाणुओंका रूप एक बन सकता है। प्रत्येक परमाणुके गुण जुदे जुदे हैं और वे सर्वदा जुदे ही रहते हैं। ऐसी अवस्थामें शरीरके प्रत्येक अवयवका या परमाणुका चैतन्य जुदा जुदा होगा। किन्तु क्रोध, मान, माया, लोभ, हर्ष, शोक, सुख, दुःख आदि आत्माकी जितनी वृत्तियाँ हैं वे शरीरके प्रत्येक परमाणुकी जुदी जुदी नहीं हैं—सर्व शरीरमें एक ही वृत्ति होती ह। इसलिये सिद्ध होता है कि ये वृत्तियाँ परमाणुओंकी नहीं हैं किन्तु सर्व शरीरमें व्यापक किसी अन्य वस्तुकी हैं, जो कि सर्व शरीरमें व्यापक और अखण्ड है।

प्रश्न—सर्व शरीरमें जो चैतन्यका अनुभव मालूम होता है वह भ्रम है। चैतन्यका अनुभव तो सिर्फ मस्तिष्कमें होता है। किन्तु मस्तिष्कसे सम्बन्ध रखनेवाला नाड़ीजाल सब शरीरमें फैला हुआ है इसलिये सब शरीरमें चैतन्य मालूम होता है।

उत्तर—मस्तिष्क भी एक परमाणुका बना हुआ नहीं है। वह भी अगणित परमाणुओंका पिंड है इसलिये मस्तिष्कका भी एक चैतन्य नहीं कहा जा सकता। किन्तु मस्तिष्कमें जितने परमाणु हैं एक समयमें, उतने ही क्रोध मान आदि भाव होंगे। परन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये अन्तमें जाकर सबमें व्यापक एक अखण्ड तत्त्व मानना पड़ता है।

प्रश्न—अनेक परमाणु मिलकर जब बँध जाते हैं तब उनके गुण

एक-रूप मालूम होते हैं। जैसे मिश्रीकी एक डलीका स्वाद एक मालूम होता है, यद्यपि डलीके प्रत्येक परमाणुका स्वाद जुदा जुदा है। इसी प्रकार मस्तिष्कके या शरीरके प्रत्येक परमाणुका चैतन्य तो जुदा जुदा है किन्तु सब परमाणुओंके पारस्परिक बन्धके कारण वह एक-रूप मालूम होता है।

उत्तर—स्कंधोंमें गुणोंका प्रतिभास एक रूप होने लगता है यह बात मिथ्या है। एक ही स्कंधमें अनेक रंग, रस आदि पाये जाते हैं। एक ही आम किसी अंशमें हरा और किसी अंशमें पीला होता है; ऊपर मीठा और गुठलीके पास खट्टा होता है। जिन स्कंधोंमें हमें अंश-अंशमें विशेषता नहीं मालूम होती है वहाँ भी सदृशता होती है, एकता नहीं। मिश्रीकी डलीका एक अंश दूसरे अंशके समान है, एक नहीं। मस्तिष्कके परमाणु अगर एक सरीखे हो गये हैं तो उनका चैतन्य एक-सरीखा होगा, एक नहीं। परन्तु एक सरीखा भी हम तब कहें जब वहाँ बहुतसे चैतन्य हों। समानता बहुतमें होती है, एकमें नहीं। खैर, इस विषयमें एक और महत्त्वपूर्ण बात कही जा सकती है।

दूसरे पदार्थके ज्ञानमें हमें अनेकमें एकका भ्रम हो सकता है; क्योंकि दूसरे पदार्थका ज्ञान हमें इन्द्रियोंके द्वारा करना पड़ता है और इन्द्रियोंकी तराजू इतनी स्थूल है कि प्रत्येक परमाणु-की तौल उसमें नहीं हो सकती। परन्तु स्वानुभवमें यह बात नहीं है। स्वानुभव चैतन्यका निर्विवाद स्वरूप है। जहाँ चैतन्य अभिव्यक्त होता है वहाँपर, वस्तुका ज्ञान हो चाहे न हो परन्तु, अपना ज्ञान (अनुभव) तो होता ही है। इसलिये मस्तिष्क या शरीरके प्रत्येक

परमाणुको अपना अनुभव होगा। दोका स्वानुभव कभी एक नहीं हो सकता। यदि मस्तिष्कका प्रत्येक परमाणु अपना अपना अनुभव करता है तो समग्र शरीर या समग्र मस्तिष्ककी जो एक वृत्ति पाई जाती है वह किसकी है? वह अखण्ड वृत्ति एक परमाणुकी तो कही नहीं जा सकती, अन्यथा बाकी परमाणु निरर्थक पड़ जायँगे और सब मिलकर एक स्वानुभव कर नहीं सकते क्योंकि चैतन्यको प्रत्येक परमाणुका स्वतंत्र गुण कहा जा सकता है—वह संयोगज कार्य नहीं है, यह बात पहिले सिद्ध की जा चुकी है। इस तरह चैतन्य एक स्वतंत्र गुण है और उसका गुणी भी स्वतंत्र है। उसीको आत्मा, जीव आदि शब्दोंसे कहते हैं।

शंका—आपकी युक्तियोंसे चैतन्य एक स्वतन्त्र पदार्थ या तत्त्व सिद्ध हो जाता है। फिर भी एक आश्चर्य बना रहता है। जब चैतन्य एक स्वतंत्र पदार्थ है तो वह भौतिक सम्मिश्रणोंके अधीन क्यों है? किसी चीज़में कोई दूसरी चीज़ मिलानेसे कीड़े पड़ जाते हैं, गोबर और विशिष्ट मूत्रके सम्बन्धसे तुरन्त बिच्छू पैदा होते हैं। रज-वीर्यके यथायोग्य सम्मिश्रणसे तुरन्त प्राणका संचार होता है। तो क्या असंख्य जीव फालतू फिरते रहते हैं कि जहाँ किसीने कुछ निमित्त मिलाया कि तुरन्त घुस गये? जीव तो अपने शरीरमें रहते हैं। अगर किसीने जीवोत्पत्तिके निमित्त मिलाये तो क्या वहाँ पैदा होनेके लिये अन्य शरीरस्थ जीव मर करके दौड़ आवेंगे? यदि नहीं तो भौतिक निमित्त मिलनेसे ही जीव कहाँसे आ जाते हैं? एक तरफ़ तो जीव भौतिक सिद्ध नहीं होता, दूसरी तरफ़ भौतिक विकारोंके साथ उसको इतना अविनाभाव सम्बन्ध मालूम होता है कि वह आश्चर्यजनक पहेली बन जाता है।

समाधान—जीव एक आश्चर्यजनक पहेली अवश्य है परन्तु इतना निश्चित है कि वह भौतिक पदार्थोंसे एक जुदा ही तत्त्व है। वि त् सरीखी भौतिक वस्तु क्या है, अगर हम आज तक यह बात नहीं जान पाये तो आत्मा तो विद्युत्से भी सूक्ष्म और विचित्र है इसलिये उसके आवागमनके नियम अगर अनिश्चित भी रहें—हम इस समस्याको हल न कर पावें—तो भी जीवके पृथक् अस्तित्वको धक्का नहीं लगता। जीवके विषयमें जो बात अज्ञेय है उसकी खोज करते रहना चाहिये, न कि उसके अनुभव-युक्ति-सिद्ध पृथक् अस्तित्वको नष्ट कर देना चाहिये। दूसरी बात यह है कि उपर्युक्त शंकाओंका थोड़ा-बहुत समाधान मिलता है। पानीकी एक बूँदमें अगणित जीव रहते हैं। जिन चीज़ोंके मिश्रणसे अनेक जीव पैदा होते हैं उनमें भी असंख्य जीव रहते हैं। अगणित जीव हर समय मरते हैं और पैदा होते हैं और सर्वत्र जन्म-मरण होता रहता है। इसलिये छोटी छोटी योनियोंमें दूरसे जीव आवें या न आवें उसके लिये वहीं जीव मिल जाते हैं। इसके अतिरिक्त, 'जीव तुरंत पैदा होते हैं,' यह बात ठीक नहीं हैं। भौतिक सम्मिश्रणके कुछ समय बाद जीव आते हैं। मनुष्य-योनिमें किसीके मतसे सात दिनमें और किसीके मतसे कुछ महीनों बाद जीव आता है। इस लम्बे कालमें तो दूसरे शरीरमें स्थित उच्च श्रेणीके भी बहुतसे जीव मरते हैं। इसके अतिरिक्त नीच श्रेणीका जीव मरकर उच्च श्रेणीमें जा सकता है। इस तरह जीवके आवागमनकी समस्या सामान्य दृष्टिसे हल हो ही जाती है। बाकीके लिये हमें खोज करना चाहिये। उपर्युक्त युक्तियोंसे इतना निश्चित है कि जीव भौतिक तत्त्वोंसे एक जुदा तत्त्व है।

वैज्ञानिक युक्तियोंसे आत्माका पृथक् अस्तित्व सिद्ध कर दिया गया है। थोड़ीसी बातें और भी विचारणीय हैं।

(ग) आत्माके नित्यत्वके लिये जाति-स्मरण भी प्रमाण-रूपमें पेश किया जाता है। जन्मान्तरके स्मरणकी घटनाएँ अगर अंश-रूपमें भी सत्य हैं तो भी वे आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करती हैं। समाचारपत्रोंमें ऐसी बहुत-सी घटनाएँ निकला करती हैं। यद्यपि उनपर अभी विश्वास नहीं किया जा सकता फिर भी इस दिशामें खोज करना चाहिये।

(घ) एक ही माता-पिताकी सन्तानमें बहुत अन्तर पाया जाता है। एक स्वार्थी, कषायी, उद्दंड और मूर्ख होता है; दूसरा परोपकारी, शान्त, विनयी और बुद्धिमान् होता है। कभी कभी तो युगल पैदा होनेवाले बच्चोंमें भी ऐसा अन्तर देखा जाता है। यह भेद रज-वीर्य और वातावरणके भेदसे ही हुआ है, उसमें उन व्यक्तियोंके पूर्वजन्मके संस्कार कारण नहीं हैं---यह साबित करना कठिन है।

इन बातोंमेंसे जो जिसको रुचिकर हो वह उसीसे आत्माके नित्यत्वको समझ सकता है। जो लोग विश्वाससे ज़रा भी काम न लेना चाहते हों उन्हें पहिले और दूसरे विशेषतः दूसरे (ख) पर विशेष ध्यान देना चाहिये। उससे आत्मा एक स्वतन्त्र तत्त्व सिद्ध हो जाता है। स्वतन्त्र तत्त्व सिद्ध हो जानेपर परलोकका मानना अनिवार्य है, क्योंकि किसी तत्त्वका या शक्तिका नाश नहीं होता, सिर्फ़ उसमें परिवर्तन होता है। यह बात प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं और आधुनिक भौतिक विज्ञानका तो यह मूल सिद्धान्त है। इसलिये मरनेके बाद भी आत्माका नाश नहीं हो सकता; उसे कहीं न कहीं

जाना पड़ेगा। 'जहाँ जाना पड़ेगा' वही परलोक है। हमारा वर्तमान जीवन भी किसी भूत जीवनका 'परलोक' है। इस तरह अनादिसे भव-परिवर्तनकी परम्परा चली आ रही है।

इस प्रकार नित्यताका विश्वास रखनेसे वह निर्भय हो जाता है। ऐहिक स्वार्थ उसे इतने तुच्छ मालूम होने लगते हैं कि वह उनके लिये स्व-पर-कल्याणकारी नीतिका अन्तरंगसे या बहिरंगसे भंग नहीं करना चाहता। कल्याणकर होनेसे आत्माकी नित्यताका विश्वास भी सम्यग्दर्शन है।

शंका—आत्माको नित्य, या परलोक, माननेसे लाभ तो ज़रूर है परन्तु हानि भी कुछ कम नहीं है। दुनियाँमें धर्मवेषियोंने जो लूट मचाई है वह परलोकके नामपर मचाई है। पोपोंने, ब्राह्मणोंने, धर्मगुरुओंने अपनेको परलोकका 'लैटर बॉक्स' बतलाकर दुनियाको खूब ठगा है। इसके अतिरिक्त परलोककी आशामें मनुष्य अकर्मण्य हो जाता है। वह ज़िम्मेदारी और जगत्-हितकी पर्वाह नहीं करता।

समाधान—हमें अपनी सारी व्यवस्थाएँ सत्यके आधारपर ही खड़ी करना चाहिये। अगर आत्मा प्रमाणसे सिद्ध होता हो तो उसे नित्य मानकर हमें कल्याणपथका निर्माण करना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि ठगोंके डरसे एक कल्याणकर वस्तुका लोप नहीं किया जा सकता। बीमारीके डरसे भोजनका त्याग नहीं किया जाता है। चन्दनमें सर्प रहनेपर भी चन्दन लाया जाता है। हमें किसी अच्छी वस्तुका नहीं किन्तु उसके साथकी बुराइयोंका त्याग करना चाहिये। पोप आदिकी लूट आत्माकी

नित्यताका परिणाम नहीं किन्तु मिथ्यात्वका परिणाम है। जो लोग धर्मका सम्बन्ध आत्मशुद्धिसे नहीं समझते हैं, पुण्य-पापको भी देने-लेनेकी चीज़ समझते हैं उनको इस प्रकार लुटना पड़ता है। जैन-धर्मने इस प्रकार देने-लेनेकी जड़को शुरूसे ही काट दिया है। इस लिये उसमें इस प्रकार लूटको ज़रा भी गुंजाइश नहीं है। हाँ, जैन-कुलमें पैदा हो करके भी जो जैनत्वसे शून्य हैं वे लुटें तो भले ही लुटें, इसमें जैनधर्मका क्या अपराध है ?

जो लोग अकर्मण्य हैं वे आत्मानित्यवादी नहीं हैं, किन्तु भोले, अज्ञानी और आलसी हैं। उनसे विवेकका क्या सम्बन्ध ? जो आत्म-नित्यवादी हैं वे तो यह समझते हैं कि अगर यहाँ हम कुछ करेंगे तो परलोकमें प्राप्त करेंगे इसलिये वे कभी अकर्मण्य नहीं हो सकते। जैनधर्मका 'त्याग' या 'मुनित्व' अकर्मण्यता नहीं है किन्तु स्वपर-कल्याणकारी साधना है। 'हमें दुनियासे क्या लेना है ? हम तो भगवानका भजन करते हैं, या परलोकपर नज़र रखते हैं' आदि बातें कहकर अपना धर्मात्मापन दिखलानेका अधिकार मनुष्यको तभी मिल सकता है जब वह समाजके द्वारा किये गये उपकारोंका बदला चुका दे और परलोकके ऊपर नज़र रखकर इस लोकमें खाना-पीना आदि बन्द कर दे। 'हमें इस लोकसे क्या मतलब' इस वाक्यका सच्चा अर्थ तो यह है कि 'हमें स्वार्थसे क्या मतलब ? जगत्के हितमें हमारा हित है। दुःखोंको विजय करनेमें हमें सुख है'। इस उदार भावनाके लिये आत्माका नित्यत्वका सिद्धान्त बहुत सहायक है। इस तरह वह वस्तुस्थितिकी दृष्टिसे भी सत्य है और कल्याणकारिताकी दृष्टिसे भी सत्य है; इसलिये सम्यग्दर्शनका कारण है।

शंका—आत्माकी नित्यतामें तथ्य और सत्य दोनों सही, किन्तु अगर किसी कारणसे किसीको आत्माकी नित्यताका प्रमाण न मिला हो, वह परलोकके विषयमें भी अनिश्चित रहा हो तो क्या जैनधर्मके अनुसार वह सम्यग्दृष्टि अर्थात् जैनी कहला सकता है?

समाधान—यह असम्भव नहीं है। जैनत्व कोई दर्शन नहीं, रूढ़ि नहीं, किन्तु धर्म है। दुःखसे उठाकर सुखमें धरनेवाला धर्म कहलाता है *। प्रथम अध्यायमें सुखका मार्ग बतलाया गया है। जो उस मार्गपर दृढ़ विश्वास रखता है, चलनेका विचार रखता है, वह आत्माको नित्य माने या न माने, वह सम्यग्दृष्टि हो सकता है। हाँ, उसमें दुराग्रह न होना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव इतना उदार, परमतसहिष्णु, सर्वधर्मसमभावी या स्याद्वादकी मूर्ति होता है कि वह ऐसे मत-भेदोंसे किसीसे घृणा नहीं करता। उसकी जिज्ञासा जाग्रत रहती है।

यदि कोई धर्मावलम्बी परलोक और आत्माको अज्ञेय कोटिमें डालता है—परलोक और आत्मा है कि नहीं इस विषयमें मौन ही रखता है—फिर भी जैनधर्म उसका कोई अधिकार नहीं छीनता है। वैज्ञानिक क्षेत्रमें कोई मनुष्य कैसा ही विचार रखता हो परन्तु अगर वह समभावी है, सुखमार्गका विरोधी नहीं है तो वह सम्यग्दृष्टि या जैनी तो कहला ही सकता है किन्तु मोक्ष तक प्राप्त कर सकता है। एक जैनाचार्य कहते हैं:—

चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य कोई धर्मा-

---

* संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे। —समन्तभद्र।

१ सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो व तहय अण्णो वा।
समभावभाविअप्पा पावइ मुक्खं न संदेहो॥

वलम्बी हो, जिसका आत्मा समभावसे भावित है वह मोक्ष प्राप्त करता है; इसमें कोई संदेह नहीं।

एक दूसरे आचार्य कहते हैं कि आत्मा ही आत्माका उद्धार करता है; किसी संघ या सम्प्रदायसे आत्माका उद्धार नहीं है *। जिनेन्द्रने समभावमें ही सम्यक्त्व कहा है ×।

कहनेका मतलब यह है कि सुखरूप समभाव और समभावकी उत्पादक दृष्टिपर ही जैनधर्म ज़ोर देता है। इनको नुकसान न पहुँचाकर लोक और परलोकके विषयमें तथा अन्य वैज्ञानिक चर्चाओंमें किसका क्या मत है इसकी वह पर्वाह नहीं करता। हाँ, सत्यकी दृष्टिसे तथा लोक-कल्याणमें परम्परा सहायक होनेसे जैनधर्मने अनेक बातोंपर विस्तृत विचार किया है। किन्तु अगर कोई ऐसे विचारोंसे अर्ध-सहमत या असहमत रहता है तो उसका जैनत्व या सम्यक्त्व नष्ट नहीं हो जाता। शर्त यह है कि वह स्याद्वादका, समभावका, या दूसरे शब्दोंमें प्रथम अध्यायमें बताये हुए सुखमार्गका पूर्ण श्रद्धालु हो, यथा-शक्ति पालक हो।

दूसरे अध्यायमें जो अनेक बातोंका संशोधन किया गया है; उनमेंसे अनेक बातोंसे अगर कोई असहमत रहा हो, निमित्त न मिलनेसे उस संशोधनकी तरफ़ किसीकी अगर दृष्टि न जा पाई हो तो उसका यह अर्थ नहीं है कि वह मिथ्यादृष्टि रहा है; उस संशोधनको पढ़करके भी अगर कोई उसकी सब बातोंसे सहमत न हो तो भी वह

---

* संघो कोवि न तारइ कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो।
अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पावि झाएहि ॥

× समभावे जिणदिट्ठं रायाईदोसचत्तेण। —(द्वादसी गाथा)

मिथ्यादृष्टि न हो जायगा; अथवा उस संशोधनमें कहीं अतथ्य प्रवेश कर गया हो तो भी कोई उसपर विश्वास रखनेसे मिथ्यादृष्टि न हो जायगा; अथवा वहाँ कोई वैज्ञानिक चर्चा अनिश्चित छोड़ दी गई हो तो उससे भी कोई सांशयिक मिथ्यादृष्टि न हो जायगा। क्योंकि ये सब वैज्ञानिक चर्चाएँ हैं; इनपर कोई कैसा ही विश्वास क्यों न रक्खे किन्तु जब तक वह विश्वास समभाव या सुखमार्गका बाधक नहीं है तबतक उससे सम्यग्दर्शनका नाश नहीं हो सकता।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो आपने सर्वज्ञताकी परिभाषामें घोर परिवर्तन, देवागम आदिकी अनुपयोगिता तथा निषेध, मुक्तिकी अनिश्चितता, जैनधर्मकी प्राचीनता, भव्याभव्यका स्वरूप, संसार-शून्यता आदिपर विवेचन क्यों किया? क्योंकि कोई इन बातोंमें आपके मतके विरुद्ध भी रहे किन्तु समभावी हो तो आप उसे सम्यक्त्वी मानेंगे; फिर प्रचलित मान्यतासे उन्हें क्यों हटाना चाहिये? क्यों उन्हें व्यर्थ क्षुब्ध करना चाहिये?

उत्तर—सुखमार्गमें अगर कोई बाधा न आती हो तो अन्य वस्तुओंका ज्ञान मिथ्या होनेपर भी सम्यक्त्वमें बाधा नहीं आती—इसका यह अर्थ नहीं है कि वह असत्यका पोषण करे। सम्यग्दृष्टि जीव सत्यका खोजी होता है, इसलिये उपर्युक्त विषयोंमें भी वह सत्य ही चाहता है। समयाभावादि कारणोंसे वह किसी सत्यपर उपेक्षा भले ही कर जाय परन्तु वह क्षुब्ध नहीं हो सकता। यों भी वह विपरीत विचारोंपर क्षुब्ध नहीं होता, फिर जो विचार युक्ति-युक्त हैं उनपर तो वह श्रद्धा ही दिखलायगा। इतनेपर भी अगर वह क्षुब्ध होता है तो कहना चाहिये कि उसमें समभाव नहीं है इसलिये वह सम्यग्दृष्टि नहीं कहा जा सकता।

बहुतसे विषय ऐसे हैं जिनके विपरीत-विश्वाससे सम्यक्त्वमें बहुत शीघ्र बाधा पहुँचती है। बहुतसे ऐसे हैं, जिनमें बाधा मुश्किलसे पहुँचती है या नहीं पहुँचती। शीघ्र-बाधक विषयोंको सत्य-रूपमें ही प्रकाशित करनेकी ज़रूरत है। अगर हममें उन्हें सत्य-रूपमें रखनेकी योग्यता न हो तो वे अनिश्चित भले ही रहें (अनिश्चित रहनेसे उनके सत्य निश्चित होनेका प्रयत्न होता रहता है।) परन्तु विपरीत निश्चित न होना चाहिये। सर्वज्ञताकी वर्तमान परिभाषासे हमारा विकास रुकता है, देवागम आदिकी घटनाएँ अकर्मण्य और दैवैकान्त-वादी बननेको उत्तेजित नहीं करती हैं, संसार-शून्यता आदिका विवेचन सत्यकी खोजके लिये उत्तेजित करता है। विश्वकी समस्याको सुलझा-नेके लिये किसी विषयका विपरीत निश्चय या अन्धनिश्चय बहुत बाधक होता है। सबसे बुरी बात तो यह है कि जब हम सत्यके साथ असत्यको मिला देते हैं तब सत्य भी अविश्वसनीय हो जाता है। एक जौहरी अगर असली हीरोंको नकली हीरोंमें मिलाकर रक्खे तो वह अपनी दूकानकी साख खो देगा, उसके असली हीरोंको भी लोग नकली समझकर उनपर उपेक्षा करेंगे। इसी प्रकार अगर हम तर्कविरुद्ध बातोंको प्रामाणिक कह कर दुनियाके सामने रक्खेंगे और जब वे असत्य या अविश्वसनीय सिद्ध होंगीं तो उनके साथ ही हम सत्य और विश्वसनीय बातोंपर भी विश्वास न करा सकेंगे। हमारे धर्मकी तरफ या सत्यकी तरफ़ लोगोंको कोई आकर्षण न रहेगा, हमारी साख उठ जायगी। इसलिये असत्यका निर्दयतासे संहार करनेकी ज़रूरत है। सत्यकी रक्षाके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न—आपकी इस सत्यकी भक्तिसे सम्यग्दृष्टियोंको लाभ ही है।

जो लोग जिज्ञासु हैं उनको भी लाभ ही है। परन्तु जो लोग वास्तवमें सम्यग्दृष्टि नहीं हैं फिर भी द्रव्यदृष्टिसे धार्मिक जीवन व्यतीत करते हैं, अरहंत आदिके कल्पित अतिशयोंपर विश्वास रखके भक्तिसे अपने हृदयको पवित्र रखते हैं, परलोकके और मोक्षके अमुक निश्चित रूपकी आशासे परोपकार आदि सत्कर्म करते हैं, उनको तो बड़ा धक्का लगेगा, उनकी आशा निराशामें परिणत हो जायगी, उनका उत्साह मन्द हो जायगा, वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जायँगे। उनके लिये आपका यह तथ्य-रूप सत्य भी असत्यका काम करेगा।

उत्तर---किंकर्तव्य-विमूढ़ तो वे तब हों जब उनके लिये सभी दिशाएँ अन्धकारपूर्ण हों। परन्तु उनके लिये निराशाका कोई कारण नहीं है। स्वर्ग या मोक्षका जो सौदा वे करना चाहते हैं वह सिर्फ़ कल्याण या सुखके लिये ही तो है। सो स्वर्ग-मोक्षका अभाव नहीं किया गया है, 'वह कैसा है' सिर्फ़ इसी बातमें खोज करनेकी आवश्यकता बतलाई गई है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि पवित्रात्माका जीवन परलोकमें सुखमय है और अपवित्र आत्माका जीवन दुःखमय है। इसलिये निराशाकी क्या बात है? जो लोग बाहिरी अतिशयोंके कारण किसी व्यक्तिकी उपासना करते हैं या प्राचीन होनेके कारण किसी बातपर विश्वास करते हैं उनके धर्मकी इमारत बहुत कच्ची नींवपर खड़ी है। इस प्रकारका अतिशय दिखलाकर कोई भी आदमी उन्हें पथसे विपथमें फेंक सकता है। ऐसे लोगोंको अपने धर्मकी इमारत पक्की नींवपर खड़ी करना चाहिये। सबसे बड़ी बात तो यह है कि धर्मका फल सिर्फ़ पारलौकिक ही नहीं है किन्तु लौकिक है, प्रत्यक्ष है। ऐहिक भलाईके लिये भी

धर्म अत्यन्त आवश्यक है। प्रथम अध्यायमें इस विषयपर उचित विवेचन किया गया है। प्राचीनताके कारण जैनधर्मको मान देने-वाले तो और भी कच्ची जगहपर हैं। वर्तमानके सब धर्मोंकी अपेक्षा हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप कहीं अधिक पुराने हैं परन्तु इसीलिये वे कल्याणकर या विश्वसनीय नहीं हैं।

छोटे बच्चोंको कुत्ता, बिल्ली आदिकी कहानियोंसे शिक्षा दी जाती है परन्तु बड़ी अवस्थामें उन्हें ऐसी कहानियोंसे संतोष नहीं होता। उनको अन्य प्रामाणिक कथाओंकी आवश्यकता होती है। बच्चेको रबरकी या लकड़ीकी नकली गुड़िया काम दे जाती है, परन्तु युवावस्थामें असली गुड़िया (पत्नी) की ज़रूरत होती है।

धर्मके विषयमें भी यही बात है। प्रारम्भमें कल्पित बातोंसे किसीको संतोष भले ही होता हो, परन्तु वह सदा काम नहीं दे सकता। सम्यग्दृष्टि बननेके लिये उनका छोड़ना आवश्यक है। फिर भी कोई बच्चा बना रहना चाहता है तो भले ही बना रहे, परन्तु नकली गुड़ियोंके लिये असली गुड़ियोंकी हत्या नहीं की जा सकती। अगर हम मिथ्यादृष्टियों या द्रव्य-सम्यक्त्वियोंको भावसम्यक्त्वी बनाना चाहते हैं तो कच्ची बुनियादको हटाकर पक्की बुनियाद करना पड़ेगी।

प्रश्न—आप सुखमार्गपर ही इतना ज़ोर देते हैं। बाकी बातोंकी असत्यताकी पर्वाह नहीं करते; किन्तु शास्त्रोंमें तो कहा है कि जो एक अक्षर भी न माने वह मिथ्यादृष्टि है*।

उत्तर—जिस शास्त्रमें मिथ्यादृष्टिकी यह परिभाषा की गई है उसमें शास्त्र भी उसे कहा गया है जो गणधरों, प्रत्येकबुद्धियों, श्रुतके-

* पदमक्खरं च एक्कं पि जो ण रोचेदि सुत्तणिद्दिट्ठं।
सेसं रोचंतो वि हु मिच्छाइट्ठी मुणेयव्वो। ३९—भगवती आराधना।

वलियों या दशपूर्वियोंद्वारा कहा गया हो* । वर्तमानके दिगम्बर शास्त्र और श्वेताम्बराचार्योंके द्वारा बनाये गये शास्त्र इन चारोंमेंसे किसीके भी बनाये हुए नहीं हैं इसलिये इनके अक्षरपर विश्वास रखने-न-रखनेसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि शास्त्र आदिके विश्वास-अविश्वासपर सम्यक्त्व निर्भर नहीं है । शास्त्रका विश्वास-अविश्वास तो साम्प्रदायिकतासे सम्बन्ध रखता है । सम्यक्त्व किसी सम्प्रदायका अंग नहीं, धर्मका अङ्ग है । सम्यक्त्वके साम्प्रदायिक अर्थको छोड़कर हमें धार्मिक अर्थ लेना चाहिये । इसलिये अक्षरका अर्थ शास्त्रका अक्षर नहीं, किन्तु सत्यका अक्षर करना चाहिये । अक्षर-श्रुतज्ञान (विचारात्मक ज्ञान) का एक छोटा माप है । जो सत्यके एक अक्षरको भी नहीं मानता उसे मिथ्यादृष्टि कहना चाहिये । 'न मानना' का अथ भी यहाँ दुराग्रह या एकान्तवाद है । मैं पहिले कह चुका हूँ कि सम्यग्दृष्टि जीव सत्यका परमभक्त होता है । वह आवश्यक सत्यको ग्रहण कर बाकी सत्यपर उपेक्षा भले ही कर जाय परन्तु दुराग्रहसे सत्यका विरोध नहीं करता । इसलिये उसके विषयमें यह कहा जाता ह कि वह सत्यके अक्षरके विषयमें भी अविश्वास नहीं करता ।

सम्यग्दर्शनके चिह्न

सम्यग्दृष्टिका बहुत कुछ विवेचन हो जानेपर भी उसकी सामग्री अधूरी ही रहती है । इसलिये उसे पहिचाननेके लिये कुछ चिह्नोंका विवेचन और किया जाता है ।

---

* सुत्तं गणहरकहियं तहेव पत्तेयबुद्धिकहियं च ।
सुदकेवलिणा कहियं अभिण्णदसपुव्वकहियं च ॥ ३४ ॥ —भ० आ०

सम्यग्दृष्टि जीवमें प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये पाँच चिह्न पाये जाते हैं।

तत्त्वके मिथ्या पक्षपातसे उत्पन्न होनेवाले दुराग्रह आदि दोषोंकी शान्तिको प्रशम कहते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव सर्वधर्मसमभावी होता है, यह बात पहिले कह चुका हूँ। प्रशमका अर्थ भी वही है।

सांसारिक बन्धनोंका भय संवेग है। अर्थात् जिन वृत्तियोंसे प्राणि-समाज एक दूसरेका और अपना अकल्याण कर रहा है और उनके कारण वह जैसे जैसे कष्ट भोग रहा है उनसे उसे भय अर्थात् दूर रहनेकी उत्कट वृत्ति पैदा होती है। वह पाप-रूप अर्थात् अकल्याण-रूप वृत्तियोंसे अलग होनेकी पूरी चेष्टा करता है। और जब तक वह उन वृत्तियोंका अभाव नहीं कर पाता तब तक उसके मनपर एक प्रकारकी अशान्ति, घबराहट, भय या चिन्ता सवार रहती है। यही संवेग है।

जो अकल्याणकारी है वही बन्धन है। जो कल्याणकारी है उसे बन्धन नहीं कह सकते। सत्य बन्धन नहीं है; असत्य बन्धन है। बन्धनका काम इच्छित स्थानमें जानेसे रोकना है। हिंसा, असत्य आदि पाप हमको इच्छित स्थानमें (सुखरूप स्थानमें) जानेसे रोकते हैं इस-लिये ये बन्धन हैं।

प्रश्न—किसी सीमाके भीतर रहना पड़े इसे बन्धन कहते हैं। इसी दृष्टिसे सत्य आदि एक प्रकारके बन्धन हैं क्योंकि सत्यसे वचन-पर अङ्कुश पड़ता है और असत्य बोलनेमें स्वतन्त्रता है क्योंकि इससे मनचाही छूट मिलती है।

उत्तर—प्रत्येक गुणका एक आभास हुआ करता है। कभी

कभी हम उस गुणाभासको गुण समझकर धोखा खा जाते हैं। जिस प्रकार गुणाभास गुण सरीखा मालूम होता है, उसी प्रकार दोषाभास दोष-सरीखा मालूम होता है। सत्य, बन्धन नामका दोष नहीं किन्तु, बन्धनाभास अर्थात् मर्यादा नामका गुण है। इसी प्रकार असत्य, यह स्वतन्त्रता नामका गुण नहीं किन्तु, स्वतन्त्रताभास अर्थात् उच्छृंखलता नामका दोष है। बन्धन किसे कहना और मर्यादा किसे कहना—इस बातके निर्णयके लिये यह जानना चाहिये कि कल्याणकर कौन है और अकल्याणकर कौन है। जो अकल्याणकर हो वह बन्धन है; जो कल्याणकर हो वह मर्यादा है। इसी प्रकार जो अकल्याणकर है वह उच्छृंखलता है; जो कल्याणकर है वह स्वतन्त्रता है। मतलब यह कि विश्व-कल्याणकी कसौटीपर हमें गुण-दोषकी जाँच करना चाहिये। इस कसौटीपर हमें सत्य, बन्धन नहीं, मर्यादा मालूम होगा; असत्य, स्वतन्त्रता नहीं, उच्छृंखलता मालूम होगा। 'संवेगी प्राणी संसारके बन्धनोंसे भीत होता है' इसका यह अर्थ नहीं है कि वह मर्यादासे डरता है या उत्तरदायित्वको भूलता है। संवेगी प्राणी पापसे और पापके फलसे डरने लगता है इसका फल यह होता है कि वह स्व-पर-अकल्याण नहीं करता।

विषय भोगोंमें अनासक्तिको निर्वेद कहते हैं। शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये या उसे टिकाये रखनेके लिये जो सामग्री ग्रहण की जाती है उसे विषय-भोग नहीं कहते। खाते समय स्वादपर दृष्टि रखना एक बात है और शरीर-स्थिति या स्वास्थ्यपर दृष्टि रखना दूसरी बात है। स्वादके लिये मनुष्य अधिक खाकर अपना अकल्याण करता है और दूसरोंके हक़का खाकर परका अकल्याण करता है। यही बात हरएक इन्द्रियके विषयके लिये कही जा सकती है।

निर्वेदी मनुष्यकी यह इच्छा रहती है कि मेरे हिस्सेका जितना अन्न है, जितना वस्त्र है और जितना स्थान है उतना ही मुझे ग्रहण करना चाहिये। देशमें जितनी सामग्री और जितने निवासी हैं उनमें उसका हिस्सा कर लेनेपर जो एक भाग उपलब्ध हो उतनी सामग्रीका सेवन विषय-भोग नहीं कहलाता। इससे अधिकको विषय-भोग कहते ह जिसमें निर्वेदीकी आसक्ति नहीं रहती। अगर किसी कारण-वश वह अधिक सामग्रीका भोग करता है तो ऐसा वह अनिच्छापूर्वक करता है और इसके लिये अपनेको धिक्कारता है। अनिच्छापूर्वक ग्रहण करने और धिक्कारनेका प्रयोजन यह है कि वह जब भी संभव हो तभी उस अधिक सामग्रीका भोग करना छोड़ दे और जबतक न छोड़ सके तबतक वह समाजका अर्थात् उन लोगोंका, जिनको कि अपना हिस्सा पूरा नहीं मिलता है, अपनेको अपराधी समझे। इस तरह यह निर्वेद, सिर्फ़ निषेधात्मक नहीं है किन्तु, विश्वकल्याणके लिये विधायक कार्यक्रमका एक अङ्ग है।

प्राणियोंके ऊपर दयाभाव रखना अनुकम्पा है। मैत्री, सहानुभूति आदि इसके नामान्तर हैं। कोई प्राणी दुःखी न हो, इस प्रकारकी भावना, अथवा दूसरोंको सुखी बनानेकी भावना, अनुकम्पा है। प्रथम अध्यायमें कहा जा चुका है कि अपने कल्याणको विश्व-कल्याणके रूपमें परिणत कर देनेसे अपना वास्तविक कल्याण हो सकता है। बिना अनुकम्पाके यह बात नहीं हो सकती। अनुकम्पाके द्वारा परस्पर सहायतासे दुःखमें कमी होती है। इसलिये अनुकम्पा भी कल्याणके साधनका अंग है।

कल्याणके मार्गमें दृढ़ विश्वास रखना आस्तिक्य है। आस्तिक

शब्दके जुदे जुदे समयमें जुदे जुदे अर्थ रहे हैं । ' जो आत्मा, पर-लोक आदिको माने वह आस्तिक और जो इन्हें न माने वह नास्तिक ' ऐसी एक परिभाषा है । ' जो वेदको माने वह आस्तिक और जो वेदको न माने वह नास्तिक ' ऐसी दूसरी परिभाषा है । जब आस्तिक और नास्तिक स्तुति-निंदासूचक शब्द हो गये, सिर्फ विचार-सूचक न रहे तब दूसरे सम्प्रदायोंकी निंदा करनेके लिये उनको नास्तिक कहा जाने लगा । और बढ़ते बढ़ते बात यहाँ तक बढ़ी कि जो अपने विचारोंका न हो वह नास्तिक कहा जाने लगा । इस प्रकार आस्तिक-नास्तिक शब्दोंकी अनेक परिभाषाएँ हैं । परन्तु इन शब्दोंका सीधा और सरल अर्थ यह है कि जो किसी बातको 'स्वीकार करे' वह आस्तिक और ' जो स्वीकार न करे ' वह नास्तिक । ऐसी बहुत-सी बातें हैं जिन्हें हम स्वीकार करते हैं, उनके विषयमें हम आस्तिक हैं; और ऐसी बहुतसी बातें हैं जिन्हें हम स्वीकार नहीं करते, उनके विषयमें हम नास्तिक हैं । इस प्रकार हरएक मनुष्य किसी दृष्टिसे आस्तिक और किसी दृष्टिसे नास्तिक है ।

प्रश्न—जब प्रत्येक मनुष्य आस्तिक और नास्तिक है तब सम्य-ग्दृष्टिको आस्तिक कहनेकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—किसी मनुष्यको आस्तिक या नास्तिक कहते समय हमें यह विचार करना चाहिये कि उपयोगी तत्त्वके विषयमें वह कैसा ह । प्रत्येक प्राणीका अंतिम लक्ष्य सुख है । इसलिये अगर कोई प्राणी सुखके अर्थात् कल्याणके सच्चे मार्गमें आस्तिक है और बाकी बातोंमें नास्तिक है तो हम उसे आस्तिक ही कहेंगे; और जो प्राणी कल्याण-मार्गमें नास्तिक है और बाकी बातोंमें आस्तिक है, उसे हम नास्तिक

ही कहेंगे। आस्तिकता-नास्तिकता अमुक पोथी-पुस्तक, व्यक्ति आदिके विश्वास अविश्वासपर निर्भर नहीं है किन्तु कल्याण-मार्गके विश्वास-अविश्वासपर निर्भर है। इस परिभाषाके अनुसार आस्तिकता एक प्रशंसनीय तथा आवश्यक गुण हैं। अगर यह परिभाषा न ली जाय तो अन्य परिभाषाके अनुसार सम्यग्दृष्टि जीव आस्तिक भी हो सकता है और नास्तिक भी हो सकता है। वैसी आस्तिकताओं और नास्तिकताओंसे उसका सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता। हाँ, कल्याण-मार्गपर दृढ़ आस्थारूप आस्तिक्य उसमें ज़रूर होगा।

निर्भयता—सम्यग्दृष्टिमें सात प्रकारके भय नहीं होते। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायमें इस विषयमें थोड़ा-सा पाठभेद और कुछ अर्थभेद है। श्वेताम्बर पाठ यह है—१ इहलोक-भय, २ परलोक-भय, ३ वेदना-भय, ४ मरण-भय, ५ आदान-भय, ६ अश्लोक-भय, ७ अकस्माद्भय।

दिगम्बर-पाठमें आदान-भयके स्थानमें अत्राणभय और अश्लोक-भयके स्थानमें अगुप्तिभय है।

इहलोकभय—लोकका अर्थ है समाज। इहलोकका अर्थ है अपना समाज अर्थात् मनुष्य-समाज। और परलोकका अर्थ है विजातीय समाज अर्थात् पशु आदि समाज। सम्यग्दृष्टिको किसीसे भी भय नहीं होता। दिगम्बर सम्प्रदायमें इसका अर्थ इस जन्मसे भय और परलोक-भयका अर्थ है मरनेके बादके दूसरे जीवनसे भय। दोनोंमेंसे कोई भी अर्थ लिया जाय परन्तु सम्यग्दृष्टिको ये सब भय नहीं होते इसलिये इन अर्थोंमें कुछ भी आपत्ति नहीं है।

संसारमें व्यक्तिगत (खुदका) स्वार्थ और समष्टिगत (सबका)

स्वार्थ किस प्रकार मिले हुए हैं यह बात प्रथम अध्यायमें कही जा चुकी है। जब समष्टिकी वास्तविक उन्नति होती है तब व्यक्तिकी भी उन्नति होती है। इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव व्यक्तिकी उन्नतिके लिये समष्टिकी उन्नतिका कार्य करता है, इसीको वह अपना कर्तव्य समझता है। इसके अतिरिक्त वह सहन-शक्तिको भी बढ़ाता है जिससे वह कष्टोंसे लड़ सके। जिसमें ये दोनों बातें होती हैं उसको कर्तव्य-कार्य करनेमें कोई भी ऐहिक भय बाधा नहीं डालता। विपत्तियाँ तो हरएक व्यक्तिपर आती हैं। जो उनसे डर जाता है वह पराजित कहलाता है। जो नहीं डरता वह विजयी कहलाता है। सम्यग्दृष्टि विजयी है, जिन है, इसलिय उसमें इहलोक-भय नहीं होता।

इहलोक-भयके कारण अनेक हैं, परन्तु उनको हम दो भागोंमें बाँट सकते हैं। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग। किसी प्रिय वस्तुका वियोग हो जाना इष्ट-वियोग है। प्रिय वस्तुके भी दो भेद किये जा सकते हैं—एक सहयोगी, दूसरा भोग्य। माता, पिता, पति, पत्नी, पुत्र, भाई, बहिन, मित्र आदि सहयोगी हैं। धन-सम्पति आदि इन्द्रिय-विषय-रूप-सामग्री भोग्य है। सम्यग्दृष्टिको सहयोगियोंकी भीतरी चिन्ता नहीं रहती। वह अपने उत्तरदायित्वको पूरा करता है, अपने सहयोगियोंके साथ जिस प्रेमभावका व्यवहार करना चाहिये उसका व्यवहार भी करता है फिर भी—जैसा कि पहले कहा जा चुका है—उसका कुटुम्ब सारा जगत् रहता है। इसलिये अगर कभी उसे इष्ट-वियोग सहना पड़े तो उससे वह डरता नहीं है। इसलिये इष्ट-वियोग कर्तव्य-पथमें उसे बाधक नहीं होता। भोग्य सामग्री-रूप इष्टके वियोगका तो उसे भय और भी कम होता है।

वह सोचता है कि धन, सम्पत्ति आदि मेरे हाथसे निकल जायगी तो दूसरेके हाथमें जायगी। अपने हिस्सेमें अधिक सम्पत्ति रखनेको वह उचित तो समझता ही नहीं है, इसलिये अगर सामाजिक रचनाके कारण उसके हाथपर सम्पत्तिका बोझ आया है तो वह धरोहर आदिकी तरह उसकी रक्षा करता है और चले जानेसे डरता नहीं है।

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि अगर इतना उदार होता है तब तो अगर कोई किसीकी चोरी करेगा तो उसे वह न रोकेगा। क्योंकि चोरीसे वह दूसरेके हाथमें जाती है जिसे कि उसकी जरूरत है। इस तरह सम्यग्दर्शन चोरीका समर्थक कहलाया।

उत्तर—सम्यग्दृष्टि अपनी सहन-शक्ति और विश्व-प्रेमके कारण सम्पत्तिके छिननेसे नहीं डरता; वह यह भी चाहता है कि सभी प्राणियोंको अपनी योग्यता और आवश्यकताके अनुरूप इष्ट सामग्री मिले। परन्तु इसके लिये वह चोरीका अनुमोदन नहीं कर सकता। क्योंकि चोरीसे संपत्तिका ठीक ठीक विभाजन नहीं होता। इससे गरीब और साधारण परिस्थितिके लोग ही अधिक लुटते हैं, धनवान लोग तो तलवार बन्दूक आदिके प्रबन्धसे लुटनेसे बचे रहते हैं। दूसरी बात यह है कि इससे एक क्षण भी किसीको चैन न मिलेगी। स्वयं चोरको भी इस बातका डर रहेगा कि कोई मेरी चोरी न कर जाय। इसलिये चौर्य-कर्मका तो सम्यग्दृष्टि-विरोधी होता है क्योंकि यह समष्टिगत दुःखका कारण है। फिर भी उसे संपत्तिके चुराये जानेका भय नहीं होता। इसका कारण यह है कि उसका जीवन निर्लिप्त विश्वप्रेममय और सहनशील है। सम्पत्ति छिनती है इसलिये

वह चोरीका विरोध नहीं करता किन्तु चोरी, दुःखदायी कुनीति है इसलिये विरोध करता है। वह सम्पत्तिके छिननेका भय न करेगा किन्तु चोरी एक पाप है इसलिये उसका विरोध करेगा। कर्तव्यके लिये तो वह सर्वस्व लुटा देगा।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि सम्यग्दृष्टि कर्तव्य-तत्पर होनेके साथ जीवनको एक प्रकारका नाटक समझता है। इसलिये न तो वह इष्ट-वियोगसे डरता है न अनिष्ट-संयोगसे। इसका फल यह होता है कि जो आपत्तियाँ मनुष्यको कर्तव्यमार्गसे गिरा देती हैं या शिथिल कर देती हैं उन आपत्तियोंका सम्यग्दृष्टिको भय नहीं होता।

निर्भयताका यह अर्थ नहीं है कि रोज़मर्राके व्यवहारमें उसे साधारण भय भी नहीं होता। वह अग्निसे डरकर अग्निमें अँगुली नहीं देता इससे उसे ऐहिकभयका दोष नहीं लगता। ऐहिक भयके त्यागका अर्थ यह है कि वह कर्तव्य-कार्य करनेके लिये ऐहिक विपत्तियोंसे नहीं डरता।

परलोक-भय—यह भी सम्यग्दृष्टिके कर्तव्य-मार्गमें बाधा नहीं डालता, क्योंकि उसका जविन इतना पवित्र रहता है कि उसे परलोककी चिन्ता नहीं होती। जिसका जीवन अपवित्र होता है वह परलोकके नामसे काँपता है। 'ऐसा न हो कि मैं परलोकमें गरीब बनूँ, नीच बनूँ, दुःखी बनूँ,' इत्यादि विचार उसे चैन नहीं लेने देते। परन्तु सम्यग्दृष्टिको इन बातोंकी चिन्ता नहीं होती। वह कर्तव्य-कर्मकी चिन्ता करता है, फलकी चिन्ता नहीं करता। ऐसा मनुष्य, स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये, किसी देवको खुश करनेके लिये, नैतिक पाप करके भी नरकादिसे बचनेके लिये, हिंसादि विधायक, अनावश्यक और भ्रमपूर्ण, क्रियाकांडके जालमें नहीं फँसता।

प्रश्न—परलोकका भय तो धर्मात्मापनका चिह्न माना जाता है। जब कोई पाप करता है तो उसे पापसे निवृत्त करनेके लिये कहा जाता है कि भाई, कुछ परलोकसे डरो! फिर सम्यग्दृष्टि, परलोकका भय क्यों नहीं रखता?

उत्तर—'डरना' के प्रयोग अनेक तरहके हैं। कभी कभी ऐसा बोला जाता है कि 'पापसे डरो' तब 'पापसे डरने'का अर्थ है पापके फलसे डर कर पापसे घृणा करना। जब कहा जाता है कि 'ईश्वरसे डरो!' तब इसका अर्थ है 'ईश्वरके न्यायपर विश्वास रक्खो' 'वह तुम्हारे कर्मका फल जरूर देगा।' 'परलोकसे डरो' इसका अर्थ है कि पाप करनेपर भी अगर तुम्हें इस जन्ममें उसका फल नहीं मिल पाया है तो परलोकमें जरूर मिलेगा इसलिये परलोकसे डर कर पाप मत करो। भावनाके भेदसे भय अनेक तरहका होता है। ईश्वरका भी भय होता है और शैतानका भी भय होता है; परन्तु इन दोनोंमें बहुत अन्तर है। परलोकसे डरनेका अर्थ जहाँ कर्मफलपर विश्वास है और उस विश्वाससे पापसे दूर होनेका विचार है वहाँ वह बुरी चीज़ नहीं है। ऐसा भय तो सम्यग्दृष्टिके संवेग चिह्नमें बताया गया है। परन्तु एक दूसरे प्रकारका डर होता है जो पापीके मनमें वास करता है। जिस प्रकार एक ईमानदार आदमी न्यायाधीशसे नहीं डरता, क्योंकि वह जानता है कि मैं निरपराध हूँ और निरपराधको न्यायाधीश दण्ड नहीं दे सकता, और एक अपराधी न्यायाधीशके नामसे काँपता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवको परलोकका भय नहीं होता और मिथ्यादृष्टि परलोकके नामसे काँपता है।

वेदनाभय—रोग आदिकी वेदनाओंका भय सम्यग्दृष्टिके कर्तव्य-

मार्गमें बाधा नहीं डालता। जिसने कर्तव्यमय जीवन बनानेका निश्चय किया है; जो निर्लिप्त होकर सब काम करता है उसे बीमारी आदि कभी भीत नहीं कर सकतीं।

इसका यह मतलब नहीं है कि वह बीमार बना रहता है। उसकी दृष्टिमें तो बीमारी भी एक पाप है क्योंकि वह एक प्रकारकी हिंसा है। बीमारीसे मनुष्य स्वयं दुःखी होता है इसलिये वह आत्म-हिंसा है और बीमार बनकर वह अपने कुटुम्बियों, मित्रों तथा अन्य सहयोगियोंको कष्ट देता है, उनसे परिचर्या कराता है, इसलिये वह परहिंसा भी है।

प्रश्न—जो कार्य अपने वशका है उसपर पुण्य-पापका विचार किया जा सकता है। रोग तो अपने वशका नहीं है इसलिये उसे पाप क्यों कहना चाहिये?

उत्तर—अधिकांश रोग जिह्वालोलुपता आदि असंयमके फल होते हैं। अगर कोई मनुष्य इन्द्रियोंको वशमें रक्खे तो उसे कभी बीमार न होना पड़े। कोई मनुष्य बीमार होता है तो वह असंयमी सिद्ध होता है और असंयम तथा पाप एक ही हैं। हाँ, बीमारियाँ किसी लोकोपकार करनेके कारण आई हों तथा उस लोकोपकारके लिये अर्थात् कर्तव्य करनेके लिये उनका आना अनिवार्य हो तो फिर उन्हें पाप नहीं कह सकते। फिर भी उसमें विवेककी ज़रूरत है। स्पष्टताके लिये हम ऐसी दो स्त्रियोंकी कल्पना करें जिनके पति बीमार हैं। एक स्त्री ऐसी है जो कि पतिकी सेवाके लिये सदा सतर्क रहती है, लेकिन किसी तरह समय निकाल कर वह भोजन भी करती है, सोती भी है और इस तरह अपने स्वास्थ्यको सम्हालकर रखती है। दूसरी

स्त्री भी पतिसेवामें संलग्न है, परन्तु आवश्यकता हो या न हो, दिनरात जागरण करती है, भोजनादिकी भी पर्वाह नहीं करती तथा इस तरह स्वयं बीमार हो जाती है और समझती है कि मैंने पति-सेवाके लिये यह त्याग किया है। पहिली स्त्रीका प्रेम विवेकसहित होनेसे पुण्य-रूप है। दूसरीका प्रेम विवेकशून्य होनेसे मोहरूप हो गया है और मोह तो पाप है। व्यवहारमें हम उसे भले ही पाप न कहें किन्तु वास्तवमें वह पाप है क्योंकि स्वपर-दुःखका कारण है। पहिली स्त्री पतिकी सेवा अधिक कर सकती है और दूसरी स्त्री सेवकताका प्रद-र्शन करके अपने पतिको ऋणके जालमें जितना बाँधती है उतनी सेवा नहीं करती। पहिली स्त्री सम्यग्दृष्टि है, दूसरी मिथ्यादृष्टि; यद्यपि दूसरीका त्याग अधिक है। जो बात दो स्त्रियोंके विषयमें कही गई है वही बात पति, पुत्र आदि सभीके विषयमें कही जा सकती है। कहनेका तात्पर्य यह है कि जो बीमारियाँ कर्तव्य करनेके कारण अनिवार्य होनेसे आती हैं अथवा जो पैतृक हैं वे तो निष्पाप हैं या क्षन्तव्य हैं। किन्तु जो असंयमसे या अविवेकसे पैदा होती हैं वे पाप हैं। सम्यग्दृष्टि पहिली तरहकी बीमारियोंसे बिलकुल नहीं डरता, और दूसरी तरहकी बीमारियोंसे बचा रहता है। अगर कभी प्रमाद-वश ऐसी बीमारियाँ आ जाती हैं तो भी वह उनसे निर्भय रहकर अपना कर्तव्य करता है।

मरणभय—मृत्युका डर भी सम्यग्दृष्टिको कर्तव्यमार्गसे गिरा नहीं सकता। जैसे वह जीवनको एक प्रकारका नाटक समझता है, उसी प्रकार मृत्यु भी उसके लिये एक प्रकारका नाटक है। कर्तव्यके लिये वह शरीरको पुराने कपड़ेके समान छोड़ देता है। मृत्युका भय

एक बड़ासे बड़ा भय है। कर्तव्य पूरा करनेके लिये मृत्युका भय अवश्य जीत लेना चाहिये। अवसर आनेपर जो लोग जानपर खेल सकते हैं, वे ही अपना और जगत्का कल्याण कर सकते हैं। अगर अपना ऐहिक जीवन पवित्र है तो उसे कर्तव्यपर चढ़ा देनेसे वह और भी अधिक पवित्र जीवनका कारण होगा। अगर ऐहिक जीवन अपवित्र है तो कर्तव्यकी वेदीपर उसको बलि कर देनेसे अपवित्र जीवनका नाश ही होगा। और यह तो पूरा लाभ ही है।

संसारमें जो अत्याचार होते हैं, उनका प्रधान सहारा (अवलम्बन) मृत्यु-भय ही है। अत्याचारी अगर अत्याचार करता है तो सहन करनेवालोंको उसे क्यों सहन करना चाहिये? अगर पीड़ित लोग जानपर खेलकर अत्याचारके विरुद्ध खड़े हो जायँ तो अत्याचार नष्टप्राय हो जायँ। कोई आदमी यदि किसीपर अत्याचार करता है तो प्रायः उसके जीवनसे लाभ उठानेके लिये करता है; किन्तु जब पीड़ित मरनेके लिये तैयार होता है, परन्तु अत्याचार सहनेके लिये तैयार नहीं होता, तब अत्याचारीको अत्याचार करना अशक्य हो जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु वह निरर्थक भी होता है। जैसे, कोई दुष्ट शासक अगर प्रजाके ऊपर अत्याचार करता है और यदि प्रजा उसके विरोधमें मरनेतकके लिये तैयार हो जाती है तो वह शासक सामना नहीं कर सकता। अगर सामना करे भी, और प्रजा मर भी जाय (ऐसी घटना इतिहासमें अभी तक नहीं हुई) तो वह शासन किसपर करेगा? इसीलिये उसका अत्याचार निरर्थक ही हो जायगा। 'मर जाओ, पर अत्याचार मत सहो' इस प्रकारकी भावना जगत्कल्याणके लिये आवश्यक है। बिना मृत्यु-भयके जीते ऐसी भावना हो नहीं सकती।

प्रश्न—आत्मघात करनेवाला मनुष्य, मृत्युकी तरफ़से निर्भय है—यह कहा जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—ऐसी भी घटनाएँ हो सकती हैं या कल्पित की जा सकती हैं, जिनमें आत्मघात भी वीरता या निर्भयता कही जा सके। जैसे, अगर कोई पुत्र पिताका घात करने लगे और पिता, यह सोचकर कि दुनियाके सामने पितृ-घातकताके बुरे नमूने न आने पावें, अपना घात कर ले तो उसे कायर नहीं कह सकते। और भी अनेक तरहके अपवाद हो सकते हैं। परन्तु इन अपवादोंको छोड़ दिया जाय तो आत्मघात, निर्भयता या वीरताका चिह्न नहीं किन्तु, कायरताका चिह्न है। मृत्युकी निर्भयता आपत्तियोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेके लिये है जब कि आत्म-घात तो आपत्तियोंसे हारकर कायरतासे किया जाता है। कोई गोला अगर धीरेसे दीवालकी तरफ़ फेंका जाय तो वह दीवालको थोड़ी ही चोट पहुँचाता है परन्तु अगर वही खूब ज़ोरसे फेंका जाय तो या तो वह दीवालको तोड़ देता है, अथवा दीवालको न तोड़ सके तो लौट करके अपने पास आता है। जितने ज़ोरसे वह इधरसे फेंका जायगा उतने ही ज़ोरसे वह लौटेगा। कषायरूपी गोला जब बहुत तीव्रताके साथ फेंका जाता है, और यदि वह दूसरेको नुकसान नहीं पहुँचा पाता तो लौटकर अपने ही ऊपर चोट करता है। मतलब यह कि आत्म-घात उस कमज़ोरीका परिणाम है जिसके कारण मनुष्य असफलताके सामने टिक नहीं पाता। इसलिये यह निर्भयताका परिणाम नहीं किन्तु कायरताका परिणाम है।

प्रश्न—जो मृत्यु-भयका त्याग नहीं कर सकता वह निर्भय नहीं

हो सकता। मृत्यु-भयको जीत लेनेपर अन्य सभी भय जीत लिये जाते हैं, इसलिये सात प्रकारके भय गिनानेकी क्या आवश्यकता है? एक मृत्यु-भयके दूर करनेका निरूपण करना चाहिये।

उत्तर—मृत्यु-भय बड़ा भय तो है परन्तु वह इतना व्यापक नहीं है कि सब भयोंको अपने अन्तर्गत कर सके। बहुतसे आदमी ऐसे होते हैं जो मृत्युसे नहीं डरते किन्तु अन्य बहुतसी बातोंसे डरते हैं। कोई मोही जीव स्वयं मर जाता है परन्तु अपने किसी इष्टका मरना नहीं सह सकता। वह मृत्युसे नहीं डरता, परन्तु इष्ट-वियोगसे डरता है। कोई कोई कंजूस मौत स्वीकार कर लेते हैं, परन्तु धन नहीं छोड़ सकते। कोई जीवनकी पर्वाह नहीं करता किन्तु यशकी पर्वाह करता है। जिस विषयमें हमारी जितनी अधिक आसक्ति होगी उस विषयमें हम उतने ही अधिक भीत होंगे। मृत्युका भय ही कर्तव्य-मार्गमें बाधक नहीं होता किन्तु यशकी आसक्ति भी कर्तव्यमें बाधक होती है। इसी प्रकार अन्य आसक्तियाँ भी कर्तव्य-मार्गमें बाधक होती हैं। इसलिये कर्तव्य-मार्गमें आड़े आनेवाले प्रत्येक भयका त्याग होना चाहिये।

अत्राणभय—या आदान भय—सम्यग्दृष्टिको अशरणता या अरक्षाका और चोरादिका भी भय नहीं होता। वह तो स्वावलम्बनकी मूर्ति होता है। बहुतसे लोग इसलिये कल्याण-मार्गके चलनेसे या प्रचारसे हट जाते हैं कि उनका अवलम्बन न छूट जाय। 'अगर मैं ऐसी बात कहूँगा तो अमुक सेठजी नाराज़ हो जायँगे 'अथवा' मेरी नौकरी छूट जायगी, इसलिये मुझे ऐसी बात बोलना चाहिये या ऐसा काम करना चाहिये जिससे मुझे अमुककी सहायता मिलती रहे, मेरी

रक्षा हो '—इस प्रकारका अत्राणभय उन्हें क्रीतदास (खरीदे हुए गुलाम) की तरह बना देता है। सम्यग्दृष्टिमें यह अत्राणभय नहीं होता। कल्याणके मार्गमें यह भी बड़ी भारी बाधा है। सैकड़ों विद्वान् इसी अत्राणभयके कारण मिथ्यादृष्टि, अविचारक तथा अविकसित-ज्ञानी बने रहते हैं। लाखों और करोड़ों आदमी सत्यके मार्गसे इसी अत्राणभयके कारण पराङ्मुख रहते हैं। अत्राणभय सिर्फ श्रीमानों और शक्तिशालियोंकी तरफ़से ही नहीं होता किन्तु साधारण जनताकी तरफ़से भी होता है। 'कहीं समाजने बहिष्कृत कर दिया तो मेरे साथ कौन रहेगा? अकेले हो जानेपर मेरी क्या दशा

---

१ दिगम्बर साम्प्रदायमें इस जगह ' अगुप्तिभय ' पाठ है परन्तु 'अत्राण ' और ' अगुप्ति ' इन दोनों शब्दोंका व्यवहारमें एक ही अर्थ है। ' त्रप् ' धातुका अर्थ भी रक्षण है और ' गुप् ' धातुका अर्थ भी रक्षण है। साहित्य तथा कोषमें भी ये समानार्थक हैं। ये समानार्थक शब्द जुदे जुदे अर्थोंको प्रकट करनेके लिये ठीक नहीं मालूम होते। समयसारमें अत्राणभय-त्यागका अर्थ यह मानना किया है कि 'आत्मा नित्य है, उसे कोई नष्ट नहीं कर सकता'। अगुप्तिभय-त्यागका अर्थ यह मानना है—' आत्मा परम-ज्ञान-स्वरूप है, इसलिये इसमें किसीका प्रवेश नहीं हो सकता '। यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है, इसलिये इसमें हर-एक बातको आध्यात्मिक रूप दिया गया है। फिर भी इससे इतना अर्थ तो मालूम होता है कि अपने विनाशका भय अत्राणभय है, और चोर आदिका भय अगुप्तिभय है। कविवर बनारसीदासजीने अपने हिन्दी समयसारमें अत्राण-भयके विषयमें लिखा है—

'सो मम आतम दरब सर्वथा नहि सहाय धर।
तिहि कारण रच्छक न होइ भच्छक न कोइ पर॥

अगुप्तिभयके विषयमें लिखा है—

सो मम रूप अनूप अकृत अनमित अटूट धन।
ताहि चौर किम गहै ठौर नहिं लहै और जन॥

होगी ? ' आदि विचार भी अत्राणभयके फल हैं। सम्यग्दृष्टि इन सब कायरताओंसे परे रहता है। वह समाजकी सेवा करता है, परन्तु समाजका गुलाम नहीं होता। वह समाजका विनय करता है परन्तु समाजको खुश रखनेके लिये कुरूढ़ियोंका समर्थन नहीं करता। ' नौकरी छूटने पर क्या होगा ? बहिष्कार होने पर क्या होगा ? मैं अकेला रह जाऊँगा तो क्या होगा ? ' इत्यादि विभीषिकाओंको पददलित करके वह निर्भयताके साथ कर्तव्य-मार्गमें आगे बढ़ता है। सत्यके कारण अगर सारा जगत् उसके विरुद्ध रहता है तो वह मिटनेको तैयार

पंचाध्यायीमें जहाँ अन्य भयोंका व्यावहारिक निरूपण किया गया है वहाँ इन दोनोंका व्यावहारिक विवेचन नहीं है जिससे यह विषय स्पष्ट हो जाय। बल्कि समयसारका आध्यात्मिक विवेचन ही वहाँ विकृत हो गया है। पञ्चाध्यायीका विवेचन यह है:—

अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् ।
नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः ॥ २–५३४ ॥
दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिर्यस्यैकान्तादिवादिनी ।
तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥ २–५३९ ॥
असज्जन्मसतो नाशं मन्यमानस्य देहिनः ।
कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतो गुप्तिसाध्वसात् ॥ २–५४० ॥

पञ्चाध्यायीके इस विवेचनमें यह जानना मुश्किल है कि अत्राणभय और अगुप्तिभयमें क्या अन्तर है ? दोनों-हीके लक्षणमें वस्तुकी नित्यता साबित करके निर्भयता बतलाई है। समयसारका विवेचन आध्यात्मिक होनेपर भी कुछ व्यावहारिक संकेत अवश्य करता है, जिससे दोनोंका भेद कुछ मालूम होता है। फिर भी उसमें भी एक प्रश्न रह जाता है कि चोरादिका भय, जो कि धनसम्पत्तिके अपहरणका भय है, स्पष्ट ऐहिक भय है फिर उसे 'अगुप्ति-भय' शब्दसे अलग कहनेकी क्या ज़रूरत है। बनारसीदासजीने ऐहिक भयका निरूपण यों किया है—

होता है परन्तु अपनी असहायावस्थाके डरसे असत्यके आगे झुकने-को तैयार नहीं होता। इसी प्रकार अगर उसे कोई मार-पीटको धमकी दे या सचमुचमें मारे-पीटे तो भी वह निर्भय रहकर अपने सुमार्गपर चलता है।

अश्लोकभय—पूजाप्रतिष्ठा मान-पान सत्कार वाहवाही आदि अनेक तरहके यशके छिन जानेका भय अश्लोकभय है। बहुतसे लोग ऐसे होते हैं कि मरनेसे नहीं डरते, चोर आदिसे नहीं डरते, आजी-विका आदिका सहारा नष्ट हो जायगा—इसकी भी उनको चिन्ता नहीं होती; किन्तु मेरा नाम चला जायगा, मेरी प्रतिष्ठामें बट्टा लग जायगा—इससे बहुत डरते हैं। फल यह होता है कि अगर उनके प्रशंसक कुमार्गपर जा रहे हों तो वे भी कुमार्गपर जाते हैं, उसीका प्रचार करते हैं। वे सच्चे यशको नहीं जानते। यशकी बुनियाद सत्यपर होती है इसलिये सत्यके प्रचारसे अगर लोग बदनाम करते हैं तो सम्यग्दृष्टि उसकी पर्वाह नहीं करता। महावीर, बुद्ध, ईसा आदि अगर इस प्रकारकी वाहवाहकी पर्वाह करते तो आज उनका

"दसधा परिग्रह-वियोग-चिंता इहभव,
दुर्गति-गमन-भय परलोक मानिये।"

"छिनभंगुर संसार-विभव परिवार-भार जसु,
जहाँ उतपति तहाँ प्रलय जासु संयोग विरह तसु।
परिग्रह-प्रपंच परगट परखि इहभव-भय उपजै न चित।
ज्ञानी निसंक निकलंक निज ज्ञान-रूप निरखंत नित॥"

तात्पर्य यह है कि अगुप्तिभय कोई अलग भय नहीं मालूम होता, जो इह-भव-मरणभय और अत्राणभयमेंसे किसी एकमें स्पष्ट रूपमें शामिल न कर लिया जाय। वास्तवमें अगुप्तिभयके स्थानमें अश्लोकभय कहना चाहिये क्योंकि यह भय स्पष्ट रूपमें किसी अन्य भयमें शामिल नहीं होता।

नाम कोई न लेता। आज जो निंदा करते हैं, कल वे ही प्रशंसा करते हैं। किसीकी निंदा-स्तुतिकी पर्वाह किये बिना सत्यकी पूजा करना चाहिये। इसी अश्लोक-भयकी पीड़ाके मारे सैकड़ों लोग 'गंगा गये तो गंगादास, यमुना गये तो यमुनादास' की कहावत चरितार्थ करते हैं। वे बेपैंदीके लोटेकी तरह थोड़े थोड़े इशारेमें सब जगह नाचते हैं। वे चार दिनकी वाहवाहीमें भूलकर सच्चे और स्थायी यशको खोते हैं, अपनी अन्तरात्माका दिन-रात खून करते हैं और कल्याण-मार्गसे वञ्चित रहते हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टि ऐसी वाहवाहीके नाशका भय नहीं करता।

आकस्मिकभय—कर्तव्य-मार्गमें आकस्मिक घटनाओंका भय आकस्मिकभय या अकस्मात्भय कहलाता है। बिना किसी पर्याप्त कारणके बहानेबाज़ी करना अकस्मात्-भय है। कर्तव्य सामने है, परन्तु वह सोचता है कि 'अगर घरसे बाहर निकलनेपर सिरपर बिजली गिर पड़ी तो? अगर रेलगाड़ी टकरा गई तो? अगर मकान गिर पड़ा और मैं दब गया तो?' इस तरह बात-बातमें 'तो तो' करके वह कर्तव्यसे विमुख होता है। अगर कोई ऐसे आकस्मिक भयोंसे डर जाय तो कल्याण–पथपर कभी न चल सके। महावीर जब घरसे बाहर निकले तो उन्हें असाधारण बाधाएँ सहना पड़ीं। रात्रिमें वे निर्जन अंधकारमें रहते थे, वहाँ उन्हें सर्प काट खाता तो? जंगलमें कोई हिंस्र जन्तु आक्रमण करता तो? या और कोई प्राकृतिक विपत्ति आई होती तो?—ऐसे विचार अगर महावीरके हृदयमें उठे होते तो क्या वे महात्मा महावीर बन पाते? क्या कोई भी मनुष्य ऐसे भयोंसे अपना या जगत्का कल्याण कर सकता है? सम्यग्दृष्टि ऐसे भयसे कर्तव्यको नहीं छोड़ता।

इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अनावश्यक आपत्तियोंको व्यर्थ निमन्त्रण देता है, या वह मौतके कारणोंको ढूँढता ही रहता है, या वह शरीर-रक्षाके लिये यत्नपूर्वक काम नहीं करता है, या जो मकान आज-कलमें गिरने वाला है उसी मकानमें जाकर वह सोता है। वह इन सब घटनाओंमें यत्नपूर्वक काम करता है। परन्तु जब ये घटनाएँ कर्तव्य-मार्गमें बाधा डालने लगती हैं तब वह इनकी पर्वाह नहीं करता। वह निर्भय होकर कल्याण-मार्गमें आगे बढ़ता है। हर-एक उद्देश्यकी सिद्धिके लिये निर्भयता आवश्यक है। हर-एक धर्ममें निर्भयताका उच्च स्थान है।

यहाँ भयके सात भेद किये गये हैं। भयके भेद इससे कम भी किये जा सकते हैं और बढ़ाये भी जा सकते हैं। अथवा उनके नाम भी बदले जा सकते हैं। कहनेका मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टिको कल्याणमार्गमें निर्भय होना चाहिये। उसकी निर्भयताको स्पष्ट समझानेके लिये ये सात भेद किये गये हैं। आवश्यकतावश न्यूनाधिक भेद करनेमें भी कुछ बाधा नहीं है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शनके चिह्नोंमें संवेगको स्थान दिया गया है। संवेग भी तो एक प्रकारका भय है। एक जगह भयको गुण बतलाना, दूसरी जगह भयको दुर्गुण बतलाना, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—किसी भी वस्तुका अच्छा या बुरापन, उसके नामपर नहीं, कामपर निर्भर है। संवेगमें जो भय है वह कायरताका परिणाम नहीं, किन्तु त्यागका परिणाम है। संवेगका भय कल्याणका साधक है, जब कि यह भय कल्याणका बाधक है। इसलिये संवेगमें भयको गुण बतलाया है, और यहाँ दुर्गुण बतलाया है। संवेगमें जो

परिणाम हैं और इस भयमें जो परिणाम हैं उनमें एक तरहका जातिभेद है। सिर्फ दोनोमें शब्दकी समानता पाई जाती है। समानताका कारण यह है कि दोनोमें दूर हटनेकी भावना है। संवेगमें हम बुरे कामसे दूर हटते हैं जब कि भयमें हम अच्छे कामसे दूर हटते हैं। दूर हटनेकी समानता दोनोमें है परन्तु इन दोनोंके कार्य, कारण, प्रयोजन आदिमें जमीन-आसमानसे भी अधिक अन्तर है।

दर्शनाचारके आठ अङ्ग

सम्यक्त्वके प्राप्त होनेपर प्राणीके आचरणमें जो विशेषता आ जाती है उसे दर्शनाचार कहते हैं जिसके आठ अङ्ग हैं। निःशंकता, निःकांक्षता, निर्विचिकित्सता, अमूढ़दृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। जैसे हाथ, पैर आदि अंगोंके वर्णनसे शरीरका वर्णन हो जाता है उसी प्रकार निःशंकता आदि अंगोंके वर्णनसे दर्शनाचारका वर्णन होता है।

निःशंकता—कल्याणके अर्थात् सुखके मार्गपर दृढ़ विश्वास रखना निःशंकता है। सम्यक्त्वका यह प्रथम और मुख्य अंग है। दृढ़-विश्वासके विषयमें मैं पहिले कह चुका हूँ। वह अन्ध-श्रद्धासे बिलकुल जुदा है।

किसी सम्प्रदाय, किसी शास्त्र या किसी व्यक्तिके ऊपर अविश्वास करनेसे निःशंकतामें दोष नहीं लगता किन्तु कल्याणके सत्यमार्गपर अविश्वास करनेसे निःशंकता कलंकित होती है।

कल्याणमार्गको समझानेके लिये अगर किसी कथाका उदाहरण दिया जाय, और वह कथा किसीको सत्य न मालूम हो, तो भले ही वह उस कथापर अविश्वास करे किन्तु इसलिए यदि वह उस कथाके

कहनेका जो उद्देश्य है उसपर अविश्वास नहीं करता तो उसकी निःशंकता कलंकित नहीं होती। जैसे कोई राम-रावणकी कथाको यदि सत्य न माने परन्तु उस कथासे जो पातिव्रत्यकी और परस्त्रीहरण-निषेधकी शिक्षा मिलती है उसपर विश्वास रक्खे तो उसकी निःशंकता बाधित न होगी। इसी प्रकार कोई स्वर्ग-नरककी अमुक रचनापर विश्वास नहीं करता किन्तु पुण्य-पापके फलपर विश्वास रखता है तो उसकी निःशंकता दूषित नहीं है। इसी प्रकार अन्य शास्त्रोंकी बात है।

विशेष जिज्ञासाकी दृष्टिसे प्रश्न करना या खोज करना भी निःशंकताका दोष नहीं है।

निःकांक्षता—असत्यकी सेवासे सुख न चाहना निःकांक्षता है। पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है कि हमारा सुख समष्टिगत सुखके ऊपर अवलम्बित है। जो सुख दूसरोंके दुःखके ऊपर अवलम्बित है वह वास्तविक सुख नहीं है, न वह स्थायी हो सकता है। प्रथम अध्यायमें जो सुख बताया गया है उस सुखके सिवाय वह अन्य सुखोंकी कामना नहीं करता; और न उसके लिये न्यायकी हत्या करनेको तैयार होता है। दिगम्बर सम्प्रदायमें इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

'जो सुख दैवाधीन है, शीघ्र विनाशी है, जिसके बीचमें दुःख है और जो पापका कारण है उस सुखमें अरुचि या लापरवाही रखना निःकांक्षता है।'

यहाँ वैषयिक सुखके चार दोष बताये गये हैं। प्रारम्भके तीन दोषोंको हम किसी तरह दूर नहीं कर सकते किन्तु उनके असरसे अपनेको बचा सकते हैं। इसका उपाय है समता, सहन-

शीलता और दुःखोंके सामने दृढ़ताके साथ खड़े रहनेकी भावना। 'वैष-यिक सुख दैवाधीन है' इसका अर्थ है कि वह हमारी इच्छानुसार नहीं मिलता है। कभी मिलता है और कभी नहीं मिलता है। दूसरे (सान्त) विशेषणसे भी यही बात सिद्ध है और तीसरे विशेषणसे सुखकी अपूर्णता मालूम होती है। परन्तु अगर हम यह विचार कर लें—कि हमें तो सिर्फ कर्तव्य करना चाहिये, उसके फलकी पर्वाह न करना चाहिये; अथवा दुःखके साथ वीरतापूर्वक लड़नेकी हम दृढ़ भावना कर लें—तो सुख-दुःखमें समता रख सकें।

वैषयिक सुखका चौथा विशेषण 'पाप-बीज' है और यही सबसे बुरा है। साधारण प्राणी अपने सुखके लिये दूसरेके न्यायोचित सुखकी पर्वाह नहीं करते; यही हमारे सुखकी पापबीजता है। समष्टिगत सुखमें निज सुखकी भावनाका अर्थ यही है कि दूसरोंके न्यायोचित अधिकार नष्ट न किये जायँ। इस प्रकारके संयमसे वैषयिक सुखकी पापबीजता दूर की जा सकती है।

जो इन्द्रियजन्य सुख हमें मिलें वह हम ग्रहण करें, उनके लिये न्यायोचित प्रयत्न करें और फिर भी वे न मिलें तो दुःखको भी प्रसन्नतासे सहें। इन्द्रियसुखको हम इतना महत्त्व न दें कि उसके लिये अन्याय या अत्याचार करनेको तैयार हो जायँ। बस, यही निःकांक्षता है।

निर्विचिकित्सता—शरीरके दोषोंपर दृष्टि न रखकर सद्गुणोंसे प्रेम करना निर्विचिकित्सता है। यह सम्यग्दृष्टिकी सद्गुणोपासकताका परिणाम है। यह नियम नहीं है कि जो मनुष्य सद्गुणी हो वह सुंदर भी हो और नीरोग भी हो। उत्तमता-पूज्यता आत्मामें है, न कि शरीरमें; इसलिये प्रेमके लिये आत्माका विचार करना चाहिये।

शरीरके दोषोंको देखकर अगर हम सद्गुणीका अपमान करते हैं तो हम सद्गुणोंका अपमान करते हैं; और चूँकि सद्गुणी ही सुखके कारण हैं इसलिये सुखको—कल्याणको—नष्ट करते हैं।

इसका यह अर्थ नहीं है कि सद्गुणीको स्वच्छतासे न रहना चाहिये, रोगकी पर्वाह न करना चाहिये, या सद्गुणीके शरीरमें कोई संक्रामक बीमारी हो तो दूसरेको उसमें अपना यथायोग्य बचाव न करना चाहिये। हर-एक आदमीको स्वच्छतासे रहना चाहिये। वह शौक न करे परन्तु स्वच्छ रहे। वह रोगसे निर्भय रहे, परन्तु यथाशक्ति निरोगी रहनेकी कोशिश करे। नीरोग रहनेमें आत्मदया भी है और परदया भी है। इसीप्रकार दूसरे व्यक्तिको चाहिये कि वह संक्रामक रोगीसे यथायोग्य बचाव रखते हुए भी उसकी यथाशक्ति सेवा करे—सहायता करे।

हमारा गुणानुराग जितना तीव्र होगा, गुणोंको उतना ही उत्तेजन मिलेगा। सौन्दर्य वगैरहमें आकृष्ट होकर जो गुणानुराग बताया जाता है वह साधारण है। उसमें विश्वकल्याणकी भावना नहीं होती। वह सौन्दर्य वगैरहके नष्ट हो जानेपर नष्ट हो जाता है। इसलिये हमारा गुणानुराग इतना प्रबल होना चाहिये कि शारीरिक असौन्दर्य, रोग-वृद्धता, विकलाङ्गता आदि उसमें बाधा न डाल सकें। जो गुण विश्वकल्याणमें साधक हैं उनको अधिकसे अधिक उत्तेजन देना विश्वकल्याणके कार्यमें सहायता देना है।

विचिकित्सा या ग्लानि एक कषाय है, इसलिये पाप है। परन्तु हर-एक कषायका एक शुभरूप भी होता है। जब हम पापपर क्रोध करते हैं तो क्रोध एक कषाय होनेपर भी वह शुभ हो जाता

है । इसी तरह ग्लानि भी शुभ होती है । पाप और पापके साधनोंसे ग्लानि करना बुरा नहीं है । इस जगह ग्लानि भी एक धर्म बन जाती है । परन्तु जब इस ग्लानि-धर्ममें अहंकार और मूढ़ताका प्रवेश हो जाता है तब यह बड़े भारी पाप या क्रूरताका रूप धारण कर लेता है ।

प्रारम्भमें छूआछूतकी भावना पाप तथा रोगसे बचनेके लिये थी । मद्य. मांस आदिके सेवनसे हम बचे रहें—इसके लिये ऐसी चीजोंके स्पर्श करनेका, मद्यपायी आदि लोगोंकी संगतिसे बचे रहनेका, उपदेश था । इसीप्रकार संक्रामक रोग तथा मलिनतासे बचे रहनेके लिये छूआछूतका विचार था । जब तक वह इस लक्ष्यपर रहा तब तक वह जुगुप्साधर्म या शौच धर्म कहलाता रहा । सम्यग्दृष्टिको इसका त्याग अनिवार्य नहीं होता । परंतु इस शौचधर्ममें जब अहंकार, मूढ़ता, द्वेष आदिका सम्मिश्रण हुआ तब यह विषैले दूधकी तरह घातक हो गया । इसलिये निर्विचिकित्सा अंगमें इसका त्याग बतलाया गया है ।

शौच धर्मके नामपर जो पाप प्रचलित हैं उनके अनेक रूप हैं । उदाहरणार्थ—(क) अनेक वर्गोंका अछूत ठहराया जाना, (ख) खानपानमें पवित्रताका विचार न करके जातिपाँतिका विचार करना, (ग) अपनेको ऊँच और दूसरोंको नीच साबित करनेके लिये उनके छुए पानी वगैरहका भी त्याग करना, (घ) चौका वगैरहके मूढ़तापूर्ण नियम, (ङ) आवश्यकतावश इन नियमोंके मूढ़तापूर्ण अपवाद, (च) अहंकारपूर्ण शौच नियमोंको न्यायोचित साबित करनेके लिये दूसरोंके मनुष्योचित अधिकारोंका छीनना । यहाँ इनका कुछ खुलासा किया जाता है—

(क) किसी वर्गको अछूत ठहराना पाप है। जिन लोगोंको अछूत कहा जाता है उनके विषयमें अछूतताके कारणोंपर विचार नहीं किया जाता। अछूतताके दो कारण हैं—एक तो आचारशुद्धिके लिये दुःसंगतिका बचाव, दूसरा स्वच्छताकी रक्षाका भाव। अछूतोंके विषयमें पहिला कारण ठीक नहीं है क्योंकि जिस मद्यमांस-भक्षण आदिसे बचनेके लिये अछूतताका समर्थन किया जाता है वह अस्पृश्योंकी तरह स्पृश्योंमें भी है। बंगाल, उड़ीसा, मैथिल आदि प्रान्तोंके ब्राह्मण तक आमतौरपर मद्य-मांससेवी होते हैं। अन्य प्रान्तोंमें भी ऐसे उच्चवर्णियोंकी संख्या कम नहीं है जो मद्यमांससेवी हैं। ये मांस-भक्षी अछूत नहीं समझे जाते और मजा यह है कि ये मांसभक्षी भी अछूत कहलानेवालोंको उतना ही अछूत समझते हैं जितना कि अन्य शाकभोजी समझते हैं इसलिये मांसभक्षण आदि आचारकी खरा-बियोंसे बचनेके लिये अछूतता नहीं है परन्तु अगर इसलिये होती तो भी उचित न कहलाती क्योंकि मांसभक्षीका स्पर्श करनेसे उसका दोष नहीं लगता, न उससे पाँच पापोंमेंसे कोई पाप होता है। दृढ़-हृदय या सेवाभावी मनुष्योंको तो उनकी संगतिमें रहनेपर भी कुछ नुक-सान नहीं है किन्तु जो कमजोर हैं उन्हें मांसभक्षी लोगोंकी कौटुम्बिक संगतिका त्याग करना चाहिये; अगर कोई व्यभिचारी, जुवारी आदि है तो उसके साथ घूमने आदिका त्याग करना चाहिये परन्तु स्पर्शके त्यागकी तो किसीको आवश्यकता ही नहीं है; और सदाचारी दृढ़-हृदयके लिये संगतिके त्यागकी भी जरूरत नहीं है। जो कमज़ोर तथा पापभीरु हैं उन्हें सिर्फ संगतिका त्याग करना चाहिये। किसीको छू लेनेका, सफ़रमें थोड़े समयके लिये साथ हो जानेका

तथा पारस्परिक सहायता या सेवाका, त्याग करनेकी तो कमजोरोंको भी आवश्यकता नहीं है। तात्पर्य यह है कि किस मनुष्यसे किस रूपमें बचना इसका विवेक प्रत्येक मनुष्यको होना चाहिये। स्पर्श कर लेना कोई पाप नहीं है। हाँ, वह संगति बुरी है जिसे हम सह न सकते हों अर्थात् जिसके वश होकर हम पापकी तरफ खिंचनेसे बच न सकते हों। इसलिये दुराचारसे बचनेके लिये अछूतताका समर्थन कदापि नहीं किया जा सकता।

स्वच्छताकी रक्षाके लिये भी इस स्थायी अछूतताकी आवश्यकता नहीं है। बीमारी आदिके निमित्त मिलनेपर प्रत्येक मनुष्य अछूत बनता है। हमारी मा-बहिनोंको तथा हमें भी अनेक बार घृणित चीज़ोंकी सफ़ाई करनी पड़ती है। डॉक्टरोंका धन्धा अछूतोंके धन्धेसे बहुत अन्तर नहीं रखता—ये सब भी अछूत हैं; इसलिये हमें किसी जाति विशेषको अछूत क्यों मानना चाहिये?

स्वच्छताके लिये या रोगादिसे बचनेके लिये अगर हम किसीको अछूत माने तो सिर्फ उतने समयके लिये ही मानें जितने समय वे अछूतताका काम करते हों। स्नानादिसे शुद्धि करनेके बाद भी उन्हें अछूत मानना मिथ्यात्व है। साथ ही जो व्यक्ति अछूतताका काम करे वही अछूत है न कि उसके सारे कुटुम्बी। तात्पर्य यह है कि स्वच्छताकी दृष्टिसे अगर हम अछूतताको माने तो किसी जातिको अछूत नहीं कह सकते, किसी व्यक्तिको सदा अछूत नहीं कह सकते; साथ ही थोड़े समयको उच्चवर्णियोंको भी अछूत कह सकते हैं। इस प्रकारका विवेकपूर्ण शौचधर्म सम्यक्त्वके निर्विचिकित्सा अंगका पोषक ही है।

(ख) खानपानकी उत्तमताका जाति-पाँतिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। भोज्य पदार्थमें चार प्रकारकी उत्तमता देखना चाहिये—प्रासुकता, स्वास्थ्यप्रदता, स्वच्छता और स्वादिष्टता। प्रत्येक जातिके भोजनमें ये चारों गुण हो सकते हैं परन्तु शौचधर्मका विषैलारूप इन गुणोंपर दृष्टि नहीं रखने देता। वह मनुष्यको जातिमदांध बना देता है। ऐसा जातिमदांध अपनी जातिके बीमार तथा मलिन मनुष्यके हाथका भोजन कर लेगा परन्तु दूसरी जातिके नीरोग तथा स्वच्छ मनुष्यके हाथका भोजन न करेगा। किसी अज्ञातकुलशील मनुष्यके यहाँ, या ऐसे मनुष्यके यहाँ, जहाँ हमारे योग्य भोजन मिलनेका निश्चय नहीं है, भोजन न किया जाय तो यह बात किसी तरह जँचती है; परन्तु उस मनुष्यको अपने साथ खिलानेमें या अपनी देखरेखमें उससे भोजन तैयार करा लेनेमें क्या पाप है ? ऐसा भोजन तो प्रासुकता, स्वच्छता आदि हरएक दृष्टिसे उत्तम होता है, परन्तु शौचमूढ़ मनुष्यमें इतना विवेक नहीं होता।

प्रारम्भमें आजीविकाकी सुविधाके लिये चार जातियाँ बनाई गई थीं। पीछेसे वे वंशपरम्पराके लिये स्थिर हो गईं। बादमें बेटी-व्यवहार भी उन्हींमें सीमित हुआ और जिनने इस बेटीव्यवहारके नियमोंका भङ्ग किया उनकी जुदी-जुदी जातियाँ बन गईं। इसके बाद तो खानपानके भी बन्धन मज़बूत हो गये तथा टिड्डी दलकी तरह हज़ारोंकी संख्यामें जातियाँ दिखलाई देने लगीं। अपनी ही जातिमें रोटी-बेटी-व्यवहार सीमित हो गया; दूसरी जातियोंमें भोजन करना अपराध माना जाने लगा। फलतः अपनी जातिको सर्वोच्च माननेकी भावना दृढ़ होती गई—यहाँ तक कि कौन-सी जाति ऊँच

है और कौन-सी नीच, इसकी जाँच इस बातपर होने लगी कि कौन किसके हाथका भोजन कर सकता है। हरएक जाति इस बातकी कोशिश करने लगी कि हमारे साथ कोई दूसरी जातिका आदमी भोजन न कर ले। इसका एक विचित्र नमूना देखिये—

उच्चवर्णी लोगोंके यहाँ जब भोज होता है तब पत्तलोंमें जो उच्छिष्ट बचता है उसे भंगी ले जाते हैं और खाते हैं। परन्तु उन उच्छिष्ट-भोजी भंगियोंने, जब कि एक बार वे पंक्तिभोज कर रहे थे, एक उच्चवर्णी हिन्दूको अपनी पंक्तिके भीतर किसी अन्य कार्यसे नहीं आने दिया! जिसकी पत्तलका उच्छिष्ट खाते हैं, भोजन करते समय, उसका स्पर्श नहीं सह सकते!

दूसरी जातियोंको नीच समझनेकी नीतिके ये बेहूदे फल हैं। जब उच्चवर्णियोंने दूसरोंको नीच समझ कर उनके साथ सहभोजन करनेमें अपमान समझा तब नीच कहलाने वालोंकी तरफ़से उसकी प्रतिक्रिया हुई। उनने भी उच्चवर्णियोंका अपमान करनेके लिये उनके साथ न खानेके नियम बनाये। उच्छिष्ट भोजनको उनने एक व्यापार समझा और उच्चवर्णियोंके साथ सहभोजके निषेधको धर्म। इस प्रकार भंगीसे लेकर ब्राह्मणतक सभी जातियोंमें भोजनके नामपर एक दूसरेका अपमान करनेकी एक प्रतियोगिता (होड़) होने लगी। भोजन-शुद्धिका सिद्धान्त तो नष्ट हो गया और उसका स्थान जाति-मदने ले लिया। सभी एक-दूसरेको नीचा समझने लगे।

(ग) इस उच्च-नीचताके अहंकाररूपी पापराजका शासन यहाँ तक फैला कि दूसरी जातिके हाथका पानी पीना तक अधर्म माना जाने लगा। एक गँदले नालेका लोग पानी पी लेंगे परन्तु दूसरी

जातिके यहाँ पानी न पीयेंगे ! यहाँ तक कि अछूत कहलानेवालोंकी तो बात दूसरी है परन्तु माली काछी आदिके हाथका पानी, जो कि अपने सामने अपने ही बर्तनमें भरवाया गया है, भी न पियेंगे और जो लोग इनके हाथका पानी पियेंगे उनके यहाँ 'हम भोजन न करेंगे, उनके हाथका हम पानी न पियेंगे,' इस प्रकार कहनेवाले अहंकारी जीवोंका भी आज टोटा नहीं है। धर्मके नामपर कितना भयंकर द्रोह किया जा सकता है—शैतान, ईश्वरके वेषमें, लोगोंको कितना ठग सकता है—इस बातके ये नमूने हैं।

(घ) इसी पापका एक रूप चौकाका नियम है। चौकामें चौकीके नीचे विष्ठा पड़ी रह सकती है फिर भी चौका खराब नहीं होता परन्तु दूसरी जातिके स्पर्शमात्रसे चौका खराब हो जाता है। मांसभक्षी बिल्ली और विष्ठाभक्षी कुत्तेसे चौका खराब नहीं होता किन्तु मनुष्यसे खराब हो जाता है ! विष्ठा खानेवाली गायका तो हम दूध पी सकते हैं परन्तु मनुष्यको चौकेमें नहीं बिठला सकते। हमारा एक मित्र, जिसे हम बहुत प्यारा समझते हैं, हमारे द्वारपर भूखा बैठा रह सकता है परन्तु हम अपने चौकेमें उसे भोजन नहीं करा सकते क्योंकि वह दूसरी जातिका है या दूसरे सम्प्रदायका है। मनुष्य मनुष्यके साथ कितना अहंकार करता है, उसे कितना अपमानित करता है, उसे पशुओंसे भी खराब कैसे समझता है—इस बातके ये उदाहरण हैं।

जो लोग मांसभक्षी हैं, मछली खाते हैं, मेंढ़क, केंचुए और झिंगुरोंतकका अचार बनाकर खा डालते हैं, उनके चौकेकी किनारको अगर कोई दूसरी जातिका मनुष्य छू जावे तो उनका भोजन नष्ट हो जाता है। मछली आदिके मुर्दोंके ढेरसे चौका खराब नहीं होता, वे

तो पवित्रताके साथ पेट तक चले जाते हैं, परन्तु जीवित और पवित्र मनुष्यके स्पर्शमात्रसे चौका खराब हो जाता है !

चौकापंथके समान और भी कुछ पंथ हैं जैसे—गीले कपड़े पहिनकर रसोई बनानेका पंथ, नग्न रहकर रसोई बनानेका पंथ, आदि। इस विषयके रिवाज़ एकत्रित किये जायँ तो एक मोटी पुस्तक बन सकती है; यहाँ सिर्फ संकेत किया गया है।

(ङ) एक तरफ़ मूढ़ताके कारण ये बेहूदे नियम बने तो दूसरी तरफ़ उनके पालनकी कठिनाईने विचित्र अपवादोंको जन्म दिया। उदाहरणार्थ—यात्रामें चौकेका नियम कठिन हो गया तो घीमें पकी चीजको चौकाके बाहर ले जाना निर्दोष माना गया। चौका वगैरहके नियम प्रासुकताकी दृष्टिसे तो कुछ कामके नहीं हैं। स्वास्थ्यकी दृष्टिसे इसका कुछ उपयोग किया जा सकता था सो घृतपक्वके अपवादने स्वास्थ्यको बनानेकी अपेक्षा बिगाड़ा ही है। श्रीमानोंने कुछ श्रीमत्ताके प्रदर्शनके लिये इसमें दूधका संयोग और कर दिया। पानीकी अपेक्षा दूधकी सनी हुई पूड़ी पवित्रताके लिहाज-से अच्छी समझी गई, मानो दूध पानीकी अपेक्षा अधिक पवित्र हो! मर्यादाकी दृष्टिसे दूध पानीकी अपेक्षा अधिक पवित्र नहीं है। उत्पत्तिकी अपेक्षा पानी ही पवित्र है, दूधका स्रोत तो मांसके पिण्ड-मेंसे है। खैर, यह अपवाद तो बिल्कुल बेहूदा है परंतु एक दूसरा अपवाद भी है। जो बड़े आदमी दूसरी जातिके आदमीकेद्वारा बनाई गई रसोई नहीं खा सकते, किन्तु रसोईके लिये नौकर रखना चाहते हैं, उनके लिये एक दूसरा अपवाद बना कि जब तक नमक न पड़े तबतक कोई भी रसोई बना सकता है। मानो नमकने ही सारी

अपवित्रताओंको खींचनेका ठेका लिया हो। इस तरहके और भी बहुतसे बेहूदे अपवाद हैं।

(च) दूसरोंको नीच समझनेकी दुर्वासनाने जनसमाजमें इतना गहरा स्थान जमाया कि उनकी सेवाके लिये पंडितों और त्यागियोंके आसन कम्पित हुए। इसमें बेचारे शूद्र बुरी तरहसे पीसे गये। वे मनुष्य थे परन्तु पशुसे भी नीचे माने गये। पशुके ऊपर लादा गया भोजन पवित्र बना रहा परन्तु उस पशुको हाँकनेवाला अगर अछूत हो तो वह भोजन भी अछूत हो जाने लगा। इसके समर्थनमें स्वार्थी पंडितोंने एड़ीसे चोटीतक पसीना बहाया। शूद्र शरीरको अपवित्र सिद्ध करनेके लिये शास्त्र बने। उन्हें शास्त्र पढ़नेका अधिकार न रहा, पूजा करनेका अधिकार न रहा, मुनि बननेका अधिकार न रहा, यहाँ तक कि नगरमें आने-तकका अधिकार छीना गया; और यह घोर पाप, अन्याय और अत्याचार नहीं माना गया किन्तु, धर्म माना गया।

इस प्रकार जो जातिभेद आजीविकाकी सुविधाके लिये बनाया गया था उसने मनुष्यके टुकड़े टुकड़े कर दिये और मनुष्यको मनुष्यभक्षी बना दिया। भोजनके जो नियम सदाचार और स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये बनाये गये थे उनसे सदाचार और स्वास्थ्यकी हत्या होने लगी। लोग मांसमें शुद्धि-अशुद्धिका विचार करने लगे। गुणकी पूजा न रही। आत्माको स्वामीके स्थानसे गिराकर शरीरको स्वामी बनाया गया। धर्मको लोग आत्मामें न ढूँढकर चमड़ेमें ढूँढने लगे। ऐसे समय जैनधर्मने घोषणा की कि जो लोग इस प्रकार शरीरको महत्त्व देते हैं और आत्माके गुणोंकी अवहेलना करते हैं वे

सम्यक्त्वी नहीं हैं, सत्पथपर नहीं हैं, जैनी नहीं हैं। इस प्रकारकी शरीर-पूजाके त्यागको सम्यक्त्वका—जैनत्वका—एक अंग कहा गया और इसका नाम निर्विचिकित्सा रक्खा गया। स्वामी समन्तभद्रने निर्विचिकित्साका लक्षण बहुत ही अच्छा किया है जिसका भावार्थ यह है—

शरीर तो स्वभावसे अपवित्र है: (उसमें पवित्रता देखना भूल है) उसकी पवित्रता तो रत्नत्रयसे, अर्थात् सच्चे धर्मसे, है इसलिये किसी भी शरीरसे घृणा न करके गुणमें, धर्ममें, प्रेम रखना चाहिये। यह निर्विचिकित्सता है[1]।

इसलिये जैनधर्म जातिपातिके बन्धनोंका विरोधी है, ऊँच नीचकी दुर्वासनाका विरोधी है। धर्म और मोक्षके समस्त अधिकार वह सबको देता है। उच्च-नीचका सम्बन्ध वह शरीरसे नहीं, सदाचारसे मानता है। व्यभिचारको पाप मानते * हुए भी वह व्यभिचार-जातताको पाप नहीं मानता।

शरीरकी पवित्रताके मूढ़तापूर्ण सिद्धान्तसे जगत्के कल्याणमें बाधा पहुँचती है। हम समताकी भावना भूल जाते हैं जो चारित्रका

---

१ स्वभावतोऽशुचौ काये रत्नत्रयपवित्रिते।
निर्जुगुप्सा गुणप्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता॥
—रत्नकरंड श्रावकाचार।

* चिह्नानि विटजातस्य संति नांगेषु कानिचित्।
अनार्यमाचरन्कश्चिज्जायते नीचगोचरः॥
—रविषेणाचार्य।

व्यभिचारजातताके कोई भी चिह्न अंगोंमें नहीं होते जिनसे वह नीच कहला सके। दुराचारसे ही मनुष्य नीच होता है।

प्राण है । हम उनकी पर्याप्त सेवा नहीं कर सकते न उनसे पर्याप्त सेवा ले सकते हैं । हम घृणा करना सीखते हैं, अहंकारसे उन्मत्त हो जाते हैं और ईर्ष्या-द्वेषका साम्राज्य फैलाते हैं । भला ऐसी जगह सम्यक्त्व कैसे रह सकता है ? निर्विचिकित्सकता सम्यक्त्वकी एक मुख्य शर्त है; इसीलिये वह सम्यक्त्वका अंग मानी गई है । धर्मके फलमें अविश्वास न करना भी निर्विचिकित्सता है । इस रूपमें भी सम्यक्त्वी इसका पालन करता है ।

अमूढ़दृष्टित्व अंग—सम्यग्दृष्टिको कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक होनेसे उसके सब काम सद्विचारपूर्वक होते हैं । लोकमूढ़ता, शास्त्र-मूढ़ता, देवमूढ़ता, गुरुमूढ़ता आदि अनेक प्रकारकी मूढ़ताओंसे वह रहित होता है । वह सुखके ठीक ठीक कारणोंको जानता है । इस-लिये वह किसीके भुलानेमें नहीं आता, अपने विवेकसे काम लेता है, रूढ़ियोंका गुलाम नहीं होता है ।

लोकमूढ़ताका क्षेत्र विशाल है । आचार्य समन्तभद्रने कहा है—

नदी या समुद्रोंमें स्नान करना, पत्थरोंका ढेर लगाना, पर्वतसे गिरना, अग्निमें जलकर मरना (सतीप्रथा), लोकमूढ़ता है । * (ये कार्य धर्म समझकर किये जायँ तो ही लोकमूढ़ता है ।)

जगत्‌में धर्मके नामपर ऐसे बहुतसे कार्य होते रहे हैं, और थोड़े-बहुत अभी भी होते हैं, जिन कार्योंसे न तो करनेवालोंको कुछ सुख मिलता है और न दूसरोंको सुख मिलता है । जब उनसे कोई

---

* आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार २२ ।

स्वोपकार या परोपकार नहीं होता तब कल्याणके विरोधी होनेसे इन्हें मूढ़ता या अधर्म कहा जाता है।

यदि ये कार्य धर्म समझकर न किये जायँ, अर्थात् स्वास्थ्य-सुधार आदिके लिये किये जायँ, तो इन्हें मूढ़ता नहीं कहते क्योंकि वैसी हालतमें इनसे सुख प्राप्त होता है। क्योंकि नदी आदिमें स्नान आदि करना नीरोगता देनेवाला है।

उक्त श्लोकमें आचार्य समन्तभद्रने साम्प्रदायिक मूढ़ताओंका नाम लिया है परन्तु लोकमूढ़ताओंका क्षेत्र विशाल है। निर्विचिकित्सताके वर्णनमें जो छूआछूत, चौका आदिके नियमोंका उल्लेख किया गया है वे सब भी लोकमूढ़ताके उदाहरण हैं, क्योंकि उनमे भी कोई स्वपरहित नहीं है।

रूढ़ियोंकी गुलामी भी लोकमूढ़ता है। 'हमारे बापदादे क्या मूर्ख थे' सिर्फ इसी विचारसे जो लोग रूढ़ियोंका पालन करते हैं, रूढ़ियोंसे कुछ लाभ है या नहीं—इसका विचार नहीं करते, अथवा उन्हें हानिप्रद जान करके भी बापदादोंके नामपर उनसे चिपके रहते हैं, वे लोकमूढ़ताके उदाहरण उपस्थित करते हैं।

विवाहके रीति-रिवाजोंकी रूढ़ियाँ, वैवाहिक बन्धनोंकी रूढ़ियाँ, वेष आदिकी रूढ़ियाँ आदि हजारों रूढ़ियाँ हैं जो निरुपयोगी या हानिकारक हो सकती हैं। उनको अपना कर्तव्य समझना लोकमूढ़ता है।

कौनसा कार्य लोकमूढ़ता है और कौनसा नहीं—इसका निर्णय करना कठिन है क्योंकि मूढ़ता, क्रियापर नहीं, आशयपर निर्भर है। कोई कार्य विवेक-रहित होकर किया जाय वह प्रकटमें अच्छा मालूम होनेपर भी मूढ़ता हो जाता है। उदाहरणार्थ—तीर्थयात्रा

अच्छा कार्य है, क्योंकि उससे महापुरुषोंके जीवनका विशेष स्मरण होता है तथा उनके समान बननेकी भावना होती है। दूसरा लाभ यह है कि देशाटनसे हृदयकी सङ्कुचितता दूर होती है, विदेशके गुणोंका परिचय होता है, अनुभव बढ़ता है, प्रान्तीयताके स्थानमें मनुष्यताका भाव उत्पन्न होता है। परन्तु बहुतसे मनुष्य इन दो प्रकारके लाभोंमेंसे एक भी लाभ नहीं उठाते, न उनके मनमें इस प्रकारके लाभ उठानेका विचार रहता है। ऐसे लोगोंके लिये तीर्थ-यात्रा भी मूढ़ता है। वे लोग बिना किसी विवेकके दूसरोंकी नकल करते हैं। इस प्रकार विवेकशून्य होकर मन्दिर बनवाना आदि कार्य भी मूढ़ता कहलाते हैं।

इसी प्रकार और भी बहुत-सी मूढ़ताएँ हैं। एक आदमी बीमार होता है तो बीमारीके अनुसार उसका इलाज करना ठीक है। परन्तु यदि कोई बीमारीको दूर करनेके लिये शीतलाको जल चढ़ाता है, दुर्गापाठ कराता है, मूर्त्तियोंका चरणोदक सिरसे लगाता है, मंत्र जपता है तो यह सब उसकी लोक-मूढ़ता है फिर भले ही ये सब काम महावीरको आधार बनाकर किये जायँ या बुद्धको, विष्णुको, शिवको या और किसी देवी-देवताको। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि बीमारी वगैरहको दूर करनेके लिये जिनेन्द्रकी या अपने देवकी पूजा, अर्चा आदिमें कुछ दोष नहीं है परन्तु दूसरे देवोंकी या कुदेवोंकी उपासनामें दोष है। परन्तु यह भूल है। बीमारी वगैरहको दूर करनेके लिये देवपूजा आदिको हम इसलिये मूढ़ता कहते हैं कि उन देवोंका और बीमारीके रहने और जानेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। बीमारियाँ देवताओंके कोपसे न होती हैं न उनकी प्रसन्नतासे जाती हैं इसलिये

बीमारी आदि विपत्तियोंके हटानेके लिये देवताओंकी पूजा करना मूढ़ता है। फिर भले ही वह पूजा जिनेन्द्रकी हो या और किसीकी।

प्रश्न—कष्टके समयमें हर-एक आदमी भगवानका नाम लेता है; गुरुओंका, महात्माओंका, स्मरण करता है। अगर वह समर्थ होता है तो विशेषरूपमें धार्मिक क्रिया—दान पूजा आदि—भी करता है। इस प्रकारकी शुभ प्रवृत्तिको आप मूढ़ता कहो यह बात उचित नहीं मालूम होती।

उत्तर—आपत्तिमें भगवानका नाम लेना या विशेष धार्मिक कृत्य करना बुरा नहीं है क्योंकि उससे आपत्तिको सहन करनेकी शक्ति आती है। आपत्तिमें इस तरहकी भावनाओंसे पुराने अपराधोंका पश्चात्ताप होता है; शत्रुओंकी तरफ़ भी प्रेम उमड़ने लगता है और समताकी भावना पैदा होती है। परन्तु उसे रोगको दूर करनेकी चिकित्सा समझना मूढ़ता है। शुभ कार्य उचित ढङ्गपर और उचित लक्ष्यसे न किया जाय तो अशुभ हो जाता है। स्नानके लिये जलाशयपर जाना उपयोगी है परन्तु पानीके तलपर दौड़ लगानेके लिये वहाँ जाना हानिप्रद है। क्षुधाशान्तिके लिये भोजन करना उचित है; परन्तु प्यासको दूर करनेके लिये भोजन करना मूढ़ता है। इसी प्रकार सहनशक्ति-प्राप्तिके लिये रोग आदि विपत्तिमें देवपूजा आदि उचित है परन्तु उसे चिकित्सा समझना मूढ़ता है।

प्रश्न—मूढ़ता तो अधर्म है और अधर्म वही है जो स्वपर-दुःखदायी हो। बीमारी आदिको हटानेके लिये अगर कोई देवपूजा आदि करता है तो इससे उसको या दूसरेको क्या दुःख होता है?

उत्तर—रोगादि आपत्तियोंको देवताओंकी कृपा-अकृपापर अवल-

म्बित समझ लेनेसे वास्तविक चिकित्सापर उपेक्षा हो जाती है। सच्चा प्रतीकार न होनेसे रोग भयङ्कर हो जाता है और ऐसी सैकड़ों घटनाएँ प्रतिदिन होती रहती हैं। इतना ही नहीं, इसी मूढ़ताकी वेदीपर सैकड़ों बच्चोंका बलिदान होता रहता है। इस प्रकार यह मूढ़ता जिनके पास है उन्हें दुःखदायी है, उनके आश्रित बच्चों तथा अन्य कुटुम्बियोंका बलिदान लेनेसे उन आश्रितोंको दुःखदायी है, तथा जो, पड़ौसी या परिचित, मूढ़तावाले पुरुषोंकी बातपर विश्वास करते हैं उनको दुःखदायी है। इस तरह यह स्व-पर-दुःखदायी है; इससे यह अधर्म है, मूढ़ता है।

प्रश्न—देवपूजा आदिसे रोग-शान्तिकी बात अकारणक नहीं है क्योंकि देवपूजा आदिसे पुण्यका बन्ध होता है और पुण्यबन्धसे पापका नाश होता है। जब पापरूप कारणका नाश हो गया तब दुःखरूप कार्यका भी नाश होगा। इस तरह देवपूजा रोगादि दुःख-नाशक है।

उत्तर—देवपूजादिसे भविष्यके दुःखका नाश हो सकता है, वर्तमानका नहीं। देवपूजादिसे पुण्य-बन्ध होता है; सञ्चित कर्मका नाश नहीं। भविष्यमें ऐसा दुःख फिर न भोगना पड़े, इसके लिये पूजादिका उपयोग किसी तरह कहा जाय तो ठीक है, परन्तु उसका प्रभाव वर्तमानमें फल देनेवाले कर्मपर नहीं पड़ता। उसके लिये तो उचित तपकी आवश्यकता है। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार रोग और चिकित्साका सम्बन्ध है उसी प्रकार दुःख और पुण्यका सम्बन्ध है; इसलिये जिस प्रकार हरएक रोगके लिये हरएक चिकित्सा काम नहीं आती उसी प्रकार हर-एक दुःखके लिये हर-एक

पुण्य काम नहीं आता। तुम अगर अपने निरपराध पड़ौसीको गालियाँ देते हो और उस पापको दूर करनेके लिये भगवानका गुण-गान करते हो तो इससे वह पाप दूर न हो जायगा। उसे दूर करनेके लिये तुम्हें पड़ौसीसे सच्चे दिलसे क्षमा माँगना पड़ेगी और भविष्यमें फिर ऐसा दुर्व्यवहार न करनेके लिये दृढ़ निश्चय करना पड़ेगा। यह प्रतिक्रमण नामका प्रायश्चित्त है और प्रायश्चित्त एक महान् तप है। इस तपसे गालियोंके पापकी शक्ति नष्ट होगी। जैसा रोग हो वैसी ही चिकित्सा और जहाँ रोग हो वहाँ ही चिकित्सा उचित है। इसी प्रकार जैसा पाप हो वैसा ही उसका उपाय होना चाहिये। देवपूजा मिथ्यात्त्व नामक पापको दूर कर सकती है न कि असातावेदनीयको। पूजा जिस देवकी होगी उसके गुणोंका अगर सच्चे दिलसे विचार किया जायगा तो उस गुणका हमें लाभ होगा और उतनी सद्बुद्धि हमें प्राप्त होगी। देवपूजाका फल इतना ही है कि हमें सद्बुद्धि मिले। अगर सद्बुद्धि मिली और उसके अनुसार काम किया गया तो वह अन्य अनेक धर्मोंका कारण होगा। परन्तु यह उसका परम्परा-फल है जो कि बादके अन्य अनेक कारणोंकी अपेक्षा रखता है।

देवपूजा आदि उचित है परन्तु उसका जो फल है वही मानना चाहिये और वास्तविक उपायोंपर उपेक्षा न करना चाहिये। कुछका कुछ इलाज करना मूढ़ता है। बुरे ग्रहोंकी शान्तिके लिये मंत्र जाप कराना आदि भी लोकमूढ़ता है। मतलब यह कि कार्य-कारणभावको ठीक ठीक न समझकर अन्धविश्वाससे धर्मके नामपर जो जो क्रियाएँ की जाती हैं वे सब लोकमूढ़तामें शामिल हैं। सम्यग्दृष्टिमें यह मूढ़ता नहीं होती।

शास्त्रमूढ़ता भी सम्यग्दृष्टिमें नहीं होती। शास्त्रको वह विवेककी

कसौटीपर कसता है तब मानता है। सम्यग्दृष्टि एकान्तका विरोधी होता है इसलिये वह एकान्तवादपर स्थित सम्प्रदायोंमें कैद नहीं होता। वह तो सत्यका पुजारी होता है, वह सत्य चाहे जहाँ हो। अगर वह साम्प्रदायिक वातावरणमें पैदा होता है तो भी वह अपने सम्प्रदायका होनेसे ही किसी शास्त्रको शास्त्र नहीं मानता और न परसम्प्रदायका होनेसे उसे कुशास्त्र ही मानता है। उसकी कसौटी 'सत्य' होती है। अमुक भाषा वगैरहको भी वह शास्त्रकी कसौटी नहीं मानता। जो पुस्तक अपने सम्प्रदायकी हो, संस्कृत, प्राकृत, लेटिन आदि किसी प्राचीन भाषामें बनी हो, बनानेवाला मर गया हो, उस पुस्तकको बहुतसे आदमी विवेकरहित होकर प्रमाण मानने लगते हैं; परन्तु यह भी शास्त्रमूढ़ता है क्योंकि इससे सच्चे मार्गका निर्णय नहीं होता।

प्रश्न—शास्त्रोंको माननेके लिये अगर इस प्रकार तर्क-वितर्क किया जायगा तो शास्त्रोंको माननेकी आवश्यकता ही न रह जायगी, क्योंकि जो बातें हम जिस प्रमाणसे जाँचेंगे उसीसे हम स्वयं उन बातोंको मान लेंगे। हम शास्त्रोंकी परीक्षा तभी कर सकते हैं जब उसमें कही हुई बातोंकी परीक्षा कर सकें। ऐसी हालतमें हम वस्तु-तत्त्वके साथ ही निर्णयका सीधा सम्बन्ध क्यों न जोड़ें? बीचमें शास्त्रोंकी क्या आवश्यकता है? शास्त्रोंकी परीक्षा करनेवाला तो शास्त्रोंका निर्माण भी कर सकेगा? और जो निर्माण न कर सके वह परीक्षा भी नहीं कर सकता। इस तरह परीक्षकके लिये शास्त्र अनावश्यक है और अपरीक्षकको आप शास्त्रमूढ़ मानते हो, तब शास्त्र किसके लिये है?

उत्तर—यदि परीक्षा किये विना शास्त्रोंको माना जाय तो संसारमें सच्चे और झूठे सभी तरहके शास्त्र हैं, तब सभीको मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि अपना जन्म जिस सम्प्रदायमें हुआ हो उसे ही सच्चा मानना चाहिये तो भी मिथ्यासम्प्रदाय मानना पड़ेगा, क्योंकि मिथ्यासम्प्रदायमें भी तो लोगोंका जन्म होता है। दूसरी बात यह है कि सम्प्रदाय सच्चे होनेपर भी उनके सब शास्त्र सच्चे नहीं होते। हर-एक सम्प्रदायमें कुछ न कुछ सचाईका अंश होता है और बहुत-सा मिथ्यात्व भी होता है। अगर हम सच्चे और झूठे सभीको मानने लगेंगे तो अकल्याण कर बैठेंगे। इसलिये अपना सम्प्रदाय चाहे सच्चा हो चाहे झूठा; उसके शास्त्रोंकी परीक्षा करना तो आवश्यक ही रहेगा। 'शास्त्रकारमें जितनी योग्यता होती है उतनी ही परीक्षकमें भी होना चाहिये' यह नियम नहीं है। अगर हम स्वादिष्ट भोजन तैयार नहीं कर सकते तो इसका यह मतलब नहीं है कि हम उसके स्वादकी जाँच भी नहीं कर सकते हैं। गुरुत्वाकर्षणके सिद्धान्तकी खोज एक आदमीने की परन्तु उसकी जाँच तो हज़ारोंने की और जब उन्होंने उसे ठीक पाया तब माना। 'आविष्कारक या निर्माताके बराबर उसके कार्यकी जाँच करनेवालेमें भी बुद्धि होना चाहिये' यह नियम नहीं है। इस प्रकार शास्त्र अपरीक्षकोंके कामका नहीं है परन्तु ऐसे परीक्षकोंके कामका है जो स्वयं शास्त्र-निर्माता तो नहीं हैं किन्तु परीक्षक हैं।

प्रश्न—इस तरह परीक्षाको अगर महत्त्व दिया जाय तो दुनियाँका व्यवहार नष्ट हो जाय। हमें अपने मा-बापकी परीक्षा करके उन्हें मा-बाप मानना पड़ेगा। छोटे छोटे बालकोंमें मा-बापकी

जाँच करनेकी योग्यता कहाँसे हो सकती है, इसलिये वे किसीको मा-बाप कैसे कह सकेंगे ? इसके अतिरिक्त दुनियाँके सैकड़ों व्यवहार बिना परीक्षाके ही करना पड़ते हैं।

उत्तर–परीक्षाके विषयमें तीन बातें विचारणीय होती हैं:—

(क) वस्तुका मूल्य, (ख) परीक्षाकी सुसम्भवताकी मात्रा, (ग) परीक्षा न करनेसे लाभ-हानिकी मर्यादा।

(क) सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य वस्तुओंकी जाँच हम जितनी अधिक करते हैं उतनी भाजी-तरकारीकी जाँच नहीं करते। अधिक मूल्यवान वस्तुकी अधिक जाँच करना पड़ती है। धर्म अथवा शास्त्र बहुत मूल्यवान है। उनपर हमारा लोक, परलोक और स्थायी कल्याण निर्भर है, इसलिये उसकी जाँच सबसे अधिक और सदा करते रहना चाहिये। अन्य सैकड़ों बातोंकी उतनी परीक्षा आवश्यक नहीं है।

(ख) परीक्षा जितनी सुसम्भव हो उतनी ही करना चाहिये। बापकी जाँच करनेमें हमें पड़ौसी आदिके वचनोंपर ही विश्वास रखना पड़ता है और दूसरा कोई सरल उपाय हमारे पास नहीं है, जब कि शास्त्रकी परीक्षाके लिये विवेक-बुद्धिसे काम चल जाता है।

(ग) जिसे हम पिता-रूपमें मानते हैं और जो हमें पुत्र समझता है, सम्भव है, वह पिता न हो तो भी उससे कोई नुकसान नहीं है; इसलिये अधिक जाँचकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, जहाँ कोई विशेष झगड़ा उपस्थित होता है वहाँ माता-पिताकी भी जाँच की जाती है। यूरोपमें कई मुकद्दमे ऐसे हुए हैं जिनमें खूनकी जाँच करके यह निर्णय करना पड़ा है कि यह आदमी अमुक व्यक्तिकी सन्तान

है या नहीं ? परन्तु ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं, इसलिये यह परीक्षा हर-एकको नहीं करना पड़ती। परन्तु शास्त्रकी परीक्षा न की जाय तो हम मार्गभ्रष्ट हो जायँ। मार्गोकी अपेक्षा कुमार्गोकी संख्या इतनी अधिक है कि हम अगर इस विषयमें पूरी खबरदारी न रखें तो हमारा मनुष्यजीवन व्यर्थ चला जाय। और किसी बातसे इतनी बड़ी हानि नहीं हो सकती।

किसकी कितनी परीक्षा करना इस विषयमें तर-तमता हो सकती है, परन्तु परीक्षा सब जगह आवश्यक है। बालक भी मा-बापकी थोड़ी-बहुत परीक्षा करता ही है, अन्यथा वह हर-एक स्त्री-पुरुषको मा-बाप समझने लगे। प्रेम, आकृति, संसर्ग आदि चिन्होंसे आवश्यक परीक्षा हो जाती है। आवश्यकता पड़नेपर अधिक परीक्षा भी की जाती है।

बालक तथा अज्ञानी पुरुष अनेक बातोंमें परीक्षा नहीं कर पाते; इसका यह मतलब नहीं है कि परीक्षाकी उन्हें ज़रूरत नहीं है। किसीमें धनोपार्जनकी योग्यता न होनेसे उसे धन अनावश्यक नहीं हो जाता।

बालक हिताहितकी परीक्षाकी योग्यता न रखनेसे अप्राप्तव्यवहार (नाबालिग़) माने जाते हैं। नाबालिगोंमें उत्तरदायित्व नहीं होता इसलिये उन्हें अधिकार भी नहीं मिलता—वे सम्पत्तिके स्वामी भी नहीं माने जाते। इसी प्रकार जो अपरीक्षक हैं वे नाबालिग़ हैं, उनमें सम्यक्त्व नहीं होता, वे धर्मधनके वास्तविक स्वामी नहीं हो सकते हैं। बालक परीक्षाके विना काम करता है परन्तु वह हमारे लिये आदर्श नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यात्वियोंकी (अपरीक्षकोंकी) अप-

रीक्षकता हमारा आदर्श नहीं है । मिथ्यादृष्टि भले ही अपरीक्षक रहें परन्तु सम्यक्त्वीको तो परीक्षक होना ही चाहिये ।

प्रश्न—जिन शास्त्रोंकी कृपासे हमें ज्ञान मिला उन्हींकी परीक्षा करना एक तरहकी कृतघ्नता है । 'हमारी माता व्यभिचारिणी है या सती' इस प्रकारकी परीक्षाके समान सरस्वती माताकी परीक्षा करना निर्लज्जता है, माताका अपमान है ।

उत्तर—'दोषा वाच्या गुरोरपि' इस नीतिके अनुसार दोष तो गुरुके भी कहना चाहिये । शास्त्रमें अगर कोई दोष है तो उसका कहना बुरा नहीं है । प्रह्लाद आदिके कथानकोंसे यह बात सिद्ध है ।

दूसरी बात यह है कि 'कृतज्ञता' और 'कृतघ्नता' शब्दोंका व्यवहार एक प्राणीके दूसरे प्राणीके साथ होनेवाले व्यवहारपर निर्भर है । शास्त्र कोई प्राणी नहीं है जिसके प्रति कृतघ्नता कही जाय । दुःखका कारण होनेसे कृतघ्नता पाप है । शास्त्रमें दुःखकी संभावना ही नहीं है तब कृतघ्नता कैसी ? ऐसी वस्तुओंका जो उपयोग है उस उपयोगसे कृतघ्नता नहीं आती । एक अनाजका व्यापारी अनाजके व्यापारसे श्रीमान् बनता है और अनाजको खाता भी है । उससे यह नहीं कहा जा सकता कि जिस अनाजके बलपर वह श्रीमान् बना है उसीको खा जाता है, इसलिये कृतघ्न है ।

तीसरी बात यह है कि 'कृत'के बाद 'कृतज्ञता' या 'कृतघ्नता' होती है । अनाज जब खाया जाय तभी उसका उपकार है इसलिये उसको खा लेना ही कृतघ्नता नहीं कही जा सकती । शास्त्र सन्मार्ग दिखलाये, यही उसका उपकार है । अगर उसमें असत्य है, सन्मार्गप्रदर्शकता नहीं है तो उस असत्यको दूर करना कृतघ्नता नहीं है बल्कि उसकी

उपकारकताको बढ़ाना है। उपकारको भूल जाना कृतघ्नता है; उपकारकताको बढाना या रक्षित करना नहीं। जब उपकार ही नहीं तो उसका भूलना कैसा?

शास्त्रने अगर हमारा उपकार किया है तो उसके सच्चे अंशने उपकार किया है। परीक्षामें उसका असत्य अंश दूर किया जाता है। इसमें कृतघ्नता कैसी? बीमार माताने यदि हमारी सेवा की है तो हमें माताकी पूजा करना चाहिये, न कि उसकी बीमारीकी। इसी तरह विकृत शास्त्रने यदि हमारी भलाई की है तो हमें शास्त्रकी पूजा करना चाहिये न कि उसके विकारकी। माताकी बीमारीके समान शास्त्रके विकारकी चिकित्सा करना, कृतघ्नता नहीं, कृतज्ञता है।

परीक्षा, कृतघ्नताका परिणाम नहीं, प्रेम और भक्तिका परिणाम है। सुवर्णसे हम प्रेम करते हैं, इसलिये उसकी खूब परीक्षा करते हैं; उसमें कोई मैल न रह जाय इसलिये बार बार उसे अग्निमें डालते हैं। इसका अर्थ सुवर्णसे द्वेष नहीं है। इसी प्रकार शास्त्रकी परीक्षा भी उसके प्रेम और भक्तिकी सूचक है।

इन सब कारणोंसे शास्त्रोंकी परीक्षा करना आवश्यक है।

प्रश्न—यदि प्रत्येक सम्यग्दृष्टिको शास्त्रकी परीक्षा करना आवश्यक है तो सभी निसर्गज सम्यक्त्वी कहलायँगे। फिर सम्यक्त्वके निसर्गज और अधिगमज भेद क्यों किये गये?

उत्तर—सम्यक्त्व चाहे निसर्गसे हो चाहे अधिगम (परोपदेश) से, परीक्षाकी (अमूढदृष्टित्वकी) आवश्यकता दोनोंमें है। परन्तु एक तो कल्याणके मार्गको स्वयं खोजता है और जाँच करता है जब कि दूसरा कल्याणके मार्गको दूसरेके उपदेशसे जानता है, और

स्वयं परीक्षा करता है। इस प्रकार दोनों ही परीक्षक हैं और दोनोंमें अन्तर भी है।

सम्यग्दृष्टिमें देवमूढ़ता भी नहीं होती। तीर्थंकर अवतार आदि नामोंसे प्रसिद्ध महापुरुष तथा गुणोंके रूपक देव हैं। सम्यग्दृष्टि जीव न तो इनसे अनुचित आकांक्षा करता है न देवके नामपर भूत पिशाच आदिकी उपासना करता है। उसकी उपासनाका ध्येय किसी आदर्शको यथाशक्ति अपने जीवनमें उतारना होता है। देवोंके विषयमें भी वह किसी प्रकारके अन्धविश्वास को स्थान नहीं देता है कल्याणके मार्गमें जो हमसे आगे बढ़ा हुआ है वह गुरु है। दुःख-रूपी समुद्रको वह स्वयं पार करता है और दूसरोंको पार ले जाता है। गुरुका स्थान बहुत महत्वका है। वह जितना महत्वका है उतनी ही सावधानीसे उसका चुनाव करना पड़ता है। देवसे भी अधिक सावधानीकी यहाँ ज़रूरत है क्योंकि गुरु भी अन्य पुरुषोंकी तरह होता है। वह हमारे बीचमें रहता है। उसके असाधारण गुणोंको पहिचान जाना कठिन होता है। दूसरी बाधा यह है कि एक गुरुके स्थानमें हज़ारों कुगुरु और अगुरु, गुरुत्वका मिथ्या दावा करते हुए, आ जाते हैं। उनमें यदि हम सच्चे गुरुकी खोज न कर सकें तो अनर्थ हो जाता है।

गुरुकी जाँचके लिये सबसे पहिले वेषका आग्रह छोड़ देना चाहिये। वेषकी ओटमें अनेक निम्न श्रेणीके मनुष्य गुरुत्वके नाम-पर दुनियाँको ठगने लगते हैं। सच्चा गुरुत्व किसी भी वेषमें, यहाँ तक कि गृहस्थवेषमें भी, मिल सकता है।

जैन शास्त्रोंके अनुसार कूर्मापुत्र घरमें रहते हुए भी केवली हो

गये थे। केवली होनेके बाद भी वे बहुत समय तक घरमें रहे। इस लिये मुनिवेषमें हो या गृहस्थवेषमें, सब जगह गुरुत्व रह सकता है।

वेषका कुछ भी महत्त्व नहीं है। विवेकी गृहस्थ, मुनिसे अधिक पूज्य है और विवेकी मुनि गृहस्थसे अधिक पूज्य है। दोनों अगर विवेकी हों या दोनो अविवेकी हों तो कोई किसीसे पूज्य नहीं है। वेषैकान्तसे साम्प्रदायिक कट्टरता बढ़ती है। इससे उस वेषमें न रहने वाले सच्चे गुरुओंको हम छोड़ जाते हैं और स्वार्थके लिये वेषको अङ्गीकार करने वाले धूर्तों और मूर्खोंको हम गुरु समझ लेते हैं। उनके दुर्गुणोंका व्यक्त और अव्यक्तरूपमें हमारे ऊपर बुरा प्रभाव पड़ता है। सच्चे गुरुओंकी खोजके लिये, और कुगुरुओं तथा अगुरुओंको छुपनेका मौका न मिले इसके लिये, वेषका एकान्त छोड़ देना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि बहुतसे चालक आदमी बाह्य तपसे अपनी माया फैलाते हैं और भोले लोगोको धोखा देते हैं। कोई एक पैरसे खड़ा होता है, कोई सिरके बल खड़ा होता है, इसी प्रकार कोई बहुतसी आड़ी टेढ़ी आसने लगाता है परन्तु इससे कोई गुरू नहीं हो जाता। ऐसी आसनोंवाला आदमी सरकसके खेलकी तरह मनोविनोदकी वस्तु हो सकता है परन्तु गुरु नहीं हो सकता। जैनधर्ममें कायक्लेशको तप कहा है परन्तु बाह्य (बाहिरी, दिखावटी) तप कहा है। यह वास्तवमें तप नहीं है किन्तु, अन्तरंग तपमें सहायक होनेसे, उपचारसे तप है। अन्तरंग तपके बिना इससे किसीका महत्त्व नहीं बढ़ता। अन्तरंग तपके विना भी करोड़ों आदमी इस तपको कर

१ वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणाम्। गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ॥
अकुत्सिते वर्त्मनि यः प्रवर्तते। विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

सकते हैं, इसलिये इस तपका मूल्य और भी कम है। इसका साक्षात् फल यह है कि इससे कष्टसहिष्णुता बढ़ती है। परन्तु कष्टसहिष्णुता हमारी अपेक्षा पशुओंमें अधिक होती है फिर भी वे तपस्वी नहीं कहलाते। इसलिये बाह्य तपको भी गुरुत्वकी कसौटी न बनाना चाहिये।

ऐसी विद्याओंसे भी किसीको गुरु न मानना चाहिये जो मनुष्यका कुछ उपकार तो करती हैं परन्तु जीवनको कल्याणमार्गकी तरफ़ नहीं ले जातीं। ज्योतिष, वैद्यक तथा अर्थोपयोगी विद्याओंसे हम किसीको गुणी कहें; उससे अगर वह परोपकार करता हो तो उसे परोपकारी मानें। परन्तु उससे वह गुरु नहीं हो जाता। गुरुत्व तो उसके आत्मोत्कर्ष, कल्याणकर भावनाओं आदिपर निर्भर है।

प्रथम अध्यायमें जो कल्याणमार्ग बतलाया गया है उस मार्गमें जो हमसे आगे बढ़ा है वह गुरु है। उसमें भी तीन बातोंका विचार रखना चाहिये। कल्याणमार्गस्थ मनुष्य वह कार्य माया, मिथ्यात्व, और निदानके वश होकर तो नहीं कर रहा है? ये तीन शल्यें कहलाती हैं। इनका त्याग प्रत्येक धर्मात्मा या व्रती व्यक्तिको अवश्य करना चाहिये। इन शल्योंके त्यागके विना कोई व्रती या धर्मात्मा नहीं कहला सकता।

जो मनुष्य व्रतादि तो करता है परन्तु मायाचारसे करता है, अर्थात् मनसे व्रत तो नहीं करना चाहता किन्तु दूसरोंके सामने अपनेको व्रती साबित करना चाहता है, वह बाहरसे कितना भी व्रत करे वह व्रती नहीं कहला सकता। जो मिथ्यात्वी है उसकी क्रियाएँ भी निष्फल हैं। वह क्रियाके मर्मको ही नहीं समझता, सिर्फ देखा-

देखीसे क्रियाएँ करता है। उसका आत्मोत्कर्ष नहीं होता। जो निदान-वाला है वह भी कल्याणपथपर स्थिर नहीं है। आगामी विषयभोगोंकी लालसा रखना निदान है। जो विषयोंकी प्राप्तिके लिये विषयोंका त्याग कर रहा है, उसका त्याग सच्चा नहीं है। विषय अगर बुरी चीज है तो भविष्यके लिये उसकी इच्छा क्यों करना चाहिये? और विषय अगर अच्छी चीज़ है तो उसका अभी त्याग क्यों करना चाहिये? निदानमें जो विषयकी लालसा होती है उसमें उचित-अनुचित, न्याय्य-अन्याय्यका विचार नहीं रहता। कल्याणमार्गपर चलते हुए जो और जितने विषय भोगे जा सकते हैं वह कोई पाप नहीं हैं क्योंकि उनमें दूसरोंके सुखोंका विचार रहता है। परन्तु निदानमें यह विवेक नहीं होता। ऐसा निदानी वास्तवमें व्रती नहीं होता। इन तीन दोषोंसे रहित व्रती होता है। गुरुमें ये तीनों दोष न होना चाहिये। जिस मनुष्यको हम गुरु बनावें उसकी निःशल्यताका हमें निश्चय कर लेना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि जिसको हम गुरु बनाते हैं वह अगर हमसे कुछ अच्छा है तो गुरु है। यह ठीक है, परन्तु इस विषयमें दो बातोंका विचार करना चाहिये। पहिली बात तो यह कि अच्छा-पनका कारण बाह्य तप या वेष न मानना चाहिये। दूसरी बात यह कि जितना अच्छापन हो उतना ही अच्छा मानना चाहिये। नक़ली सोनेको नक़ली सोनेके भाव ख़रीदनेमें कुछ दोष नहीं है, परन्तु असली सोनेके भाव ख़रीदनेमें ठगाई है। उस जगह यह कहकर सन्तोष नहीं किया जा सकता कि चलो, पीतलसे तो अच्छा है! नक़ली सोना पीतलसे अच्छा है, इसलिये वह सोनेके भावका

नहीं हो सकता। हमसे अच्छा होनेपर वह हमसे अच्छा ही कह-लायगा, पूर्ण गुरु नहीं। बल्कि जो पूर्ण गुरु न होकर भी पूर्ण गुरुत्वका दावा करता है वह हमसे भी ख़राब है क्योंकि वह घोर मायाचारी है, जबकि हम मायाचारी नहीं हैं। इसलिये 'जो हमसे अच्छा वह हमारा गुरु' इस सूत्रको बहुत सम्हालकर विवेकके साथ काममें लेना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि जो दोष हममें हैं उनकी दूसरोंमें समालोचना करनेका हमें क्या हक़ है? यह ठीक है, परनिंदा और आत्मप्रशंसाकी दृष्टिसे हमें दूसरोंके दोषोंकी आलोचना करना ही न चाहिये, भले ही वे दोष हममें हों चाहे न हों। जो दोष हममें हैं वे दोष दूसरोंमें भी हों या कम हों परन्तु यदि वे धूर्ततासे अपनेको निर्दोष घोषित करके प्रपंचका जाल बिछा रहे हों तो, उससे बचनेके लिये तथा उस जालसे दूसरोंको बचानेके लिये, उनकी जाँच करना आवश्यक है। यदि ऐसा न करेंगे, तो गुरुकी परीक्षाका मार्ग ही बन्द हो जायगा क्योंकि जब हम गुरुके समान निर्दोष होनेपर ही गुरुकी जाँच कर सकेंगे, तब हमें गुरुकी आवश्यकता ही न रहेगी। जब आवश्यकता है तब हम जाँच न करेंगे तो दुनियाँके सभी हमारे गुरु हो जायँगे। इसलिये सुगुरु-कुगुरुकी परीक्षा हमें करना चाहिये। चोखे पैसेकी अपेक्षा खोटे रुपयेकी क़ीमत भले ही ज्यादः हो परन्तु हम चोखा पैसा ले लेते हैं और खोटा रुपया नहीं लेते क्योंकि खोटा रुपया हमारे सामने रुपया बनकर आता है, पैसा बनकर नहीं आता। इसी प्रकार कुगुरुका हमें त्याग करना चाहिये क्योंकि वह गुरु बनकर हमारे सामने आता है। वह यदि हमारी

तरह साधारण मनुष्य बनकर आवे तो कोई आपत्ति नहीं है । इस प्रकार विवेकसे काम लेकर सम्यग्दृष्टि गुरुमूढ़तासे बचता है ।

मूढ़ताओंके और भी बहुतसे भेद हो सकेंगे परन्तु सारांश यह है कि कल्याणपथमें साक्षात् या परम्परा-बाधा डालनेवाली कोई भी मूढ़ता सम्यग्दृष्टिमें नहीं होती । यही उसका अमूढ़दृष्टित्व अंग है ।

उपबृंहण या उपगूहन—अज्ञानियोंकी कृति आदिसे अगर सन्मार्गका निंदा होतीं हो तो उसे दूर करना, अर्थात् सन्मार्गको कलंकित न होने देना, और कल्याणमार्गमें स्थित पुरुषकी प्रशंसा करना, उपबृंहण या उपगूहन * अङ्ग है । जो विवेकी हैं वे तो अपने विवेकसे सन्मार्गकी खोज कर लेते हैं परन्तु साधारण जनतामें इतना विवेक नहीं होता । वह व्यक्तियोंसे धर्मका अच्छा बुरापन जानती है । अगर मैं जैन हूँ और मेरा आचरण बुरा है तो साधारण जनता मेरी बुराईको जैनधर्मकी बुराई समझ लेती है । धर्मपालकके आचरणका प्रभाव धर्मपर अर्थात् धर्मके नामपर पड़ता है । इसलिये सम्यग्दृष्टिका यह काम होता है कि वह धर्मकी निन्दाको दूर करनेका प्रयत्न करे, अथवा इस प्रकारकी धर्म-निन्दाको छुपा दे ।

धर्मकी निन्दाको छुपा देनेका यह अर्थ नहीं है कि वह झूठ बोलकर घटनाओंके अस्तित्वको छुपा दे । अगर किसी धर्मात्मा कहलानेवाले भाईसे कोई कलंकित करनेवाला काम हो गया है तो

* उपगूहन शब्द, गुह् संवरणे (ढँकना) धातुसे बना है । ' धर्मकी निन्दाको ढँक देना ' इसका अर्थ होता है । ' उप ' उपसर्ग लग जानेसे इसका अर्थ आलिंगन हो जाता है जैसे–'तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव ' रघु० १४–६३ । यह आलिंगन अर्थ भी ठीक है क्योंकि अज्ञानियोंके द्वारा ज्यों ज्यों धर्मकी निन्दा होती है त्यों त्यों सम्यग्दृष्टि उसका अधिक अधिक आलिंगन करता है ।

वह उसे स्वीकार कर लेगा। धर्मनिन्दाके भयसे वह साक्षात् अधर्म (मिथ्या बोलना) न करेगा। परन्तु उसकी प्रतिक्रियाके लिये स्वय ऐसा सद्व्यवहार करेगा कि दूसरेके हृदयमें सन्मार्गके विषयमें जो निन्दाका भाव हो गया था वह छुप जाय। धर्मात्मापनकी ओटमें एक मनुष्यने जो अधर्माचरण किया है उसकी प्रतिक्रिया सम्यग्दृष्टि आत्मोन्नति करके, परोपकार करके, करता है। इस प्रकार अपने गुणोंकी वृद्धिके कारण इस अङ्गका नाम **उपबृंहण*** है।

कोई भारतीय मनुष्य विदेशोंमें जाकर कोई ऐसा बुरा काम करे, जिससे विदेशी लोगोंके मनमें भारतसे घृणा पैदा होती हो, तो दूसरा भारतीय यदि इसके प्रतीकारके लिये ऐसा अच्छा सद्व्यवहार करे कि जिससे विदेशियोंके हृदयमें भारतपर श्रद्धा उत्पन्न हो तो यह राष्ट्रीय

---

* 'बृहि' वृद्धौ धातुसे 'उप' उपसर्गपूर्वक 'उपबृंहण' शब्द बनता है, जिसका अर्थ वृद्धि या तरक्की हो जाता है। धर्मनिन्दाकी प्रातीक्रियाके लिये सम्यग्दृष्टि धर्मकी विशेष वृद्धि करता है इसलिये इसको 'उपबृंहण' कहते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें यही नाम प्रचलित है यथा—निस्संकिय निक्कंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढद्दडीय। उववूह थिरीकरणें वच्छल्ल पभावणे अट्ठ॥ 'पडिकमणा'। 'उववूह'का संस्कृत रूप 'उपबृंह्' होता है। 'उववूह'का अर्थ वृद्धि करना पोषण करना आदि है। इसमें पाप छिपाया नहीं जाता, किन्तु गुणकी इसलिये प्रशंसा की जाती है कि उस गुणको उत्तेजन मिले। वास्तवमें इस अंगका यही अर्थ होना चाहिये। 'उपबृंहण' शब्द इसके लिये बहुत उपयुक्त और दोनों सम्प्रदायोंको मान्य है। दिगंबर सम्प्रदायमें 'उपगूहन' शब्द कैसे आया, इस विषयमें अभी कुछ नहीं कह सकता। जैनियोंका मूलसाहित्य प्राकृतमें था और जब वह संस्कृतमें आया तो वर्णविकारके अनेक नियमोंके कारण मूल शब्दोंके अनेक रूप बन गये। प्राकृतके एक शब्दके स्थानमें संस्कृतमें अनेक शब्द आये हैं। कुछ परिवर्तन ठीक हुए, कुछ बेठीक हुए।

उपगूहन या उपबृंहण कहलायगा। ठीक इसी तरहसे कल्याणमार्गका उपबृंहण या उपगूहन करना चाहिये।

साम्प्रदायिकता तथा अन्धश्रद्धाके कारण बहुतसे लोग उपगूहन अंगका दुरुपयोग या दुरर्थ करते हैं। वे निन्दनीय कार्योंको छुपानेको उपगूहन कहते हैं। परन्तु इसका फल बहुत भयङ्कर और उल्टा होता है। इससे उपबृंहण तो बिलकुल नहीं होता किन्तु असत्यभाषण और मायाचारसे अधःपतन होता है। साथ ही दुराचारकी वृद्धि होती है क्योंकि बहुतसे धूर्तलोग इस आशासे वेषकी ओटमें अनाचार करते रहते हैं कि उनके दोष समाजकी तरफसे छुपाये जावेंगे। इस प्रकार वे निर्भय होकर अनाचारका ताण्डव करते हैं। इसलिये उपगूहन अंगमें पापको छुपानेकी जरूरत नहीं है किन्तु उसके प्रतीकारकी जरूरत है।

दुराचारियोंके, धर्मकी ओटमें होनेवाले, पापोंको छुपानेका एक दुष्परिणाम यह होता है कि लोग निश्चितरूपमें धर्मकी निन्दा करने लगते हैं। यदि हम पापको न छुपावें और खुल्लमखुल्ला उसकी निंदा करें या विरोध करें तो लोग यही कहेंगे कि इन लोगोंमें पापी तो हैं परन्तु वहाँ उनकी गुजर नहीं है। इनका समाज विवेकी है। परन्तु यदि हम पापको छुपावेंगे तो इसका अर्थ यह होगा कि यह समाज पापीका पक्ष लेती है इसलिये इसकी बातका कुछ विश्वास नहीं करना चाहिये।

पहिले समयमें इस बातका पूरा खयाल रक्खा जाता था कि धर्मकी ओटमें कोई पापी पाप न करने पावे। ग्यारह अंगके ज्ञाता भव्यसेनमुनिका एक श्रावकने इसलिये खूब तिरस्कार किया था कि उनका

आचरण ठीक नहीं था। पंडितप्रवर बनारसीदासजी मुनिवेषियोंके पीछे ही पड़े रहते थे और ढोंगियोंका अच्छी तरह तिरस्कार करते थे। इसके अतिरिक्त और भी बहुत-सी कथाएँ जैनसाहित्यमें मिलेंगी जिनमें दुराचारियोंके दुराचार छुपाये नहीं गये हैं किन्तु खुल्लमखुल्ला उनका विरोध किया गया है। दम्भियोंके दम्भको दृढ़ बनानेके काममें उपगूहन अंग नहीं आ सकता।

हाँ, असदाचरण भी दो प्रकारका होता है। एक तो दम्भसे धृष्टतापूर्ण, दूसरा कमजोरीसे दीनतापूर्ण। एक मनुष्य पाप करता है और जो उसे पापको छोड़नेकी बात कहता है उसकी निंदा करता है; पापको न स्वीकार करता है, न त्याग करता है और धृष्टतापूर्वक निष्पापोंको गालियाँ देता है, दम्भका जाल बिछाये रहता है। वह पहिले नम्बरका दुराचारी है। उसका भण्डाफोड़ करना ही उचित है। इसके लिये यही उपगूहन है क्योंकि इससे धर्म और समाज कलंकसे बच जाती है।

दूसरे नम्बरका असदाचार वह है जो कमजोरीसे होता है। उसमें दम्भ या धृष्टता नहीं आती, किन्तु वह दीनतापूर्वक अपने अपराधको स्वीकार करता है और भविष्यके लिये निष्पाप रहनेका वचन देता है। उदाहरणार्थ राजा श्रेणिकने अपने राजमहलमें एक ऐसी आर्यिकाको आश्रय दिया था जो व्यभिचारसे दूषित हो चुकी थी और जिसके एक मुनिसे गर्भ रह गया था। श्रेणिकने पुत्र-जन्म होनेके बाद उसे फिर आर्यिकाओंके पास भेज दिया और आर्यिका बना-दिया। पुत्रको राजा श्रेणिकने पाल लिया। ऐसी घटनाओंको प्रकाशित करनेकी ज़रूरत नहीं है। हाँ, अगर वे प्रकाशित हो जायँ तो

भले ही हो जायँ; उसके लिये धृष्टतापूर्वक झूठ नहीं बोलना चाहिये बल्कि सत्यका परिचय देकर दृढ़ता बतलाकर इस प्रकारका सद्व्यवहार करना चाहिये जिससे उपबृंहण (धर्मवृद्धि) हो।

यह धर्मवृद्धि (उपबृंहण) धर्मनिन्दा बचानेके लिये थी इसलिये एक समय इसका नाम उपगूहन प्रचलित * था। परन्तु धर्मनिन्दाके बचानेके लिये लोगोंने उपबृंहण छोड़ दिया और पापियोंके पापको छुपानेका ढंग पकड़ लिया। इसको लोग जब उपगूहन समझने लगे तब समाज-संशोधकोंका काम कठिन हो गया और ढोंगियोंको अपने पापी जीवनको सुरक्षित रखनेके लिये अच्छी ओट मिल गई। इस प्रकार उपगूहनके इस रूपने जब उपगूहनका सर्वनाश करना शुरू कर दिया तब आचार्योंने उपगूहन शब्दको गौण बनाया और उपबृंहणको मुख्यता दी। समन्तभद्र और वट्टकेर आदिके ग्रंथोंमें इस अंगका नाम उपगूहन ही मिलता है परन्तु बहुतसे + लेखकोंने इसका नाम

---

* चारित्रप्राभृतमें जो आठ अंगोंके नाम लिये गये हैं उसमें इस अंगका नाम उपगूहन ही रक्खा गया है—

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठीय।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावण य ते अट्ठ ॥७॥

समंतभद्रने भी इसका नाम उपगूहन लिखा है—

स्वयंशुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्।
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम् ॥ रत्नकरंड श्रा०

अज्ञानी या कमजोर (न कि दम्भी–ज्ञानपापी) व्यक्तियोंके संबंधसे यदि पवित्रमार्गकी निंदा होती हो तो उसे दूर करना उपगूहन है।

+ पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धिमें इसका नाम 'उपबृंहण' लिखा है। अकलंकने राजवार्तिकमें 'उपबृंहण' नाम दिया है और लक्षण किया है 'उत्तमक्षमादिभावनया धर्मवृद्धिकरणमुपबृंहणं' अर्थात् उत्तमक्षमादिकी वृद्धिसे धर्मवृद्धि

उपबृंहण स्वीकार किया है। इसका स्पष्ट अभिप्राय यही था कि धर्मको निन्दासे बचानेके लिये दोषाच्छादनकी बात छोड़ दी जाय और इसका अर्थ सिर्फ़ आत्मोत्कर्ष किया जाय। हाँ, स्पष्टताके लिये किसी किसी आचार्यने दोनों नामोंका समन्वयात्मक उल्लेख × या संकेत किया है, जिसका मतलब यही है कि उपगूहनके साथ उपबृंहण होना ही चाहिये। इस अङ्गके पालनके लिये निम्नलिखित बातोंका ख़याल रखना चाहिये—

(क) सन्मार्गकी निन्दाका अगर किसीसे कार्य हो जाय तो

करना उपबृंहण है। चारित्रसारमें भी ऐसे ही शब्दोंमें इस अंगकी परिभाषा लिखी गई है और नाम भी उपबृंहण दिया गया है। पञ्चाध्यायी और लाटी-संहितामें भी उपबृंहण नाम है। उसका लक्षण किया है—

उपबृंहणमत्रास्ति गुणः सम्यग्दृगात्मनः।
लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥

अर्थात् आत्मशक्तियोंका बढ़ाना उपबृंहण है जो कि सम्यग्दृष्टिका एक गुण है।

× धर्मोभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥ २७ ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय।

निरभिमानता आदिकी भावनाओंसे धर्मकी वृद्धि करना चाहिये और उस वृद्धिके लिये दूसरेके दोषोंको ढँकना चाहिये।

इस श्लोकमें उपगूहन और उपबृंहणका संकेत है। परन्तु इसमें विशेष बात यह है कि उपगूहनके लिये उपबृंहण नहीं है किन्तु उपबृंहणके लिये उपगूहन है। इसका अर्थ यह हुआ कि दोषाच्छादन धर्मोन्नतिका कारण होना चाहिये। ईर्षा-द्वेषसे किसीके दोष प्रगट करना, भूलचूकसे किसीसे कोई अपराध हो गया हो और वह उसका पश्चात्ताप करता हो फिर भी दोष प्रकट करना, आदि ठीक नहीं हैं। ऐसी जगहपर उपगूहन ही उपयुक्त है।

सकलकीर्तिके धर्मप्रश्नोत्तरमें भी दोनों नाम मिलते हैं।

उसके प्रतीकारके लिये स्वयं कोई ऐसा अच्छा कार्य करना जिससे वह ढँक जाय अर्थात् उसका उपगूहन हो जाय। (यह सबसे अच्छा और व्यापक मार्ग है।)

(ख) सन्मार्गमें स्थित पुरुषोंकी प्रशंसा करना।

(ग) अगर कोई दम्भी, स्वार्थी, धोखेबाज़ मनुष्य ऐसा काम करे जिससे सन्मार्गकी निन्दा हो तो उसका भंडाफोड़ कर देना चाहिये और उसके कार्योंका स्पष्ट विरोध करके यह घोषित करना चाहिये कि उसके कार्योंका हमारे समाजसे कोई सम्बन्ध नहीं है। साथ ही उपबृंहणके लिये स्वयं कुछ अच्छा काम करना चाहिये।

(घ) अगर किसीसे भूलसे ऐसा काम हो जाय और वह उसका प्रायश्चित्त या प्रतिक्रमण करनेको तैयार हो तो उसके दोषोंको प्रकाशित करनेका यत्न न करे, न छुपानेके लिये झूठ बोले। उसकी ग़लती सुधारे और स्वयं उपबृंहण करे।

यह अंग अपनेको कल्याणमार्गमें आगे बढ़ानेवाला, दूसरोंको असन्मार्गसे बचानेवाला तथा सन्मार्गमें बढ़ानेवाला, सन्मार्गका वास्तविक भान करानेवाला और धर्मकी सफलताको प्रकाशित करनेवाला है।

स्थितिकरण—अगर कोई मनुष्य कल्याणके मार्गसे गिर रहा हो तो उसे उस मार्गमें स्थिर करना स्थितिकरण है।

आपत्ति और प्रलोभनोंसे मनुष्य धर्मसे गिरता है। आपत्तिमें उसे मदद करना और उसकी सहनशीलताको बढ़ाना, प्रलोभन आनेपर प्रलोभनोंकी निःसारता बतलाना तथा प्रलोभनोंको

विजय करके अपना आदर्श दूसरोंके सामने रखना आदि स्थिति-करणके उपाय हैं ।

प्रथम अध्यायमें परप्राणिकृत दुःखोंका वर्णन किया गया है। सदाचारके नियम उन दुःखोंको दूर करनेके लिये हैं। सम्यक्त्व और चारित्र तो हर-एक प्रकारके दुःखोंको दूर करनेके लिये हैं। परन्तु साधक-अवस्थामें मनुष्य आपत्ति और प्रलोभनोंके कारण यदि इस मार्गसे गिरने लगता है, तो उसे सहारा देना सम्यग्दृष्टिका कार्य है। संसारमें जितने सदाचारी मनुष्य होंगे, सुखकी वृद्धि उतनी ही अधिक होगी। सदाचारी सुखके साधनोंकी लूट नहीं चाहता किन्तु उनका विभाजन करता है। सुखके साधनोंकी लूट मचानेवाला ही दुराचारी या असंयमी है। इन असंयमियोंकी संख्या बढ़ने न पावे, अर्थात् संयमियोंकी संख्या घटने न पावे, सम्यग्दृष्टि इसके लिये उद्योगशील रहता है। यही उसका स्थितिकरण है।

जीवनके अनुभव कभी कभी इतने कडुवे होते हैं कि बहुतसे मनुष्य कल्याणमार्गसे लौट आते हैं। एक सदाचारी मनुष्य विश्वप्रेम-का पुजारी है; वह अन्याय और अत्याचारसे दूर रहता है फिर भी लोग उसपर अत्याचार करते हैं अथवा उसे जीवनकी आवश्यक सामग्री भी नहीं मिलती अथवा अनेक स्वार्थी असंयमी लोग आदर, सत्कार, यश आदिमें आगे बढ़ जाते हैं। यह देखकर उसका हृदय चलवि-चल होने लगता है। उस समय उसका स्थितिकरण करना चाहिये। उसकी दुरवस्थाका क्या कारण है, सच्चा सुख क्या है आदि बातें उसे समझाना चाहिये; अपना आदर्श उसके सामने रखना चाहिये।

साधारण मनुष्य चर्म चक्षुओंसे ही जगत्को देखा करता है।

उसकी दृष्टिमें एक मुनिवेषी अमुनि भी मुनि है, सदाचारका ढोंग करनेवाला दुराचारी भी सदाचारी है। साधारण मनुष्यकी इस अज्ञानतासे कुछ दम्भी लोग स्वार्थका पोषण कर लेते हैं तो इससे 'हमें भी दम्भ करना चाहिये' यह विचार ठीक नहीं है क्योंकि दम्भका परिणाम अंतमें बुरा ही है, उससे समाजमें सुखकी वृद्धि नहीं होती। जनता दम्भीको दम्भी समझकर नहीं पूजती, वह अज्ञानसे दम्भीको पहिचान नहीं पाती है। ऐसी अवस्थामें जनता दयापात्र है। हमें उसकी चिकित्सा करना चाहिये, उसके घातकोंकी टोलीमें न मिल जाना चाहिये।

असंयम आदिकी तरफ़ गिरते हुए मनुष्यको उपर्युक्त ढङ्गसे समझाना चाहिये तथा तदनुसार आचरण करके उसको धैर्य बँधाना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसकी आपत्तिको दूर करनेकी कोशिश करना चाहिये।

कभी कभी अनुचित बन्धनोंके कारण या उसके ऊपर ज़बर्दस्ती अधिक बोझ लाद देनेके कारण मनुष्यका पतन होता है। ऐसी अवस्थामें उसके बन्धनको तोड़ देना या ढीला कर देना भी स्थिति-करण है। एक आदमी उपवास नहीं कर सकता किन्तु ज़बर्दस्ती उससे उपवास कराया जाता है। फल यह होता है कि वह चोरीसे खाता ह अथवा चोरीसे खानेका विचार करता है अथवा धर्मसे घृणा करने लगता है। ऐसे आदमीको उपवास न करनेकी छूट दे देना भी स्थितिकरण है। एक स्त्री विधवा हो जानेके बाद पूर्ण ब्रह्मचर्यसे नहीं रह सकती और यदि सामजिक नियम या और कोई दबाव उसको ज़बर्दस्ती ब्रह्मचर्य पालनेको विवश करता है तो उसे पुनर्विवाहकी छूट

दे देना स्थितिकरण है, क्योंकि ऐसा करके हम व्यभिचारके कुमार्गसे उसे रोकते हैं। इस प्रकार और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

हाँ, जो छूट किसीको दी जाय वह ऐसी न हो कि दूसरोंके न्यायोचित अधिकारोंमें बाधा डालती हो। कोई अगर उपवास नहीं करता अथवा कोई अपना पुनर्विवाह करता है तो यह बात ऐसी नहीं है कि जिससे दूसरोंके न्यायोचित अधिकारोंमें बाधा पड़ती हो।

स्थितिकरणके लिये मुख्य मुख्य कर्तव्य ये हैं—

१—कल्याणमार्गका रहस्य समझकर गिरते हुए मनुष्यके हृदयको दृढ़ बनाना।

२—अपनी दृढ़ताका परिचय देकर उसे दृढ़ बनाना।

३—उसकी आपत्तिको दूर करना।

४—जिस कार्यसे किसी दूसरेके न्यायोचित अधिकारोंका भंग न होता हो उस कार्यके त्यागके लिये किसीको विवश न करना।

५—अगर कोई चौथे नियमका भंग करके किसीको विवश कर रहा हो, बहिष्कार आदिसे उसे सता रहा हो, तो पीड़कका विरोध करना और पीड़ितका साथ देना।

६—संयमीका (किसी सम्प्रदायका वेषधारी नहीं) अधिक आदर, सत्कार, प्रेम, सहायता, करना, उसका सच्चा यश फैलाना। यह आदमी संयमी है या असंयमी, अगर इस बातका निर्णय न हो सकता हो तो जितना अंश उसमें संयमका मालूम हो उतने ही अंशकी भक्ति-प्रशंसा करना—असंयम अंशकी नहीं। किसी धनवान-का हमें सिर्फ इसी लिये अधिक आदर न करना चाहिये कि वह धनवान है परन्तु इसलिये करना चाहिये कि उसने धन न्यायसे

पैदा किया है और जगत्कल्याणके मार्गमें खर्च कर रहा है। इसी प्रकार किसी विद्वान्का इसीलिये आदर न करना चाहिये कि वह विद्वान् है किन्तु इसलिये करना चाहिये कि वह विद्वत्ताका सपदुपयोग, अर्थात् कल्याणमार्गमें उपयोग, करता है। इसी प्रकार किसी तपस्वी-की इसीलिये प्रशंसा न करना चाहिये कि वह तपस्वी है किन्तु इस-लिये करना चाहिये कि उसका लक्ष्य विश्वकल्याणका है। यही बात कलाकार, वैज्ञानिक, डॉक्टर आदि सबके विषयमें कही जा सकती है।

प्रश्न—श्रीमान्, विद्वान्, तपस्वी आदिकी अमुक दृष्टिसे प्रशंसा करना और अमुक दृष्टिसे प्रशंसा न करना इससे स्थितिकरण-अंग-का क्या सम्बन्ध है? किसीकी प्रशंसा-अप्रशंसासे कोई गिरता हुआ मनुष्य कैसे सम्हल सकता है?

उत्तर—धर्म सुखके लिये है। विश्वकल्याणकी भावनाके बिना न हम सुखी हो सकते हैं न जगत्को सुखी कर सकते हैं। जितने अधिक प्राणी ऐसी भावनावाले होंगे हम सब उतने ही अधिक सुखी होंगे। धर्मप्रचारके लिये, अर्थात् सुखकी वृद्धिके लिये, ऐसे मनुष्योंकी संख्या बढ़ाना चाहिये। अब अगर हम विश्वकल्याणकी भावनाका विचार नहीं करते किन्तु धन, विद्या, कला आदिको महत्त्व देते हैं तो इसका फल यह होता है कि लोग कल्याणमार्गपर उपेक्षा करके धन, विद्या, तप आदिके पीछे पड़ जाते हैं। जो कल्याणमार्गपर जा सकते हैं वे नहीं जाते, जो जा रहे हैं वे लौट आते हैं। अगर हम लोगोंको कल्याणमार्गमें ले आना चाहते हैं, और जानेवालोंको लौटाना नहीं चाहते हैं, तो हमारी दृष्टिमें, हमारे व्यवहारमें, कल्याणमार्गको

तथा उसके साधक सम्पत्ति, विद्या, कला आदिको ही महत्ता प्राप्त होना चाहिये न कि उसके बाधक तप-धनादिको।

प्रत्येक मनुष्य महान् बनना चाहता है। अगर तुम श्रीमान्‌को महान् मानते हो तो जैसे बनेगा वैसे लोग श्रीमान् बननेकी कोशिश करेंगे और इस प्रलोभनमें पड़कर कल्याणमार्गसे भ्रष्ट होंगे। उनके स्थितिकरणके लिये किसे महान् मानना, किसे न मानना, इसका विवेक अत्यावश्यक है।

स्थितिकरणके लिये, आपत्ति और प्रलोभनोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये, अपनी पूरी शक्ति तो लगाना ही चाहिये किन्तु इतनेसे ही स्थितिकरणका पालन नहीं होता। आपत्ति और प्रलोभन, खास कर प्रलोभन, (क्योंकि आपत्तिकी अपेक्षा प्रलोभनसे बहुत मनुष्य भ्रष्ट होते हैं—आपत्तिविजयकी अपेक्षा प्रलोभन-विजय कठिन है।) पैदा न होने पावें इसके लिये पूर्ण उद्योग करना स्थितिकरणके लिये आवश्यक है।

वात्सल्य अंग—कल्याणमार्गमें स्थित प्राणियोंसे कुटुम्बीसरीखा प्रेम करना वात्सल्य-अंग है। जो परोपकारको कर्तव्य समझता है, समष्टिगत उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करता है, कष्ट-सहिष्णु है, वह मनुष्य जगद्बन्धु है। उसके साथ बन्धुता रखना प्रत्येक प्राणीका कर्तव्य है। फिर सम्यग्दृष्टि इस कर्तव्यसे कैसे चूक सकता है?

सम्यग्दृष्टि माता, पिता, पत्नी, पुत्र, आदि कुटुम्बियोंके प्रति कर्तव्यका पालन करता है परन्तु इस प्रकारकी कुटुम्बबुद्धि वह लौकिक उत्तरदायित्व पूर्ण करनेके लिये ही रखता है; अन्यथा उसकी दृष्टिमें

तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' (समस्त जगत् कुटुम्ब है ।) की भावना ही रहती है ।

एक कुटुम्बके मनुष्योंमें गुण, स्वभाव आदिकी कुछ समानता पाई जाती है । कल्याणमार्ग सम्यग्दृष्टिका स्वभाव बन जाता है इस लिये वही उसके लिये कुटुम्बीपनकी शर्त हो जाती है । वह किसी जातिमें, किसी देशमें, किसी सम्प्रदायमें, क़ैद नहीं होता। जो कल्याण-मार्गपर चलता है, वही उसका कुटुम्बी है । लौकिक कुटुम्बियोंकी अपेक्षा वह उनसे अधिक प्रेम करता है । इस प्रकारके प्रेमसे कल्याणमार्गका प्रचार होता है, धर्म और सुखका सम्बन्ध निकट और स्पष्ट बनता है ।

प्रश्न—'कल्याणमार्गियोंसे प्रेम करना' इसका अर्थ ही दूसरोंसे प्रेम न करना है, परन्तु यह तो एक प्रकारकी सङ्कुचितता है । यह भी एक प्रकारका जातिभेद है । सम्यग्दृष्टिमें अगर इतनी भी उदारता नहीं आई तो क्या आया ?

उत्तर—मनुष्यजातिमें ऐसे भेदोंकी कल्पना न करना चाहिये जो अमिट हों । राष्ट्रीय तथा जातीय भेद, जिनका सम्बन्ध जन्मसे है, नष्ट कर देना चाहिये क्योंकि इससे समाजके, जीवन-भरके लिये, टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं । परन्तु सज्जन-दुर्जन, परोपकारी-स्वार्थी आदि भेद जीवनव्यापी और अमिट नहीं हैं । कल्याणमार्गको, जो कि जगत्के कल्याणके लिये अनिवार्य है, ग्रहण करनेका प्रत्येकको अधिकार है; भले ही वह स्त्री हो या पुरुष, मनुष्य हो या पशु, आर्य हो या अनार्य । 'समभाव'का मतलब अपने स्वार्थको जगत्के स्वार्थमें मिला देना है, सज्जनता और दुर्जनतामें अभेद करना

नहीं। अन्यथा वह अविवेक हो जायगा। सदाचारीसे वात्सल्य रखना सदाचारसे वात्सल्य रखना है। यह वात्सल्य व्यक्तिगत नहीं किन्तु गुणगत है। गुणगत वात्सल्य विवेकका फल है जब कि व्यक्तिगत वात्सल्य मोहका फल है।

प्रश्न—फिर भी यह साम्प्रदायिकताका पोषक तो है ही।

उत्तर—नहीं, जगत्की सेवा करना, दया रखना, सत्य बोलना आदि कल्याणमार्गके जितने अंग हैं वे किसी सम्प्रदायकी मौरूसी सम्पत्ति नहीं हैं। सभी सम्प्रदायोंमें ये सब अंग पाये जा सकते हैं। सम्यग्दृष्टिके वात्सल्यकी पात्रता, किसी सम्प्रदायमें नहीं किन्तु, अहिंसा सत्यादिमें रहती है। वह जैन, बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त, ईसाई, मुसलमान आदि किसी सम्प्रदायमें या दिगम्बर-श्वेताम्बर, हीनयान-महायान, रामानुज-वल्लभ, प्रोटेस्टेन्ट-रोमनकैथॉलिक, शिया-सुन्नी आदि किसी उपसम्प्रदायमें अपने वात्सल्यको कैद नहीं करती।

प्रश्न—सम्प्रदायोंमें कैद न रहना भी तो एक सम्प्रदाय है।

उत्तर—जिस प्रकार अनेकान्त भी एक एकान्त है, अवक्तव्य भी 'अवक्तव्य' शब्दसे वक्तव्य है, उसी प्रकार 'असम्प्रदाय' भी एक सम्प्रदाय कहा जा सकता है। सम्प्रदाय कोई बुरी वस्तु नहीं है, किन्तु सम्प्रदायमें जो एकान्त-दृष्टि है वह बुरी है। साम्प्रदायिकतासे मनुष्य दूसरोंको सिर्फ इसीलिये बुरा कहने लगता है कि वे दूसरे हैं और अपनी हर-एक बातको सिर्फ इसीलिये अच्छा कहने लगता है कि वह अपनी है। यह साम्प्रदायिकताका विष है। यह विष निकल जानेपर जो अवशिष्ट सम्प्रदायांश है वह बुरा नहीं है। साम्प्रदायिकताके विष आनेपर 'असम्प्रदाय' नामका सम्प्रदाय भी भयङ्कर हो

सकता है और साम्प्रदायिकताके विष न होने पर कोई सम्प्रदाय बुरा नहीं होता। हाँ, सम्प्रदायका व्यावहारिक रूप जितना विशाल रहे उतना ही अच्छा है।

प्रश्न—जैनशास्त्रोंमें वात्सल्यका जो लक्षण लिखा है वह साम्प्रदायिक है। समन्तभद्र आदिका लक्षण भी संकुचित है।

उत्तर—समन्तभद्रने कहा है कि अपने यूथके * लोगोंसे निष्कपट प्रेम करना वात्सल्य है। यूथ अर्थात् समूह अनेक तरहके होते हैं। सत्यवादियोंका, ब्रह्मचारियोंका, भी यूथ होता है, गुणोंको लेकर भी यूथ शब्दका व्यवहार है। सम्यग्दृष्टिके लिए, जो कि कल्याणमार्गी है, जगत्के सभी कल्याणमार्गी अपने यूथके हैं। इसलिये समन्तभद्रके लक्षणमें यूथ शब्द सम्प्रदायपोषक नहीं है। दूसरी बात यह है कि अगर किसी वाक्यका कल्याणकारी और अकल्याणकारी दोनों तरहका अर्थ निकलता हो तो उसमें कल्याणकारी अर्थात् समुचित अर्थ + लेना चाहिये। मतलब यह है कि हमें शब्दोंका गुलाम नहीं, किन्तु शब्द जिस सत्यके लिये हैं उस सत्यका गुलाम, होना चाहिये। तीसरी बात यह है कि जब कोई भी धर्म सम्प्रदायका रूप धारण कर लेता है तब उसकी सारी परिभाषाएँ धार्मिकरूप छोड़कर साम्प्रदायिकरूप धारण कर लेती हैं। परन्तु विवेकी ऐसी परिभाषाओंके विकृत अंशको दूर करके तथ्यांशको ग्रहण

---

* स्वयूथ्यान्प्रति सद्भावसनाथाऽपेतकैतवा।
प्रतिपत्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते। रत्नकरण्ड श्रा०।

\+ अत्थगईअ उ तेसिं वियंजणं जाणओ कुणइ। सन्मतिप्रकरण २—१८।
अर्थात् ज्ञाता पुरुष अर्थकी संगतिके अनुसार सूत्रकी व्याख्या करता है।

करता है। समन्तभद्रकी परिभाषामें तो ऐसा विकृत अंश है नहीं, परंतु अगर ऐसी विकृत परिभाषाएँ मिल जायँ तो उन्हें जैनधर्मकी परिभाषाएँ न समझकर साम्प्रदायिक कालकी विकृत परिभाषाएँ मानना चाहिये।

प्रश्न—वात्सल्यका स्वरूप ठीक ठीक समझमें आ जानेपर भी यह अंग अनुचित माळूम होता है। सम्यग्दृष्टिका तो जगत् कुटुम्ब है। वह धर्मात्माओंपर जिस प्रकार प्रेम करता है उसी प्रकार पापियों-पर दया करता है। प्रेम जैसे वात्सल्य है वैसे दया भी वात्सल्य है।

उत्तर—प्रेम और दयासे वात्सल्यमें कुछ अन्तर है। वात्सल्य प्रेम और दयाका कुछ सघन रूप है। हम प्राणिमात्रपर दया और प्रेम करें तो उसका व्यावहारिकरूप कुछ उथला होगा, जब कि वात्सल्यका रूप सघन होता है। अगर हम किसी नगरमें घूमने निकलें तो हम हर-एक आदमीसे कुशल-समाचार पूछते हुए न जायँगे किन्तु अगर मार्गमें हमारा कोई निकट-सम्बन्धी मिलेगा तो दो मिनिट खड़े होकर उससे बात अवश्य कर लेंगे। साधारण प्राणीके साथ जो हमारा प्रेम है और निकटसम्बन्धीके साथ जो हमारा प्रेम है, उसका अन्तर हमें ऐसे अवसरपर स्पष्ट माळूम होगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको, विश्वके प्राणिमात्रसे प्रेम होनेपर भी, कल्याणमार्गके पथिक जगद्धितैषियोंसे प्रेम अधिक होगा। स्वाभाविक अवस्थामें सबके साथ एक-सा प्रेम होना चाहिये, परन्तु जो मनुष्य कल्याणकी जितनी अधिक वृद्धि करता है उसके विषयमें हमारा प्रेम उतना ही अधिक बढ़ना चाहिये। मतलब यह कि साधारण मनुष्यके प्रति हमारा जितना कर्तव्य है परोपकारीके प्रति उससे उतना ही अधिक है। इस प्रकारके धार्मिक वात्सल्यसे हम लोगोंको, धार्मिक बननेके लिये,

उत्तेजना देते हैं और धार्मिकोंका उत्साह बढ़ाते हैं; उन्हें धर्ममार्गमें स्थिर रखते हैं तथा उनके विशेष संसर्गसे स्वयं बहुत-सा लाभ उठाते हैं।

धार्मिकोंसे प्रेम करनेका यह मतलब नहीं है कि दूसरोंसे द्वेष किया जाय। अगर हम रुपयेसे प्रेम करते हैं तो इसका यह अर्थ नहीं है कि पैसेसे द्वेष करते हैं। प्रेम सबसे है, परन्तु वह योग्यताके अनुसार है। और वह योग्यता भी, धन, विद्या, शारीरिक बल आदिकी नहीं किन्तु, कल्याणमार्गकी पथिकताकी है। यह वात्सल्य कल्याणवर्द्धक होनेसे गुण है, उपादेय है।

प्रभावना अंग—कल्याणमार्गका जगत्‌में प्रचार करना, उसका महत्व बढ़ाना, प्रभावना अंग है। यद्यपि धर्मसे सबका कल्याण है, फिर भी मनुष्य स्वार्थमें इतना तल्लीन रहता है कि वह दूरदर्शिताको छोड़-कर धर्मको भूल जाता है। धन-सम्पत्तिके महत्त्वमें ही वह अपना महत्त्व समझता है तथा इसी चिह्नसे वह दूसरेका महत्त्व भी मापता है। परंतु मनुष्यकी इस स्वार्थपूर्ण दृष्टिकी तुच्छता बतलाना और उदार दृष्टिकी महत्ता बतलाना प्रभावना-अंगका लक्ष्य है।

प्रभावनाके सैकड़ों तरीके हैं। अपने अपने समयके लिये सब अनुकूल हैं और परिस्थितिके बदल जानेपर वे प्रतिकूल हो जाते हैं। इसलिये प्रभावनाके किसी रूपपर नहीं किंतु उसके लक्ष्यपर दृष्टि रख कर प्रभावनाका पालन करना चाहिये। लोगोंके हृदयमें धर्मके विषयमें आदर हो, उसके पालन करनेकी इच्छा पैदा हो, वे उससे अपना कल्याण समझें; इसके लिये जो सफल प्रयत्न किया जायगा वह प्रभा-वना कहलायगा

एक मनुष्य सम्पत्ति और अधिकारको प्राप्त करके महान बनता है, जब कि दूसरा मनुष्य जगतकी सेवा करके महान बनता है। दूसरी तरहकी महत्ता स्वपरहितकारी होनेसे प्रभावनाके योग्य है। इसीलिये लोग राजाओंकी अपेक्षा महात्माओंकी पूजा अधिक करते हैं और महात्माओंकी पूजा तो उनके मरनेके बाद भी करते रहते हैं। इसका मतलब यह है कि वे श्रीमानों और अधिकारियोंको यह बतलाना चाहते हैं कि जगत्सेवक महात्माओंके सामने तुम्हारी महत्ताका कुछ मूल्य नहीं है। इसलिये इसे प्रभावना कहना चाहिये। परन्तु जब इस प्रकारकी प्रभावनामें श्रीमान लोग भी शामिल होने लगे और उसमें, प्रच्छन्न या अप्रच्छन्नरूपमें, महात्माओंकी महत्ताके बहाने उनकी महत्ताका प्रदर्शन होने लगा,—सम्पत्ति और अधिकारके समान प्रभावना भी महत्ताको दिखलानेका एक द्वार बन गई, तब वह वास्तविक प्रभावना न रही। ऐसी प्रभावनाको देखकर लोगोंके हृदयमें किसी महात्माके विषयमें आदर नहीं होता किन्तु प्रभावकोंके वैभवको देखकर ईर्ष्या पैदा होती है। ऐसी अवस्थामें वह प्रभावना नहीं कही जा सकती। जिस प्रभावनामें ऐसा विष मिल जाय वह विषमिश्रित दुग्धके समान त्याज्य है।

जिस प्रभावनामें साम्प्रदायिक विष मिल जाय वह प्रभावना भी त्याज्य हो जाती है। किसी महात्माको इसलिये पूजना कि उसने हमारा उपकार किया है एक बात है, और इसलिये पूजना कि उसने जगत्का उपकार किया है दूसरी बात है। पहिली पूजा कृतज्ञतासूचक है, दूसरी प्रभावनासूचक है। दोनों ही अच्छी हैं परन्तु दोनोंको अपने स्थानपर ही रहना चाहिये। कृतज्ञता अगर प्रभावना समझी

जाने लगे तो उससे हानि है। जब हम किसी महात्माको अपना समझकर पूजते हैं तो उसे हमें कृतज्ञता कहना चाहिये न कि प्रभा-वना। अगर हम उसे प्रभावना बनाना चाहते हैं तो हमें उस महात्माके उपयुक्त स्थानका विचार करना पड़ेगा और दूसरे सम्प्रदायके महात्माओंका भी यथोचित आदर करना पड़ेगा। मतलब यह कि इस प्रकारकी प्रभावना करनेवाला मनुष्य सच्चा प्रभावक तभी हो सकता है जब कि वह, स्वकीयत्वका पूजक नहीं किन्तु, गुणका पूजक हो। प्रभावना धर्मकी करनी चाहिये, न कि सम्प्रदायकी। अपने सम्प्रदायकी प्रभावना करना तो अपनी प्रभावना करना है। वह दूसरोंके लिये ईर्ष्याका कारण और अपने अभिमानका फल है। जिस प्रकार चंदनमें लगी होनेपर भी आग ठंडी नहीं होती, उसी प्रकार धार्मिकताकी ओटमें छुपा हुआ अभिमान भी कल्याणकर नहीं होता। साम्प्रदायिक प्रभावना इस अभिमानकी पोषक होनेसे कल्याणकर नहीं है।

सच्ची प्रभावना तो अपने जीवनको, सदाचार और जगत्सेवाके साथ, सुखी बनाकर दूसरोंके हृदयपर सदाचारादिकी दृढ़ छाप मारना है। सदाचारादि-गुणविशिष्ट लोगोंका आदर, सत्कार आदि करके दूसरोंपर उसका प्रभाव डालना व्यावहारिक प्रभावना है।

मनुष्य, धर्मके विषयमें, बहुत अज्ञानी है। पंडित होकरके भी मनुष्य अज्ञानी रहता है, क्योंकि वह कर्तव्य-अकर्तव्यका विवेक नहीं कर पाता। इस अज्ञानको दूर हटाना, जिस प्रकार बने उस प्रकार उसे कल्याणका मार्ग दिखलाना, और उसकी खूबियाँ उसे समझाना, प्रभावना है। इसलिये इस प्रकारके साहित्यका प्रचार करना भी प्रभावना है। सन्मार्गके प्रचारमें तन-मन-धनसे हर तरह सहायता करना भी प्रभावना है।

कर्तव्याकर्तव्यकी बहुत-सी गुत्थियाँ केवल चर्चासे नहीं सुलझतीं अथवा सुलझती भी हैं तो लोग विश्वास नहीं करते। इसलिये, कथनके अनुसार, अपने जीवनको आदर्श बनाना बहुत बड़ी भारी प्रभावना है। जो अपने जीवनको सफल बनाकर बतला जाते हैं वे संसारके बड़े भारी प्रभावक हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं। ये अंग सुखी रहनेकी कला सिखाते हैं तथा संसारमें सुखकी वृद्धि भी करते हैं, इसलिये कल्याणमार्गके अंग हैं।

सम्यक्त्वका स्वरूप अनिर्वचनीय होनेपर भी उसकी तरफ़ अनेक प्रकारसे संकेत किया जा सकता है। इसलिये यहाँपर हमने कुछ स्पष्टतासे कथन किया है। सम्यग्दर्शनको हम दर्शनाचारसे ही ठीक ठीक जान सकते हैं इसलिये सम्यक्त्वके निर्णयके लिये यहाँ दर्शनाचारका निरूपण किया जाता है।

प्रश्न—साधारण जैन-जनता यह समझती है कि सच्चे देव-शास्त्र-गुरुका विश्वास करना सम्यग्दर्शन है परन्तु आपने सम्यग्दर्शनके इस विस्तृत विवेचनमें देव-शास्त्र-गुरुका नाम भी न लिया! क्या सम्यग्दृष्टिको सच्चे देव-शास्त्र-गुरुकी आवश्यकता नहीं होती?

उत्तर—देव-शास्त्र-गुरुका विश्वास सम्यग्दर्शनका परम्परा-कारण है; परंतु उसे निश्चय या व्यवहार सम्यग्दर्शन नहीं कह सकते। देव-शास्त्र-गुरुके विश्वाससे कल्याणमार्गके प्राप्त होनेकी आशा रहती है, इसलिये देव-शास्त्र-गुरुपर विश्वास करना भी उचित है; फिर भी उसको इतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता। अमूढदृष्टि-अंगके विवेचनमें इसका कुछ विवेचन कर दिया गया है।

सम्यग्दृष्टि किसी व्यक्ति-विशेषको देव नहीं मानता। वास्तवमें जो

कल्याणमार्गकी सीमापर पहुँचा हुआ है, वही देव है। वह किसी व्यक्ति-विशेषको देव माने या न माने, परन्तु वह अपना आदर्श समझता है। उस आदर्शपर कौन व्यक्ति पहुँचा है इस बातका निर्णय न होनेपर भी वह देवपर विश्वास करता है। देवत्वपर विश्वास करना ही देवपर विश्वास करना है।

जिन व्यक्तियोंको हम देव या महापुरुष कहते हैं उनका वास्तविक इतिहास उपलब्ध नहीं है। जो कुछ इतिहास उपलब्ध है वह उनका लौकिक प्रभाव है और उसमें भी अतिशयोक्तिपूर्ण कल्पित वर्णन बहुत है। जिन घटनाओंसे किसी महापुरुषका महत्त्व जाना जाता है उन घटनाओंका स्पष्ट विवेचन मिल नहीं सकता और न उन घटनाओंको साधारण जनता महत्त्व देती है। वह अलौकिक बातोंको महत्त्व देती है परन्तु देवत्वका उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं होता।

महात्माओंके अतिशयोक्तिपूर्ण विवेचनोंका एक कारण तो यह है कि लोगोंकी रुचि ही इस तरहकी होती है। दूसरा कारण यह है कि भविष्यमें साधारण लोग भी देवत्वका दावा न करने लगें इसलिये अलौकिक अतिशयोंकी असंभव शर्त लगा दी जाती है। इसीलिये २४ आदि संख्या भी निश्चित कर दी जाती है जिससे अगर कोई भविष्यमें तीर्थङ्कर होनेका दावा करे तो यह कहकर उसे दूर कर दिया जाय कि अब २५ वाँ हो नहीं सकता आदि। इन सब कारणोंसे किसी महात्माका ठीक ठीक चरित्र मिलना कठिन हो जाता है। इसलिये सम्यग्दृष्टि 'देवत्व क्या है' इस बातका निर्णय कर लेता है। 'कौन व्यक्ति देव था और कौन नहीं था,' यह प्रश्न ऐतिहासिक है, न कि धार्मिक। धार्मिक दृष्टिसे तो देवत्वके निर्णयकी आवश्यकता है न कि देवकी, और यह काम कल्याणमार्गके निर्णयसे हो जाता है।

जो देवत्वकी ओर बढ़ रहे हैं, अथवा कल्याणमार्गमें हमसे आगे हैं, वे गुरु हैं। कल्याणमार्गको बतलानेवाले वचन शास्त्र हैं। शास्त्र किसी खास पुस्तकका नाम नहीं है, न उसका सम्बन्ध किसी सम्प्रदायसे है। इन सब बातोंका संक्षिप्त विवेचन अमूढ़दृष्टि अंगके विवेचनमें आ गया है।

प्रश्न—'तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है' इस प्रचलित परिभाषापर भी आपने उपेक्षा क्यों की?

उत्तर—सात तत्त्वोंका विवेचन दार्शनिक क्षेत्रकी चर्चा है। तत्त्वार्थश्रद्धान-रूप लक्षणसे चित्त दार्शनिक क्षेत्रकी तरफ चला जाता है। परन्तु दर्शन और धर्ममें बहुत अन्तर है। कल्याणमार्ग-पर श्रद्धा कर लेनेपर सात तत्त्वोंपर श्रद्धाकी आवश्यकता नहीं रहती और कल्याणमार्गपर श्रद्धा न करनेपर सात तत्त्वोंके जाननेसे भी सम्यक्त्व नहीं होता। जैनधर्मके अनुसार सात तत्त्वोंका उपदेश तीर्थङ्करोंने दिया है, परन्तु जब यहाँ कोई तीर्थङ्कर नहीं हुआ था तब भी सम्यग्दृष्टि तो थे ही। कुलकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि * थे। पशु भी सम्यग्दृष्टि होते हैं। इन सबको सात तत्त्वोंका पंडित मानना केवल क्लिष्ट कल्पना है अथवा जातिस्मरण, अवधिज्ञान आदिसे इन्हें तत्त्वज्ञ मानना भी अस्वाभाविक है। हाँ, सात तत्त्वके प्रचलित विवेचनको न जानकर भी या विश्वास न करके भी सम्यग्दृष्टिमें सात तत्त्वकी सामान्य मान्यता होना आवश्यक है।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है, इसलिये उसे 'सुख' (=मोक्ष)पर विश्वास करना आवश्यक है। इसके लिये 'दु:खके कारणोंको रोक देने'

---

* वरदाणदो विदेहे बद्धणराऊ य खइयसंदिट्ठी
इह खत्तियकुलजादा केइजाइब्भराओही ॥ ७९४ ॥ —तिलोयसार।

(=संवर) और 'संचित कारणोंको दूर करने' (=निर्जरा) पर विश्वास करना भी आवश्यक है। परन्तु 'संवर' तब तक नहीं किया जा सकता, —दुःखके कारणोंको तब तक दूर नहीं किया जा सकता,—जब तक यह न मालूम हो कि दुःखकारण आते कैसे हैं—'आस्रव' कैसे होता है। इसी प्रकार 'निर्जरा' तब तक नहीं की जा सकती जब तक यह न मालूम हो कि हम किसी परदुःखके जालमें बँधे कैसे हैं—अर्थात् 'बंध' क्या है। प्रारम्भके 'जीव' और 'अजीव' अर्थात् 'स्व' और 'पर' तत्त्व तो आवश्यक हैं ही, क्योंकि जब तक 'अपने'को न जाने और 'अपने' साथ कौनसा विकार लगा हुआ है यह बात न जाने तब तक अन्य पाँच तत्त्वोंका जानना भी नहीं हो सकता। इस प्रकार सामान्य सात तत्त्वोंपर वह विश्वास करता है। परन्तु इनका जो दार्शनिक और सूक्ष्म विवेचन है उसपर विश्वास करना अनिवार्य नहीं है क्योंकि उसपर विश्वास किये विना भी कल्याणमार्गपर विश्वास किया जा सकता है। उदाहरणार्थ अजीवके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच भेद किये गये हैं। इनके बदलेमें अगर कोई चार (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश), तीन (पुद्गल, धर्म, अधर्म), दो (पुद्गल, धर्म) या एक (पुद्गल) ही माने तो क्या हानि है? इसी प्रकार आस्रव, बन्ध आदिके निरूपणमें कोई कर्मोंके आठ भेद करे और कोई इससे कम-ज्यादह; अथवा कोई गोत्रको न माने तो इसमें क्या हानि है? दार्शनिक विवेचन बुरा नहीं है परन्तु वह सम्यक्त्वकी अनिवार्य शर्त नहीं है। इसीलिये यहाँपर सम्यक्त्वके स्वरूपमें सात तत्त्व आदिका नाम नहीं लिया गया है।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि सम्यग्दर्शन अनिर्वचनीय है। परन्तु उसके प्राप्त होनेपर उसका ज्ञान और चरित्र कैसा हो जाता है उसी-

का यहाँपर कुछ विवेचन किया गया है। सम्यग्दर्शनके होनेपर सम्यग्ज्ञान और थोड़ा बहुत सम्यक्चारित्र भी हो जाता है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमें, प्राणकी तरह काम करता है। इसके न होनेपर ज्ञान-चारित्र मृतकके समान हैं।

सम्यग्दर्शनका दूसरा नाम सम्यक्त्व भी है जिसका अर्थ 'सचाई' है। ज्ञान और चारित्रमें जो सचाई है अर्थात् कल्याणकारकता है वही सम्यक्त्व है। सचाईके बिना ज्ञान-चारित्रका कुछ मूल्य नहीं है। सचाईसे वे सब मूल्यवान् हैं। समन्तभद्रने सम्यक्त्वके विषयमें बहुत ही अच्छा कहा है कि—

सम्यक्त्वके बिना ज्ञान और चारित्र (सच्चे) न पैदा हो सकते हैं, न रह सकते हैं, न बढ़ सकते हैं, न फल दे सकते हैं; जिस प्रकार कि बीजके अभावमें वृक्ष न पैदा हो सकता है, न ठहर सकता है, न बढ़ सकता है, न फल दे सकता है।

सच पूछा जाय तो सम्यक्त्वकी पूर्तिके लिये ज्ञान और चारित्र हैं। इसीलिये साधारण सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा अरहंतके सम्यग्दर्शनको उत्कृष्ट कहा है। इससे मालूम होता है कि ज्ञान और चारित्रसे सम्यक्त्वकी वृद्धि होती है और पूर्णज्ञान और पूर्णचरित्र होने पर सम्यक्त्व भी पूर्ण होता है। उस समय उसे 'परमावगाढ़ सम्यक्त्व' कहते हैं। परन्तु स्पष्टताके लिये उसका विवेचन अलग नाम देकर किया जाता है इसलिये यहाँ भी किया गया है।

१—विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाऽभावे तरोरिव ॥

अनुरोध

कोई भी सम्प्रदाय जब स्थापित होता है तब वह समाजकी किसी न किसी भलाईके लिए होता है। मानव-जीवनकी समस्याएँ सब समय और सब जगह एक-सी नहीं होतीं इसलिये उनकी चिकित्सारूप धर्म भी एकसे नहीं होते। अपने अपने देश-कालके लिये सब ठीक हैं। सभी सत्यके एक एक अंश या रूप हैं। उनमें विरोध समझना भूल है। अगर हम इस प्रकारकी उदारता और सचाईके साथ प्रत्येक धर्मकी मीमांसा करें तो हम भगवान् सत्यकी सेवाके साथ भगवती अहिंसाकी भी सेवा कर सकेंगे; साम्प्रदायिक कलह तथा द्वेष-वासनाको नष्ट करके शान्तिलाभ कर सकेंगे।

दूसरे धर्मकी आलोचना हम जिस कठोरताके साथ करते हैं और उस समय युक्ति तथा निःपक्षपातकी जितनी दुहाई देते हैं उतनी अगर अपने धर्मकी आलोचनाके समय की जाय तो भी साम्प्रदायिकताके मदका भूत उतर जाय।

इस प्रकार सम्प्रदायिक निःपक्षता आनेपर आप जीवनके लिये उपयोगी तत्त्व सभी धर्मोंसे ग्रहण कर सकते हैं। साधारण रूपसे तो उपयोगी तत्त्व सभीको अपने अपने धर्ममें मिल सकते हैं परन्तु परिस्थितिके अनुसार विशेष विवेचन अगर अन्यत्र मिल रहा हो तो वहाँसे लेनेमें हिचकनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। जो तत्त्व अपने लिये हितकारी है वह कहींसे मिले, उसे ग्रहण करनेमें लज्जित होने या अपनेको अपमानित समझनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

इस अवस्थामें पहुँचनेपर आप देखेंगे कि सर्व-धर्म-समभाव, सर्व-जाति-समभाव, समाजसुधारकता, विवेक आदि गुण आपमें आगये हैं। मनुष्यके लिये इन गुणोंकी सदा आवश्यकता है। इनको व्यवहार्य-रूप देनेमें अवश्य ही कठिनाइयाँ हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेसे समाजके विरुद्ध चलकर इन सिद्धान्तोंको अमलमें लानेसे हिचकता है; इसी लिये सत्य-समाजकी स्थापना की गई है। आप हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी, आर्यसमाजी, सिक्ख आदि किसी भी सम्प्रदायमें रहिये, परन्तु अपने हृदयको उदार और निःपक्ष बनाइये, समाजसुधारके बड़ेसे बड़े कामके लिये तैयार रहिये। बस,

इतनेसे आप सत्यसमाजके सदस्य बन सकेंगे। सत्य-समाजकी नियमावली पढ़िये, धर्ममीमांसा प्रथम भाग (मूल्य ।)) पढ़कर सत्य-समाजकी विशेष रूप-रेखाको समझिये, ' सत्यसंदेश ' के ग्राहक बनकर अनेक तरहकी स्वतंत्र-विचारधाराओंका रसास्वादन कीजिये।

हमारा सामाजिक जीवन इतना विकृत हो गया है कि वहाँ क्रान्तिकी आवश्यकता है। उसके लिये संगठित होकर आगे बढ़िये।

दरबारीलाल सत्यभक्त